

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

डॉ. अविनाश कुमार सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर

राजनीति विज्ञान विभाग

महात्मा गॉंधी काशी विद्यापीठ,

डॉ. विभूतिनारायण सिंह परिसर

गंगापुर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश



कनक प्रकाशन

प्रयागराज (उ.प्र.)- 221508

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन

© लेखक

प्रथम संस्करण : 2019

ISBN 978-93-89457-22-3

मूल्य : 1000 रुपये

कनक प्रकाशन

ब्रांच ऑफिस : एल-9ए, गली नं. 42, सादतपुर एक्सटेंशन, दिल्ली-110094

हेड ऑफिस : मकान नं. 43, बल्दहॉ, सैदाबाद, प्रयागराज (उ.प्र.), 221508

मोबाइल : 8750728055, 8368613868, E-mail: kanakprakashan@gmail.com

मुद्रक : आर्यन प्रिन्टर्स, दिल्ली ।

प्रस्तावना

राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत राजनीति, स्वतंत्रता, न्याय, सम्पत्ति, अधिकार, कानून तथा सत्ता द्वारा कानून को लागू करने आदि विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है। ये क्या हैं, उनकी आवश्यकता क्यों हैं, कौन सी वस्तु सरकार को वैध बनाती है, किन अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है, विधि क्या है, किसी वैध सरकार के प्रति नागरिकों के क्या कर्तव्य हैं, कब किसी सरकार को उकाड़ फेंकना वैध है आदि।

प्राचीन काल में सारा व्यवस्थित चिन्तन दर्शन के अंतर्गत होता था, अतः सारी विद्याएं दर्शन के विचार क्षेत्र में आती थी। राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीति के भिन्न भिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। राजनीति का संबंध मनुष्यों के सार्वजनिक जीवन से है। परम्परागत अध्ययन में चिन्तन मूलक पद्धति की प्रधानता थी जिसमें सभी तत्वों का निरीक्षण तो नहीं किया जाता है, परन्तु तर्क शक्ति के आधार पर उसके सारे संभावित पक्षों, परस्पर संबंधों प्रभावों और परिणामों पर विचार किया जाता है।

राजनीतिक सिद्धान्त को कभी-कभी राजनीतिक चिन्तन के पर्याय के रूप में देखा जाता है, लेकिन यह समझ लेना जरूरी है कि उनका अर्थ आवश्यक रूप से एक ही नहीं होता। राजनीतिक चिन्तन एक सामान्यीकृत मुहावरा है, जिसमें राज्य तथा राज्य से संबंधित प्रश्नों पर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह या समुदाय के सभी चिन्तनों, सिद्धान्तों और मूल्यों का समावेश होता है। जब कोई व्यक्ति-चाहे

वह प्रोफेसर, पत्रकार, लेखक, कवि, उपन्यासकार आदि जो भी हो या बेशक वह राजनीतिज्ञ ही हो-ऐसे विचार व्यक्त करता है जिनका हमारे जीवन से सरोकार है और जो विचार राज्य और शासन तथा इनसे संबंधित प्रश्नों के बारे में हैं तब वह वस्तुतः राजनीतिक चिंतन कर रहा होता है। उसके विचारों में सिद्धान्त का समावेश हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। उन विचारों में तब कोई सिद्धान्त निहित नहीं होगा जब उन में राज्य और शासन आदि के राजनीतिक नियम से संबंधित ऐतिहासिक तथा राजनीतिक संघटना की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गई कोई व्यवस्थित और तर्कसम्मत प्राक्कल्पना न हो। इस प्रकार राजनीतिक चिंतन हमेशा किसी व्यक्ति या समूह का राजनीति-विषयक सामान्य विचार होता है, जबकि राजनीतिक सिद्धान्त अपने-आप में पूर्ण और अपने बल-बूते खड़ी ऐसी व्याख्या या विचार अथवा सिद्धान्त होता है जिसमें प्रश्नों के उत्तर देने, इतिहास की व्याख्या करने और भविष्य की संभावित घटनाओं के बारे में पूर्वानुमान लगाने का प्रयत्न किया जाता है। बेशक, यह सिद्धान्त हमेशा किसी एक चिंतक व्यक्ति की सृष्टि होता है। बार्कर ने कहा था कि राजनीतिक चिंतन किसी पूरे युग का अंतर्वर्ती दर्शन होता है, लेकिन राजनीतिक सिद्धान्त किसी एक व्यक्ति का चिंतन होता है।

दर्शन में सत्य और ज्ञान की खोज में किसी भी विषय पर किए गए समस्त चिंतन का समावेश है। जब वह खोज राजनीतिक विषयों पर होती है तब उसे हम राजनीतिक दर्शन कहते हैं। इसलिए जरूरी नहीं कि उसमें कोई सिद्धान्त प्रस्तावित किया जाए और राजनीतिक दर्शन तथा राजनीतिक सिद्धान्त में यही अंतर है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन का हिस्सा है, लेकिन राजनीतिक दर्शन अधिकांशतः काफी अधिक व्यापक होता है और आवश्यक नहीं कि उसमें कोई सिद्धान्त शामिल हो।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में कुछ लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है जिनके लेखकों व प्रकाशकों के प्रति मैं विनम्र आभार प्रकट करता हूँ। आशा है, पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ. अविनाश कुमार सिंह

अनुक्रम

<i>प्रस्तावना</i>	v
1. प्लेटो	1
2. अरस्तू	23
3. सिसरो	77
4. सन्त ऑगस्टाइन	79
5. सन्त थॉमस एक्वीनास	87
6. दांते एलीगियरी	104
7. निकोलो मैकियावैली	112
8. जीन बोदॉ	128
9. ह्यूगो ग्रोशियस	135
10. थॉमस हॉब्स	142
11. जॉन लॉक	156
12. रूसो	162
13. मॉण्टेस्क्यू	171
14. एडमण्ड बर्क	181
15. जेरमी बेंथम	189
16. जॉन स्टुअर्ट मिल	202
17. हरबर्ट स्पेन्सर	211

18. इमेनुअल काण्ट	222
19. जार्ज विल्हेल्स फ्रेडरिक हीगल (1770-1831)	231
20. थॉमस हिल ग्रीन	246
21. बर्नार्ड बोसांके	266
22. मार्क्स	274
23. व्लादिमीर लेनिन	299
24. मैकडुगल	324
25. ग्राह्म वालास	331
26. हेरोल्ड जोसेफ लॉस्की	335
27. जी. डी. एच. कोल	344
28. बर्ट्रेण्ड रसेल	350
29. जीन पॉल सार्त्र	353
30. हर्बर्ट मारकूजे	359
31. माइकल ऑकशॉट	365
32. क्लाद् लेवी-स्ट्रॉस	368
33. राष्ट्रवाद	371
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची	391

1

प्लेटो

महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो का जन्म 427 ई. पूर्व में एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनके पिता अरिस्टोन एथेन्स के अन्तिम राजा कोर्डस के वंशज तथा माता पेरिकतिओन यूनान के सोलन घराने से थी। प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्तोकलीज था, उसके अच्छे स्वास्थ्य के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने इसका नाम प्लाटोन रख दिया। प्लेटो शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है तथा प्लातोन शब्द का अर्थ चौड़ा-चपटा होता है। धीरे-धीरे प्लातोन के स्थान पर प्लेटो कहा जाने लगा। वह आरम्भ से ही राजनीतिज्ञ बनना चाहता था लेकिन उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका और वह एक महान् दार्शनिक बन गया।

प्लेटो के जन्म के समय एथेन्स यूनान का महानतम राज्य था। लेकिन लगातार 30 वर्षों तक स्पार्टा और पलीपोनेशिया के साथ युद्ध ने एथेन्स की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। 404 ई. पू. में एक क्रान्ति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर तीस निरंकुशों का शासन स्थापित हुआ। प्लेटो को शासन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया लेकिन उसने शासन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। शीघ्र ही दूसरी क्रान्ति द्वारा एथेन्स में तीस निरंकुशों के स्थान पर पुनः प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। लेकिन इस शासन के दौरान सुकरात की मृत्यु ने उसके दिल में प्रजातन्त्र के प्रति घृणा पैदा कर दी।

वह 18 या 20 वर्ष की आयु में सुकरात की ओर आकर्षित हुआ। यद्यपि प्लेटो तथा सुकरात में कुछ विभिन्नताएँ थीं लेकिन सुकरात की शिक्षाओं ने इसे अधिक

आकर्षित किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य बन गया। सुकरात के विचारों से प्रेरित होकर ही प्लेटो ने राजनीति की नैतिक व्याख्या की, सद्गुण को ज्ञान माना, शासन कला को उच्चतम कला की संज्ञा दी और विवेक पर बल दिया। 399 ई० पू० में सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु 28 वर्ष थी। इस घटना से परेशान होकर वह राजनीति से विरक्त होकर एक दार्शनिक बन गए। उसने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में सुकरात के सत्य तथा न्याय को उचित ठहराने का प्रयास किया है। यह उसके जीवन का ध्येय बन गया। वह सुकरात को प्राणदण्ड दिया जाने पर एथेन्स छोड़कर मेगरा में चला गया। क्योंकि वह लोकतन्त्र से घृणा करने लग गया था। मेगरा जाने पर 12 वर्ष का इतिहास अज्ञात है। लोगों का विचार है कि इस दौरान वह इटली, यूनान और मिस्र आदि देशों में घूमता रहा। वह पाइथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 387 ई० पू० में इटली और सिसली गया। सिसली के राज्य सिराक्यूज में उसकी भेंट दियोन तथा वहाँ के राजा डायोनिसियस प्रथम से हुई। उसके डायोनिसियस से कुछ बातों पर मतभेद हो गए और उसे दास के रूप में इजारन टापू पर भेज दिया गया। उसे इसके एक मित्र ने वापिस एथेन्स पहुँचाने में उसकी मदद की।

प्लेटो ने 386 ई. पू. में इजारन टापू से वापिस लौटकर अपने शिष्यों की मदद से एथेन्स में अकादमी खोली जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। उसने जीवन के शेष 40 वर्ष अध्ययन-अध्यापन कार्य में व्यतीत किए। प्लेटो की इस अकादमी के कारण एथेन्स यूनान का ही नहीं बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन गया। उसकी अकादमी में गणित और ज्यामिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। उसकी अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह वाक्य लिखा था- "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।" यहाँ पर राजनीतिज्ञ, कानूनवेत्ता और दार्शनिक शासक बनने की भी शिक्षा दी जाती थी।

डायोनिसियस प्रथम की मृत्यु के बाद 367 ई. पू. डायोनिसियस द्वितीय सिराक्यूज का राजा बना। अपने मित्र दियोन के कहने पर वह वहाँ जाकर राजा को दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने लग गया। इस दौरान राजा के चाटुकारों ने दियोन के खिलाफ बोलकर उसे देश निकाला दिलवा दिया और उसकी सम्पत्ति व पत्नी जब्त कर ली। इससे नाराज प्लेटो एथेन्स वापिस चला गया। 361 ई. पू. में डायोनिसियस ने उसे दोबारा सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया, परन्तु वह वहाँ आने को तैयार नहीं था, लेकिन तारेन्तय के दार्शनिक शासक की प्रेरणा से वह वहाँ आकर डायोनिसियस को दर्शनशास्त्र का ज्ञान देने लग गया। लेकिन दोबारा डायोनिसियस

व प्लेटो में सैद्धांतिक बातों पर मतभेद हो गए और वह वापिस एथेन्स आ गया। इससे उसकी आदर्शवादिता को गहरा आघात पहुँचा और वह व्यावहारिकता की ओर मुड़कर 'The Laws' नामक ग्रन्थ लिखने लग गया। अपने किसी शिष्य के आग्रह पर वह एक विवाह समारोह में शामिल हुआ और वहीं पर सोते समय 81 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी।

1. न्याय का सिद्धांत

ग्रीक राजनीतिक चिंतन के इतिहास में प्लेटो एक उच्चकोटि के आदर्शवादी राजनीतिक विचारक तथा नैतिकता के एक महान पुजारी थे। प्लेटो की न्याय धारणा में एथेन्स की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों जिनमें लोकतंत्र के नाम पर धनिकतंत्र का प्रभाव एवं शक्ति राजनीति की उथल-पुथल की गम्भीर समस्याओं का आदर्शवादी समाधान है।

चूँकि सुकरात की मृत्यु से प्लेटो का हृदय लोकतंत्र से भर गया था। अतः अपनी न्याय धारणा के आधार पर प्लेटो एक ऐसे शासनतंत्र की कल्पना करने लगा, जिसका संचालन श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा होता हो। न्याय क्या है ? यह प्लेटो की मुख्य समस्या रही है और इसी समस्या के समाधान के लिए 40 वर्ष की अवस्था में प्लेटो ने 'The Republic' की रचना की, जिसका उप-शीर्षक 'Concerning Justice' या "न्याय के संबंध में है।"

प्लेटो ने आदर्श राज्य का निर्माण ही एक निश्चित उद्देश्य से किया, और वह उद्देश्य एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें सभी वैयक्तिक, सामाजिक व राजनीतिक संस्थाएं न्याय से अनुप्राणित हो।

इबन्द्हीन के अनुसार प्लेटो के न्याय संबंधी विवेचन में उसके राजनीतिक दर्शन के सभी तत्व सम्मिलित हैं।"

'रिपब्लिक' में उसकी न्याय की खोज के दो रूप हो जाते हैं। पहला रूप उसका व्यक्तिगत न्याय का है और दूसरा रूप सामाजिक न्याय का। इस प्रसंग में प्लेटो ने आलोचक व दार्शनिक दोनों के ही रूप में कार्य किया है, क्योंकि अपने से पूर्ववर्ती विचारकों के न्याय संबंधी विचारों की आलोचना करते हुए उसने न्याय के अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

प्लेटो के अनुसार न्याय, सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन की केन्द्रीय समस्या है। इसलिए प्लेटो उन झूठे विचारों को जिन्हें सर्वसाधारण की भूल से सोफिस्टों की शिक्षा ने कपटपूर्वक फैला रखा था, हटाकर सच्ची न्याय की स्थापना करता है। इसके

लिए प्लेटो रिपब्लिक में वार्ता शैली के साथ-साथ निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग करके सभी परम्परागत सिद्धांतों की तर्क के आधार पर आलोचना करता है।

प्लेटो न्याय को केवल नियमों के पालन तक सीमित नहीं मानता था क्योंकि यह मानव आत्मा की अंतः प्रकृति पर आधारित है। यह दुर्बल के ऊपर सबल की विजय नहीं है क्योंकि यह तो दुर्बल की सबल से रक्षा करता है। प्लेटो के अनुसार एक न्यायोचित राज्य सभी की अच्छाई की ओर ध्यान रखकर प्राप्त किया जा सकता है।

एक न्यायोचित समाज में शासक, सैन्य वर्ग तथा उत्पादक वर्ग सभी वह करते हैं जो उन्हें करना चाहिए। इस प्रकार के समाज में शासक बुद्धिमान होते हैं, सैनिक बहादुर होते हैं और उत्पादक आत्मनियंत्रण या संयम का पालन करते हैं।

‘न्याय’ प्लेटो की ‘Republic’ का प्रमुख वर्णन विषय है। ‘Republic’ का उपशीर्षक ही ‘Concerning Justice’ (न्याय के संबंध) है। प्लेटो के लिए न्याय एक नैतिक अवधारणा है। बेकर कहता है कि प्लेटो के लिए “न्याय, एकदम से ही मानव सद्गुण का एक भाग है और वह बंधन है जो मनुष्य को राज्य से जोड़ता है। यह मनुष्य को अच्छा और सामाजिक इन्सान बनाता है।”

सेबाइन भी ठीक इसी तरह का विचार व्यक्त करता है। उसका कहना है कि “न्याय प्लेटो के लिए एक बंधन है जो समाज को एक साथ बाँध कर रखता है।”

‘न्याय’ ग्रीक भाषा में प्रयुक्त शब्द ‘Dikaiosyne’ से मिलता है जिसका अर्थ ‘न्याय’ शब्द से कहीं अधिक व्यापक है। ‘Dikaiosyne’ का अर्थ है- न्यायोचित नीति-परायणता। इसीलिए प्लेटो की न्याय की धारणा को वैधानिक या अदालती (न्यायिक) नहीं माना जाता है और न ही इसे अधिकार और दायित्वों के क्षेत्र में लिया जाता है। यह कानून की सीमा के अंदर नहीं आती। यह वस्तुतः सामाजिक नीतिशास्त्र से संबंधित है।

प्लेटो की न्याय की धारणा की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—

1. न्याय नीतिपरायणता का ही दूसरा नाम है,
2. यह अधिकारों के उपभोग से कर्तव्यों का दायित्व वहन अधिक है,
3. यह व्यक्ति का उसकी अपनी योग्यताओं, क्षमताओं और सामर्थ्यानुसार समाज का योगदान है,
4. यह सामाजिक नैतिकता है, समाज के प्रति व्यक्ति का दायित्व है,

5. यह सामाजिक ताने-बाने की शक्ति है क्योंकि इसमें समाज की सभी प्रणालियाँ सम्मिलित होती हैं।

पहले सुकरात के माध्यम से इन विचारों को व्यक्त करने से पूर्व प्लेटो ने उस समय विद्यमान न्याय के प्रचलित सिद्धांतों का खण्डन किया। उसने सिफेलस और उसके पुत्र पॉलिमार्कस के पारंपरिक नैतिकता के सिद्धांत पर दोषारोपण किया। इस सिद्धांत के अनुसार न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका देय देना था या वह करना जो ठीक लगे (सिफेलस) या मित्रों के लिए अच्छा करना और शत्रुओं को हानि पहुँचाना (पालिमार्कस)।

प्लेटो ने न्याय के पारंपरिक सिद्धांत की मान्यता को समझ लिया था जो मनुष्य को वह करने के लिए मजबूर करती थी जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती थी या न्याय एकता बनाने की क्रिया के रूप में लेकिन प्लेटो ने न्याय के कुछ के लिए अच्छे और कुछ के लिए बुरे होने का समर्थन नहीं किया। उसने कहा न्याय वह है जो सबके लिए अच्छा हो, देने वाले के लिए भी और लेने वाले के लिए भी, मित्र के साथ-2 शत्रु के लिए भी।

प्लेटो ने थ्रेसीमेकस की न्याय की उस परिवर्तनवादी धारणा को भी अस्वीकृत कर दिया जिसके अनुसार न्याय सदैव शक्तिशाली के पक्ष में होता है। वह थ्रेसीमेकस से यहाँ तक सहमत था कि चूँकि शासक शासन की कला को जानता है, इसलिए उसे सारी शक्ति प्राप्त होती है किंतु वह इससे सहमत नहीं था कि शासक अपने हित के लिए शासन करता है।

प्लेटो ने सुकरात के माध्यम से तर्क प्रस्तुत किया कि जूता बनाने वाला स्वयं अपने बनाए हुए सभी जूतों को नहीं पहनता, कृषक पैदा की हुई अपनी सारी फसल को नहीं खाता, उसी प्रकार शासक भी वही सारे नियम नहीं बनाता जिससे सिर्फ उसी को लाभ हो। प्लेटो थ्रेसीमेकस की इस बात से सहमत था कि न्याय एक कला है, और जो इस कला को जानता है वहीं कलाकार है और कोई नहीं।

फिर भी, न्याय का एक और सिद्धांत है जिसका दो भाइयों-ग्लॉकॉन और एडीमेंटस (जो प्लेटो के अपने भाइ थे) द्वारा समर्थन किया गया। उनका सिद्धांत न्याय का एक परंपरागत सिद्धांत है और इसका समर्थन सुकरात ने भी किया था। ग्लॉकॉन का कहना था कि न्याय कमजोर के हित में है (यह थ्रेसीमेकस के मत के विपरीत था जिसके अनुसार न्याय शक्तिशाली के हित में है) और यह कृत्रिम है क्योंकि यह प्रथाओं और परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है।

ग्लॉकॉन कहता है कि “व्यक्ति अन्याय स्वतंत्रतापूर्वक और बिना बाधा के नहीं सहते लेकिन कमजोर, यह देखकर कि जितना अन्याय वह दूसरों के साथ कर सकता है उससे ज्यादा उसे सहना पड़ता है, दूसरों के साथ मिलकर न अन्याय करने ओर न अन्याय सहने का एक समझौता करता है और उस समझौते के अनुसरण में, वह नियम बनाता है जो बनने के बाद उनकी क्रियाओं के लिए मानक होते हैं और न्याय के लिए नियम संहिता।”

प्लेटो ने पलकन के सिद्धांत की कमियों को समझा और इसीलिए उसने न्याय का, ग्लॉकॉन की इसके ‘कृत्रिम’ और परंपराओं एवं प्रथाओं से ‘उत्पन्न’ होने की धारणा के विरुद्ध, प्राकृतिक और सर्वव्यापी के रूप में वर्णन किया।

प्लेटो ने सिफैलस, पॉलिमार्कस, थेसीमेकस, ग्लॉकॉन, एडीमैंटस तथा सुकरात जैसे पात्रों के बीच चर्चा के उपरांत जो न्याय का अपना सिद्धांत विकसित किया, वह निम्नलिखित है—

1. न्याय और कुछ नहीं बस यह सिद्धांत है कि व्यक्ति को केवल वही कार्य करने चाहिए जिसके लिए वह प्रकृति द्वारा उपयुक्त बनाया गया है। प्रकृति ने मनुष्य को तीन शासकों के अधीन रखा है- इच्छा (Desire) या तृष्णा (Appetite), भावना या मनोवेग और ज्ञान या बुद्धि।

इच्छा का स्थान मनुष्य की कमर में है, भावना का स्थान हृदय में और ज्ञान का स्थान मस्तिष्क में है। जैसे ये सभी गुण सभी मनुष्यों में पाए जाते हैं, परंतु किसी मनुष्य में किसी गुण की प्रधानता रहती है, किसी में किसी और की।

इस आधार पर प्लेटो ने समाज को 3 वर्गों में विभाजित किया है जिनमें इच्छा या तृष्णा की प्रधानता होती है, वे उद्योग-व्यापार को तत्पर होते हैं जिनमें भावना की प्रधानता है, वे सैनिक या योद्धा का व्यवसाय अपनाते हैं और जो ज्ञान से संपन्न होते हैं वे दार्शनिक के रूप में ख्याति अर्जित करते हैं। यदि हम मनुष्य की प्रकृति के लिए उपयुक्त सदगुण निश्चित कर लें तो राज्य के लिए उपयुक्त सदगुण निर्धारित करना सुगम हो जाएगा।

प्लेटो ने 4 मूल सदगुणों का विवरण दिया है। इच्छा या तृष्णा के लिए उपयुक्त सदगुण संयम है। अतः उद्योग-व्यापार में संलग्न वर्ग को सदजीवन की प्राप्ति के लिए अपने अंदर संयम विकसित करना चाहिए।

भावना या मनोवेग के लिए उपयुक्त सदगुण साहस है। अतः सैनिक वर्ग को सदजीवन बिताने के लिए अपने अंदर साहस विकसित करना चाहिए। ज्ञान

के लिए उपयुक्त सद्गुण विवेक है। दार्शनिक या बुद्धिजीवी वर्ग को इस गुण का विकास करना चाहिए।

चौथा या अंतिम सद्गुण न्याय है जो कि सर्वोच्च सद्गुण है। यह समस्त सद्गुणों के उपयुक्त संयोग का सूचक है, अर्थात् व्यक्ति के संदर्भ में न्याय से तात्पर्य यह है कि तृष्णा को साहस का सबल मिल जाए और विवेक से मार्गदर्शन प्राप्त हो।

2. न्याय का अर्थ विशेषज्ञता और उत्कृष्टता है।

3. न्याय व्यक्तियों को समाज में रहने में सहायता करता है। यह एक बंधन है जो समाज को एक साथ रखता है। यह व्यक्तियों का एवं राज्य के विभिन्न वर्गों का एक व्यवस्थित संगठन है।

4. न्याय सार्वजनिक एवं निजी सद्गुण दोनों है। इसका लक्ष्य व्यक्ति का तथा सारे समाज का लाभ करना होता है।

प्लेटो का न्याय का सिद्धांत श्रम विभाजन, विशेषज्ञता और कार्यकुशलता की ओर ले जाता है। उसकी न्याय की धारणा में एक सामाजिक अच्छाई, एक निजी और सार्वजनिक नैतिकता और नैतिक निर्देश निहित हैं। फिर भी प्लेटो का न्याय-सिद्धांत इस अर्थ में एकदलीय है क्योंकि यह व्यक्ति को सत्ता के अधीन रखता है।

2. शिक्षा की योजना

प्लेटो की 'Republic' केवल सरकार के सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तक नहीं है, जैसा कि रूसो कहता है यह शिक्षाशास्त्र का प्रबंध ग्रंथ है। उसके सारे दर्शन का सार, जैसा कि 'रिपब्लिक' में बताया गया है, प्राचीन यूनानी समाज में (सुधार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक के साथ-साथ नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक) लाना था।

रिपब्लिक का उद्देश्य न्याय का पता लगाना और तत्पश्चात् एक आदर्श राज्य में उसकी स्थापना करना था। उसकी शिक्षा नीति इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए थी। प्लेटो के लिए सामाजिक शिक्षा सामाजिक न्याय का एक साधन थी। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि प्लेटो के लिए शिक्षा सभी परेशान करने वाले प्रश्नों का समाधान थी। शिक्षा, जैसा कि क्लाउस्टीट हमें बताता है, नैतिक सुधारों के लिए एक साधन थी।

प्लेटो की शिक्षा का सिद्धांत बुराई को उसके उद्गम पर ही छूने का प्रयास है। यह एक मानसिक रोग का एक मानसिक औषधि से इलाज करने का प्रयास है। बार्कर ठीक ही कहता है कि प्लेटो की शिक्षा योजना आत्मा को उस वातावरण में ले आती है जो उसकी प्रगति के प्रत्येक स्तर पर उसके लिए सबसे उपयुक्तता है।

प्लेटो की शिक्षा का सिद्धांत उसके राजनीतिक सिद्धांत के लिए भी महत्वपूर्ण है। अपने गुरु सुकरात का अनुसरण करते हुए प्लेटो का इस सिद्धांत में विश्वास था कि सद्गुण ही ज्ञान है। (Virtue is Knowledge) और लोगों को सद्गुणी बनाने के लिए उसने शिक्षा को एक बहुत शक्तिशाली साधन बनाया।

प्लेटो का यह भी विश्वास था कि शिक्षा मनुष्य के चरित्र का निर्माण करती है और इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं को बाहर निकालने के लिए यह आवश्यक है। बार्कर प्लेटो की तरफ से बोलते हुए कहता है कि शिक्षा सामाजिक नीति-परायणता का एक रास्ता है न कि सामाजिक सफलता का, यह सच्चाई तक पहुँचने का एक रास्ता है।

प्लेटो कहता है कि शिक्षा समाज में सभी वर्गों के लिए आवश्यक थी, लेकिन यह विशेष रूप से उनके लिए जरूरी थी जो लोगों को शासित करते हैं।

प्लेटो, अपनी शिक्षा के प्रस्तावित कार्यक्रम में कुछ बातों को मानकर चला है—

1. आत्मा स्वतः प्रेरित और क्रियाशील होने के कारण शिक्षा के माध्यम से अपने आपको प्रकट करती है, उसमें अविकसित अच्छाइयों को दिखाती है।
2. शिक्षा अध्ययनरत् नवयुवक के चरित्र को तराशती है, यह अंधे को आँख तो नहीं देती लेकिन अस्त्रों वाले व्यक्ति को कल्पनाशक्ति अवश्य देती है। यह आत्मा को प्रकाश के क्षेत्र में लाती है तथा मनुष्य को सक्रिय और पुनः सक्रिय बनाती है।
3. शिक्षा के प्रत्येक स्तर का एक पूर्व-निर्धारित कार्य होता है। प्रारम्भिक शिक्षा मनुष्य की अपनी शक्तियों को दिशा देने में सहायता करती है। मध्यम स्तर की शिक्षा व्यक्ति को अपनी आसपास की स्थितियों को समझने में सहायता करती है और उच्च शिक्षा व्यक्ति की शिक्षा की तैयारी, उसे निश्चित करने और उसकी दिशा निर्धारित करने में सहायता करती है।
4. शिक्षा व्यक्ति को उसके जीविकोपार्जन में तथा अच्छा व्यक्ति बनने में सहायता प्रदान करती है।

प्लेटो शिक्षा को एक वाणिज्यिक उद्यम नहीं बनाना चाहता था। सेबाइन के अनुसार, प्लेटो चाहता था कि शिक्षा अपनी आवश्यकताओं के लिए स्वतः साधन उपलब्ध कराए यह देखे कि नागरिकों को वास्तव में वह प्रशिक्षण मिले जिसकी उन्हें आवश्यकता है और यह निश्चित करें कि दी जाने वाली शिक्षा राज्य के कल्याण एवं सामजस्य के लिए संगत हो।

प्लेटो की शिक्षा की योजना पर एथेंस और स्पार्टा दोनों राज्यों का प्रभाव था। सेबाइन ने लिखा है कि 'इसकी स्पार्टा जैसी वास्तविक विशिष्टता थी, शिक्षा का केवल नागरिक संबंधी प्रशिक्षण को समर्पित होना किंतु इसकी विषय-वस्तु बिल्कुल एथेंस जैसी थी और इसका उद्देश्य प्रमुख रूप से नैतिक और बौद्धिक गुणों का विकास करना था।

प्रारंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित किया गया था- शरीर के प्रशिक्षण के लिए व्यायाम संबंधी और मस्तिष्क के प्रशिक्षण के लिए संगीत। प्रारंभिक शिक्षा समाज के सभी तीनों वर्गों को दी जानी थी किंतु 20 वर्ष की अवस्था के बाद जिन लोगों का उच्च शिक्षा के लिए चयन होता था वे वह लोग थे जिन्हें संरक्षक वर्ग में 20 से 35 वर्ष की आयु के बीच उच्च पदों पर कार्य करना था। संरक्षक वर्ग के अंतर्गत सहायक तथा शासक दोनों आते थे।

इन दोनों वर्गों को व्यायाम तथा संगीत संबंधी शिक्षा अधिक दी जाती थी। व्यायाम सम्बन्धी अधिक शिक्षा सहायक वर्ग को दी जाती थी तथा संगीत सम्बन्धी अधिक शिक्षा शासक वर्ग को। इन दोनों वर्गों को उच्च शिक्षा व्यावसायिक उद्देश्य से दी जाती थी और उनकी पाठ्य-सामग्री के लिए प्लेटो ने केवल वैज्ञानिक अध्ययन-गणित, खगोल विज्ञान और तर्कशास्त्र को ही चुना था।

दोनों वर्गों द्वारा अपना-अपना काम शुरू करने से पहले, प्लेटो ने उनके लिए लगभग 50 वर्ष की आयु तक के लिए और शिक्षा दिए जाने का सुझाव दिया जो अधिकतम प्रायोगिक शिक्षा थी।

निष्कर्षतः प्लेटो की शिक्षा की योजना में निम्नलिखित विशेषताएँ थी:

1. उसकी शिक्षा की योजना संरक्षक वर्ग के लिए थी। उसने उत्पादक वर्ग पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया था।
2. उसकी पूरी शिक्षा योजना राज्य द्वारा नियंत्रित थी तथा इसका उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और नैतिक विकास था।

3. यह तीन चरणों को मिलाकर बनी थी- प्राथमिक 6 से 20 वर्ष की आयु में, उच्च 20 से 35 वर्ष की आयु में तथा प्रायोगिक शिक्षा 35 से 50 वर्ष की आयु तक।
4. इसका उद्देश्य शासकों को प्रशासनिक राज-कौशल सिखाना, सैनिकों को सैन्य-कौशल सिखाना तथा उत्पादकों को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन-कौशल सिखाना था और अन्ततः इसके द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं में संतुलन लाने का प्रयास किया गया।

प्लेटो की शिक्षा योजना गैर-लोकतांत्रिक तरीके से बनाई गई थी क्योंकि इसमें उत्पादक वर्ग को अनदेखा किया गया था। यह अपने स्वरूप में सीमित थी तथा अपने विस्तार में प्रतिबंधात्मक थी क्योंकि इसमें गणित पर साहित्य की अपेक्षा अधिक बल दिया गया था।

यह एक गैर-व्यक्तिवादी योजना थी क्योंकि इसमें व्यक्ति की चिंतन प्रक्रिया तथा उसकी स्वायत्तता को बाधित किया गया था। यह बहुत ही गूढ़ तथा अमूर्त और इतनी अधिक सैद्धांतिक थी कि इसके कारण यह प्रशासनिक बारीकियों से भी दूर हो गई।

3. संपत्ति और पत्नियों का साम्यवाद

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को, अर्थात् शासक और सहायक वर्ग को भ्रष्टाचार से मुक्त रखने के उद्देश्य से उनके लिए एक विशेष जीवन-पद्धति की व्यवस्था की है, जिसे सम्पत्ति और पत्नियों का साम्यवाद कहा जाता है।

प्लेटो का कहना था कि न्याय तभी लाया जा सकता है यदि संरक्षक संपत्ति न रखें क्योंकि संपत्ति एक प्रकार की भूख का प्रतिनिधित्व करती है और संपत्ति को न रखना परिवारों के साम्यवाद की माँग करता है। जैसा कि बार्कर प्लेटो के लिए लिखता है, “संरक्षकों के बीच पारिवारिक जीवन को समाप्त करना, इस प्रकार, उनके निजी संपत्ति के त्याग करने का आवश्यक उपसिद्धांत है।”

डनिंग के मतानुसार “चूंकि निजी सम्पत्ति और पारिवारिक सम्बन्ध प्रत्येक समुदाय में असहमति के प्रमुख स्रोत के रूप में दिखाई देते हैं, अतः दोनों में से किसी को भी आदर्श राज्य में मान्यता नहीं मिल सकती।”

सेबाइन के मतानुसार “प्लेटो इतने दृढ़ रूप से सरकार पर संपत्ति के होने वाले अहितकर प्रभावों के प्रति आश्वस्त था कि उसे इस बुराई को दूर करने के लिए

संपत्ति को ही समाप्त करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया।“

यही बात प्लेटो के परिवारों की समाप्त करने के उद्देश्य में भी देखी जा सकती है क्योंकि संपत्ति के बाद पारिवारिक बंधन ही वह समर्थ कारण हो सकता था जो शासकों की राज्य के प्रति निष्ठा को डगमगा सकता था।

सेबाइन ने प्लेटो की ओर से निष्कर्ष निकाला है कि “अपने बच्चों के लिए दुश्चिंता अपने आप को प्राप्त करने का ही एक तरीका है, जो संपत्ति की इच्छा से भी अधिक विश्वासघाती है।” प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धांत को बहुत संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह दो स्वरूप लेता है।

रोबाइन का कहना है कि “पहला है शासकों और सहायकों के लिए निजी संपत्ति का निषेध करना और दूसरा एक स्थाई एवं एक पत्नीक यौन सम्बन्ध के व्यवहार को समाप्त करके उसके स्थान पर सर्वोत्तम संभव संतान प्राप्ति के लिए शासक के आदेश पर नियंत्रित प्रजनन करना।”

यह दो प्रकार के साम्यवाद शासकों और सहायकों पर लागू किए गए हैं जिन्हें प्लेटो संरक्षक कहता है। वह कहता है कि प्लेटो का संपत्ति और परिवारों के साम्यवाद के समर्थन के लिए तर्क यह था कि राज्य की एकता इन दोनों की समाप्ति की माँग करती है।

“राज्य की एकता सुरक्षित रखने में है, परिवार और संपत्ति उसके मार्ग में बाधक है। इसलिए संपत्ति और विवाह को समाप्त करना होगा।”

प्रोफेसर जसजी तथा मैक्सी ने प्लेटो और मार्क्स के साम्यवाद में समानताएं उजागर करने का प्रयास किया है किंतु दोनों के साम्यवाद में तुलना करना गलत है। प्लेटो के साम्यवाद का एक राजनीतिक उद्देश्य है- एक राजनीतिक बीमारी का एक आर्थिक समाधान।

जबकि मार्क्स के साम्यवाद का एक आर्थिक उद्देश्य है- एक आर्थिक बीमारी का एक राजनीतिक समाधान। प्लेटो का साम्यवाद केवल दो वर्गों तक ही सीमित है जबकि मार्क्स का साम्यवाद पूरे समाज पर लागू होता है। प्लेटो के साम्यवाद का आधार भौतिक प्रलोभन है और इसकी प्रकृति वैयक्तिक है जबकि मार्क्स का आधार सामाजिक बुराइयों की वृद्धि है, जिसका परिणाम निजी संपत्ति का संग्रहण होता है।

प्लेटो के अपने पत्नियों और संपत्ति के साम्यवाद की योजना प्रस्तुत करने के कारण थे-राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने वालों के कोई आर्थिक प्रयोजन नहीं होने चाहिए और आर्थिक गतिविधियों में लगे लोगों की राजनीतिक शक्ति में कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए। प्लेटो ने इसे स्पार्टा के सफल प्रयोग से सीखा था।

प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद के सम्बन्ध में बार्कर उसके तर्कों को प्रस्तुत करते हुए कहता है “प्लेटो की योजना के कई पहलू और कई उद्देश्य थे। यह एक सुजनन की योजना थी। यह महिलाओं के उद्धार की एक योजना थी, यह परिवार के राष्ट्रीयकरण की एक योजना थी। इसका उद्देश्य अच्छे मनुष्य प्राप्त करना, महिलाओं के लिए अधिक स्वतंत्रता और पुरुषों के लिए उनकी उच्चतम क्षमताओं का विकास था जिससे उनमें और विशेष रूप से राज्य के शासकों में राष्ट्र के लिए अधिक समर्पित और जाग्रत निष्ठा रहे।”

प्लेटो की साम्यवादी योजना की उसके अनुयायियों से लेकर कर्ज पीपर तक कई लोगों द्वारा निंदा की गई है।

इनमें से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

(i) यह संदेहास्पद है कि परिवारों के साम्यवाद से अर्थात् संरक्षकों के लिए संयुक्त परिवार होने से अधिक एकता आएगी।

(ii) अरस्तू का कहना है कि पत्नियों का साम्यवाद यदि अव्यवस्था नहीं भी लाएगा तो भी अस्त-व्यस्तता को उत्पन्न करेगा ही क्योंकि एक महिला सभी संरक्षकों की पत्नी होगी और एक ही पुरुष सभी महिलाओं का पति होगा। अरस्तू के ही शब्दों में एक पिता के हजारों बेटे होंगे और एक बेटे के हजारों पिता।

(iii) साझे बच्चों की देखभाल पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकेगा क्योंकि प्रत्येक का बालक किसी का भी बच्चा नहीं होगा।

(iv) यह भी संदेहपूर्ण है कि राज्य द्वारा नियंत्रित जोड़े बनाना कभी भी कारगर सिद्ध हो सकेगा। यह स्त्री-पुरुष को पशु के दर्जे तक ले जा सकता है क्योंकि इसमें अस्थायी दाम्पत्य संबंध होंगे।

(i) साम्यवाद की पूरी योजना ही बहुत कठोर, नियमनिष्ठ और बाध्य करने वाली है।

(vi) प्लेटो का साम्यवाद का सिद्धांत बहुत ही आदर्शवादी, कपोल-कल्पना आधारित तथा अयथार्थवादी है। इसलिए यह जीवन की वास्तविकताओं से बहुत दूर हैं।

4. प्लेटो का आदर्श राज्य

प्लेटो के काल में यूनान में जो राजनीतिक अराजकता व्याप्त थी, उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप उसने एक ‘आदर्श राज्य’ की कल्पना कर उसे अपनी पुस्तक

‘रिपब्लिक’ में प्रस्तुत किया। प्लेटो का ‘आदर्श राज्य’ आने वाले सभी समय और स्थानों के लिए एक आदर्श का प्रस्तुतीकरण है। उसने ‘आदर्श राज्य’ की कल्पना करते समय उसकी व्यावहारिकता की उपेक्षा की है।

यद्यपि प्लेटो के विचारों में व्यावहारिकता की कमी है, लेकिन हमें उस पृष्ठभूमि को नहीं भूलना चाहिए, जिसने उसके मस्तिष्क में ‘आदर्श राज्य’ की कल्पना जाग्रत की। अपने देश में व्याप्त तत्कालीन दोषों को देखकर ही उनको दूर करने के लिए उसने ‘आदर्श राज्य’ की रूपरेखा तैयार की और वह राजनीति से दर्शन की ओर उन्मुख हुआ। उसने राज्य के लिए यह आवश्यक समझा कि शासन का अधिकार केवल ज्ञानी दार्शनिकों को ही होना चाहिए जिन्हें ‘अच्छे’ या ‘शुभ’ का विस्तृत ज्ञान है।

राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध

प्लेटो का मानना है कि राज्य अतः मनुष्य की आत्मा का बाह्य स्वरूप है अर्थात् आत्मा (चेतना) अपने पूर्ण रूप से जब बाहर प्रकट होती है तो वह राज्य का स्वरूप धारण कर लेती है। राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट रूप है। व्यक्ति की संस्थाएँ उसके विचार का संस्थागत स्वरूप हैं।

उदाहरण के लिए राज्य के कानून व्यक्ति के विचारों से उत्पन्न होते हैं, न्याय उनके विचार से ही उद्भूत है। ये विचार ही विधि-संहिताओं और न्यायालयों के रूप में मूर्तिमान होते हैं।

प्लेटो ने यह बतलाया है कि मनुष्य की आत्मा में 3 तत्व होते हैं- विवेक, उत्साह और क्षुधा। क्षुधा तत्व के कारण व्यक्ति में राग, द्वेष, वासना, आदि उत्पन्न होते हैं। विवेक अथवा बुद्धि तत्व के कारण मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उसके द्वारा अपने वातावरण को समझाता है।

इन दोनों तत्वों के बीच में साहस अथवा उत्साह का तत्व है। महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्द्धा की भावनाएँ इसी से उत्पन्न होती हैं। प्लेटो ने इसे बुद्धि या विवेक का सहगामी कहा है।

प्लेटो का कहना है कि मानवीय आत्मा में पाए जाने वाले ये तीनों गुण अथवा तत्व राज्य में भी पाए जाते हैं। इन्हीं के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सारे कार्य आत्मा से प्रेरणा लेते हैं उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों का उद्भव उन्हें निर्मित करने वाले मनुष्यों की आत्माओं से होता है।

प्लेटो के शब्दों में “राज्यों का जन्म वृक्षों या चट्टानों से नहीं अपितु उसमें बसने वाले व्यक्तियों के चरित्रों से होता है।” वीर व्यक्तियों का राज्य भी वीर होगा और नपुंसकों का नपुंसक। जिस राज्य के नागरिक ही नैतिक दृष्टि से गिरे हुए हैं, वह राज्य नैतिक दृष्टि से पूर्ण नहीं हो सकता। व्यक्ति तथा राज्य की वीरता या नपुंसकता एक ही चेतनता में निवास करती है जिसमें भेद नहीं किया जा सकता।

दार्शनिक राजाओं का शासन

दार्शनिक राजा के शासन का सिद्धांत प्लेटो का एक प्रमुख और मौलिक सिद्धांत है। उसकी धारणा थी आदर्श राज्य में शासक-वर्ग परम बुद्धिमान व्यक्तियों का होना चाहिए। उसकी यह धारणा उसके न्याय, शिक्षा, आदि सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम है।

शासन की इस धारणा का प्रतिपादन हमें प्लेटो के इस अवतरण में मिलता है- “जब तक दार्शनिक राजा नहीं होते अथवा इस संसार के राजाओं में दार्शनिकता नहीं आ जाती और राजनीतिक महानता तथा बुद्धिमता एक ही व्यक्ति में नहीं मिलती और वे साधारण मनुष्य, जो इनमें से केवल एक गुण को (दूसरों की पूर्ण रूप से अवहेलना करते हुए) प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, अलग हट जाने के लिए विवश नहीं कर दिए जाते, तब तक नगर-राज्य बुराइयों से मुक्त नहीं हो सकते।”

प्लेटो के मतानुसार “सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यतः उत्साह तथा विवेक दोनों पाए जाते हैं, किन्तु इनमें से कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनमें उत्साह की अपेक्षा विवेक अधिक पाया जाता है। ऐसे लोगों को प्लेटो ने आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक माना है।”

बार्कर के शब्दों में “संरक्षक वर्ग दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, सैनिक संरक्षक (सहायक वर्ग) और दार्शनिक संरक्षक (शासक वर्ग)।” प्लेटो ने विवेक के दो गुण माने हैं, प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान होता है। द्वितीय विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है।

अतः प्लेटो के अनुसार शासक को विवेकशील होना चाहिए और उसमें पर्याप्त स्नेहशीलता की भावना भी होनी चाहिए। प्लेटो का दार्शनिक न केवल विवेकी और स्नेहशील है बल्कि साम्यवाद की व्यवस्था के कारण कंचन और कामिनी के व्यक्तिगत मोह से मुक्त वीतराग, निःस्वार्थ और कर्तव्यपरायण व्यक्ति है जिसके शासन में संसार के कष्टों का अंत हो सकता है।

राज्य का निर्माण करने वाले तीनों वर्गों में दार्शनिक शासन का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि वही राज्य के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रख सकता है और उन्हें परस्पर स्नेह करना सिखा सकता है। उसमें सुंदर आत्मा के सभी गुण हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता। उसे न्याय, सौन्दर्य, संयम तथा परम संत के विचार तथा मानवीय जीवन के अंतिम प्रयोजन का ज्ञान शिक्षा पद्धति द्वारा होता है।

प्लेटो के विचार से मनुष्य की चिंताओं और कष्टों का कारण यह है कि उसके मार्ग-दर्शक और नेता अज्ञानी होते हैं। “राज्य रूपी नौका को खेने के लिए ज्ञानी, कुशल और निःस्वार्थ नाविक की आवश्यकता है जो शासन चलाने योग्य हो, आकर्षणों से अविचलित रहे, यह जानता हो कि वास्तविक सुख क्या है और श्रेष्ठ जीवन का क्या तात्पर्य है। ऐसा शासक एक दार्शनिक व्यक्ति ही हो सकता है।”

‘रिपब्लिक’ में वर्णित आदर्श राज्य में सरकार नियमों द्वारा न होकर दार्शनिक शासकों द्वारा निर्मित होगी। राज्य में सर्वाधिक महत्व दार्शनिक शासक को मिला है। उस पर कानून आदि का बंधन नहीं है। वह राज्य की आत्मा के ‘विवेक’ गुण से संचालित होता है। उसे ‘शुभ’ का ज्ञान है, अतः वह कानून के नियंत्रण से मुक्त है और केवल अपनी अंतः प्रेरणा के प्रति उत्तरदायी है।

ऐसे दार्शनिक शासक को प्लेटो आदर्श राज्य की बागडोर सौंपना चाहता है। वह दार्शनिक शासक के कार्य में किंचित मात्र भी रूकावट नहीं डालना चाहता। उसके मतानुसार इस राज्य के लिए कानून आवश्यक नहीं, अपितु हानिकारक भी है। दार्शनिक शासक के हाथ-पैर कानून की बेडियों में जकड़ देने से आदर्श राज्य के नागरिकों का अहित होगा।

प्लेटो तर्क प्रस्तुत करता है कि जिस प्रकार अच्छे चिकित्सक को चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकों से अपना उपचार-पत्र बनाने को बाध्य करना उचित नहीं होगा। कानून प्राकृतिक न होकर रूढ़िगत है। रूढ़िजन्य कानून को एक सर्वज्ञाता एवं शासन विशेषज्ञ पर थोपना उचित नहीं है। इस प्रकार प्लेटो का दार्शनिक राजा निरंकुश हो गया है।

बार्कर ने दार्शनिक राजा की चार मर्यादाएँ बताई हैं—

1. राजा राज्य का आकार इतना न बढ़ने दे कि व्यवस्था रखना कठिन हो जाए और न आकार इतना छोटा होने दे कि नागरिकों को आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कठिनाई अनुभव हो।

2. उसे अपने राज्य में बहुत अधिक सम्पन्नता या निर्धनता नहीं बढ़ने देनी चाहिए क्योंकि इससे समाज में कलह, संघर्ष एवं अपराध बढ़ता है। धन आलस्य और भोगवृत्ति पैदा करके राज्य की एकता समाज करता है।
3. ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यवसाय सुचारू रूप से जारी रखे।
4. वह शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन न करे क्योंकि “जब संगीत की तानें बदलती हैं तो उनके साथ राज्य के नियम भी बदल जाते हैं।”

आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की आलोचना

प्लेटो के आदर्श राज्य और दार्शनिक राजा की अवधारणा की कटु आलोचना की गई है जो मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

(i) आदर्श राज्य की धारणा काल्पनिक और अव्यावहारिक है। प्लेटो ने बाद में स्वयं अनुभव किया था कि आदर्श राज्य पृथ्वी पर संभव नहीं है।

(ii) मानवीय आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों का वर्ग-विभाजन करना वास्तविकता की अवहेलना करना है। व्यक्ति और राज्य में इस तरह की अभेदता स्थापित करके उसने नैतिकता और राजनीति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया है।

(iii) आदर्श राज्य का वर्ग विभाजन न तो स्वाभाविक है और न वैज्ञानिक ही। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य में केवल तीन प्रवृत्तियाँ हों। वह एक साथ ही वासना-प्रधान, साहस-प्रधान और बुद्धि-प्रधान भी हो सकता है, वह एक अच्छा विजेता भी हो सकता है और साथ ही उतना अच्छा शासक भी। यह भी जरूरी नहीं कि एक ही प्रवृत्ति का आधिक्य मनुष्य में जीवन भर बना रहे। इस तरह प्लेटो का वर्ग-विभाजन अस्वाभाविक, अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है।

(iv) आदर्श राज्य में उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गई है। उसे दासों के समान बना दिया गया है। इसे न्यायपूर्ण योजना नहीं कहा जा सकता।

(v) न्याय सिद्धांत दोषपूर्ण और एकांगी है। उसमें कर्तव्यों को गिनाया गया है और अधिकारों की उपेक्षा की गई है। एक ओर कहा गया है कि न्याय के अनुसार सभी वर्ग अपना-अपना कार्य करेंगे और कोई किसी अन्य के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। दूसरी ओर यह माना है कि शासक वर्ग शांति और व्यवस्था के लिए उत्पादक-वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है।

(vi) साम्यवादी व्यवस्था मानव समाज के मूल तत्वों और मानव-स्वभाव के विपरीत है। वह समाज के लिए अहितकर है। यदि सम्पत्ति और परिवार मनुष्य को

पथभ्रष्ट करते हैं तो क्या वे उत्पादक-वर्ग को विचलित नहीं करेंगे। इसी प्रकार अभिभावक-वर्ग के लिए पत्नियों के साम्यवाद की व्यवस्था करके वह स्त्रियों की कोमल भावनाओं और परिवार के पवित्र संबंधों का निरादर करता है।

(vii) शिक्षा को राजकीय नियंत्रण में रखने से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता है।

(viii) प्लेटो अपने राज्य में कानून की आवश्यकता नहीं मानता। व्यवहार के उचित नियमों का निर्धारण किए बिना किसी भी राज्य में न तो व्यवस्था रह सकती है और न शांति ही। इस दोष का अनुभव प्लेटो ने स्वयं किया, इसलिए उपादर्श राज्य में कानून को ही शासन का आधार बनाया।

(ix) प्लेटो ने दार्शनिक शासक को अमर्यादित अधिकार देकर निरंकुश शासन का समर्थन किया है। उसने नागरिकों से विचार एवं भाषण की स्वतंत्रता छीन कर उनकी स्वतंत्रता की उपेक्षा की है।

(x) अत्यधिक चिंतन और दर्शन के अध्ययन से शासक प्रायः झक्की और सनकी हो जाते हैं। वे व्यवहार शून्य होकर शासन के अयोग्य हो जाते हैं। अतः यह भय निराधार नहीं है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक सनकी बन जाएगा।

(xi) दार्शनिक राजा स्वयं को सर्वगुण-सम्पन्न मानकर जनता से परामर्श नहीं लेता। इसमें जनता की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं को समझने की प्रवृत्ति नहीं होती। अपने विचारों और सुधारों के उत्साह में क्रांतिकारी परिवर्तनों को प्रस्तावित करके यह समाज में विक्षोभ और अशांति उत्पन्न कर देगा।

जोवेट के शब्दों में, “दार्शनिक राजा दूरदर्शी होता है या अतीत की ओर देखता है, वर्तमान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।” प्लेटो स्वयं प्रयत्न करके भी सिराक्यूज के डायोनिसियस को दार्शनिक राजा नहीं बना सका। अतः व्यवहार में दार्शनिक राजा के सिद्धांत को साकार करना कठिन है।

आदर्श राज्य के मूलभूत सिद्धांत

- (i) न्याय।
- (ii) राज्य व्यक्ति का वृहत् रूप है।
- (iii) विशेष कार्य का सिद्धांत।
- (iv) शिक्षा।
- (v) नागरिकों के तीन वर्ग।
- (vi) दार्शनिक राजा का शासन।

- (vii) साम्यवाद ।
- (viii) नर-नारियों का समान अधिकार ।
- (ix) राज्य का लक्ष्य विशुद्ध आध्यात्मिक और नैतिक ।

दार्शनिक राजा की अवधारणा में मौलिक सत्य

फोस्टर का कथन है कि “प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक विचार में दार्शनिक राजा की अवधारणा मौलिक है।” उसके सिद्धांत में निःसन्देह एक आधारभूत सत्य है जिसे हर देश हर काल में ग्रहण कर सकता है। प्लेटो के इस कथन से कोई इंकार नहीं कर सकता कि शासन एक कठिन कला है और उसके लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है।

अतः इस सत्य का प्रतिपादन करना प्लेटो की महान दूरदर्शिता थी कि सत्ता सदैव बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिए। अगर प्लेटो की इस अवधारणा के अनुरूप वर्तमान शासक भी आचरण करें तो प्रायः सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

दार्शनिक राजाओं का शासन वर्ग-संघर्ष समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। वर्ग-संघर्ष का उदय तभी होता है जब शासक-वर्ग स्वहित में कार्य करने लगता है। यह वही नहीं पाया जा सकता जहाँ शासकगण स्वयं को तन, मन और धन से समाज की सेवा में अर्पित कर दें। दार्शनिक शासक निजी सुखों से ऊपर उठकर स्वयं को सामान्य हित की साधना में लीन करने वाले हैं और उन्हें उसमें परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

सार्वजनिक हित की आड़ में स्वार्थी की पूर्ति करना संभव नहीं है। इस प्रकार प्लेटो शासकों को त्याग और समर्पण का संदेश देते हैं। निश्चय ही यह संदेश राज्य और समाज के लिए महान कल्याणकारक है।

प्लेटो समाज के प्रत्येक वर्ग से बलिदान चाहता है। उत्पादक वर्ग को राजनीतिक शक्ति का त्याग करना पड़ता है जबकि संरक्षक वर्ग को आर्थिक शक्ति से वंचित कर दिया जाता है। यदि जनता का प्रत्येक वर्ग त्याग की भावना से प्रेरित हो तो विश्व के संकट शीघ्र ही मिट सकते हैं।

आदर्श राज्य की कल्पना में अनेक तत्वों का महान और स्थाई मूल्य है। सपने और आदर्श न हों तो ‘मनुष्य घोर स्वार्थ और पशुता में डूबा रहेगा।’ ये उसे ऊँचा उठाने और अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

बार्कर के मतानुसार- “यह कहना आसान है कि ‘रिपब्लिक’ काल्पनिक है, बादलों में नगर है, एक सूर्यास्स के दृश्य के समान है जो सायं एक घंटे के लिए रहता है, तत्पश्चात अंधकार में विलीन हो जाता है, परन्तु यह ‘कहीं नहीं का नगर’ नहीं है। यह यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित और वास्तविक जीवन को मोड़ने या कम-से-कम प्रभावित करने के लिए है।”

आदर्श राज्य का पतन और शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण

चूँकि संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है, अतः रिपब्लिक में वर्णित आदर्श राज्य भी स्थायी नहीं रह सकता। इसीलिए प्लेटो भी आदर्श राज्य को इस वसुंधरा पर व्यावहारिक और स्थायी नहीं मानता तथा आदर्श राज्य के पतन और अन्य शासन प्रणालियों के बारे में विचार करता है।

प्लेटो का मानना है कि शासक के पतन से राज्य का पतन बहुत शीघ्र होता है। लगातार विरोध के बढ़ने से भी आदर्श राज्य धीरे-धीरे पतन की ओर चला जाता है।

प्लेटो इस पतन के निश्चित क्रम को पाँच शासकों में बाँटता है—

(i) राजतंत्र

प्लेटो ने यह माना है कि जब सरकारों का पतन होने लगता है तब वे विकृत अवस्थाओं से गुजरते हुए अन्त में अपने निदृष्टतम रूप में आ जाता है। प्लेटो के अनुसार राजतंत्र में जनता को सर्वाधिक सुख प्राप्त होता है क्योंकि इसमें न्याय-भावना से अनुप्राणित विवेक सम्पन्न दार्शनिक राजा शासन करता है।

(ii) सैनिकतंत्र या कीर्तितंत्र

प्लेटो कहता है कि कुछ समय पश्चात साम्यवाद के परित्याग और व्यक्तिगत संपत्ति के उदय से इस शासन प्रणाली का पतन होने लगता है। विवेक की प्रधानता के स्थान पर उत्साह का भाव बढ़ जाता है। शासक शिक्षा पर ध्यान नहीं देते फलतः शासक का भार योग्यतम व्यक्ति नहीं सम्भालते और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्लेटो के अनुसार यह शासन प्रणाली कीर्तितंत्र है क्योंकि इसमें योद्धा अपनी कीर्ति और महत्वाकाँक्षा बढ़ाने की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। यह राजतंत्र का पहला विकार है।

(iii) अल्पतंत्र

सैनिकतंत्र धीरे-धीरे अल्पतंत्र में परिणत हो जाता है। सैनिकतंत्र का प्रधान तत्व 'उत्साह' होता है किंतु अल्पतंत्र का 'काम' है। इसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों और कुलों के हाथों में आ जाती है।

आर्थिक बल पर वे शासन की बागडोर हथिया लेते हैं तथा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से राज्य का संचालन करते हैं। इस शासन में धनिकों एवं निर्धनों के बीच खाई गहरी होती जाती है और संघर्ष बढ़ता जाता है।

(iv) लोकतंत्र

अल्पतंत्र में दरिद्र जनता में तीव्र असंतोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। फलतः वे सत्ता को अपने कब्जे में कर लोकतंत्र की स्थापना करते हैं। लोकतंत्र में सभी को स्वतंत्रता और समानता प्राप्त हो जाती है। अतः अनुशासन और आज्ञापालन का भाव लुप्त हो जाता है और जनता स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर जनतंत्र ला देती है।

(v) निरंकुश-तंत्र

जनतंत्र का अंत करने के लिए जनता के बीच से एक नेता उठ खड़ा होता है और लोगों को बड़े मोहक आश्वासन देता है कि वह उनके कष्टों का अंत कर देगा। जनता उसकी बातों में आकर राज्यसत्ता उसे सौंप देती है परंतु वह जनता की आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरता। वह स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर लेता है। यही निरंकुश-तंत्र है।

यह तानाशाही उन्हीं लोगों का खून पीती है जो अपने परिश्रम से उसे भोजन देते हैं। 'काम' तत्व का सर्वाधिक पाश्विक रूप निरंकुश-तंत्र या तानाशाही में देखने को मिलता है। यह सबसे निवृष्ट शासन-प्रणाली है।

5. लॉज

'लॉज' (The Laws) को प्लेटो ने सत्तर वर्ष की आयु में लिखा था। अतः उनकी आयु का प्रभाव उनकी कृति पर स्पष्ट दिखायी देती है। उनकी इस रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका वह भ्रम दूर हो गया है, जो उसके मस्तिष्क में उस समय था, जब उसने आदर्श राज्य पर 'रिपब्लिक' की रचना की थी।

‘रिपब्लिक’ में प्लेटो यदि एक आदर्शवादी, स्वप्नद्रष्टा अथवा कल्पनालोक के व्यक्ति थे, तो ‘लॉज’ में वह एक विचारशील, यथार्थवादी बन गए। ‘लॉज’ के लिखने के लिए जब तक उन्होंने अपनी लेखनी उठायी तब तक उन्हें इस बात का पक्का विश्वास हो गया था कि दार्शनिक शासक का शासन पृथ्वी पर स्थापित नहीं किया जा सकता और व्यावहारिक दृष्टि से ‘रिपब्लिक’ का कोई विशेष महत्व नहीं है।

‘लॉज’ के लिखते समय प्लेटो को ऐसा विश्वास हो गया प्रतीत होता है कि मनुष्य पर शासन केवल विधि के द्वारा किया जा सकता है।

लॉज की प्रमुख विशेषताएँ

प्लेटो ने राजनीति के संबंध में अपनी कृति ‘लॉज’ में जो विविध विचार व्यक्त किये हैं, उनकी प्रमुख विशेषताओं का विवेचन निम्न उपशीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है—

(i) ‘रिपब्लिक’ का उद्देश्य दार्शनिक विवेक के शासन की स्थापना का था। ‘रिपब्लिक’ में विवेक को दार्शनिक शासकों के माध्यम से कार्य करना था तथा दार्शनिक शासक पर विधि का कोई नियंत्रण नहीं होना था, पर ‘लॉज’ में विवेक अथवा दार्शनिक विवेक को विधि के माध्यम से कार्य करना है।

दार्शनिक शासक का स्थान वस्तुतः अब विधि ने ले लिया है क्योंकि ‘रिपब्लिक’ का दार्शनिक शासक एक असम्भावना है। यद्यपि दार्शनिक शासक के शासन को प्लेटो अब भी सर्वोत्तम मानते हैं, फिर भी विधि के शासन पर प्लेटो इसलिए उतर आये हैं कि दार्शनिक शासक उनकी आशा के अनुसार सिद्ध नहीं हुआ है।

‘लॉज’ का उद्देश्य दार्शनिक को राज्य का विधायक बनाकर विधियों में विवेक के तत्व का प्रवेश करना तथा उसके द्वारा पृथ्वी पर दार्शनिक विवेक के उस शासन को स्थापित करना है, जिसे प्लेटो दार्शनिक शासक के माध्यम से स्थापित नहीं कर सके हैं।

(ii) ‘रिपब्लिक’ में प्लेटो ने दार्शनिक शासक को विधि से ऊपर माना है तथा उसके द्वारा बनाये अधिनियम, नियम, उपनियम आदि उसके लिए मान्य न होकर औरों के लिए मान्य बताये हैं। पर ‘लॉज’ में प्लेटो ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या संरक्षक विधि से बाध्य होंगे अथवा वे विधि के अधीन होंगे। इस प्रसंग में प्लेटो ने विधि की सर्वोच्चता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है तथा कहा है कि संरक्षक विधि के अधीन होंगे।

(iii) 'रिपब्लिक' का केंद्रीय बिन्दु न्याय है लेकिन 'लीज' में राज्य के विविध तत्वों के आत्मसंयम को न्याय से अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। 'रिपब्लिक' में आत्मसंयम को एक महत्वपूर्ण गुण माना गया था, क्योंकि उसके द्वारा कार्यों का विशिष्टिकरण सम्भव हो जाता है, पर न्याय को आत्मसंयम से अधिक महत्व प्रदान किया गया था।

जहाँ तक संतुलन का प्रश्न है, उसे प्लेटो ने 'रिपब्लिक' व 'लॉज' दोनों में ही आवश्यक माना है, पर 'लॉज' में संतुलन स्थापित करने का ढंग बदल गया है। 'रिपब्लिक' में संतुलन लाने का ढंग कार्यों का विशिष्टिकरण है।

2

अरस्तू

अरस्तू एक प्रसिद्ध और महान् यूनानी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक थे। उन्हें प्लेटो के सबसे मेधावी शिष्यों में गिना जाता था। विश्व विजेता कहलाने वाला सिकन्दर अरस्तू का ही शिष्य था। अरस्तू ने प्लेटो की शिष्यता 17 वर्ष की आयु में ग्रहण की थी। राजा फिलिप के निमंत्रण पर अरस्तू को अल्पवयस्क सिकन्दर का गुरु नियुक्त किया गया था। उन्होंने भौतिकी, आध्यात्म, कविता, नाटक, संगीत, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और जीव विज्ञान सहित कई विषयों पर रचनाएँ की थीं।

अरस्तू का जन्म 384-322 ई. पू. में हुआ था और वह 62 वर्ष तक जीवित रहे। उनका जन्म स्थान स्तागिरा (स्तागिरस) नामक नगर था। उनके पिता मकदूनिया के राजा के दरबार में शाही वैद्य थे। इस प्रकार अरस्तू के जीवन पर मकदूनिया के दरबार का काफी गहरा प्रभाव पड़ा था। उनके पिता की मौत उनके बचपन में ही हो गई थी।

पिता की मौत के बाद 17 वर्षीय अरस्तू को उनके अभिभावक ने शिक्षा पूरी करने के लिए बौद्धिक शिक्षा केंद्र एथेंस भेज दिया। वह वहां पर बीस वर्षों तक प्लेटो से शिक्षा पाते रहे। पढ़ाई के अंतिम वर्षों में वो स्वयं अकादमी में पढ़ाने लगे। अरस्तू को उस समय का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता था जिसके प्रशंसा स्वयं उनके गुरु भी करते थे। अरस्तू की गिनती उन महान दार्शनिकों में होती है जो पहले इस तरह के व्यक्ति थे और परम्पराओं पर भरोसा न कर किसी भी घटना की जाँच के बाद ही किसी नतीजे पर पहुंचते थे।

347 ईस्वी पूर्व में प्लेटो के निधन के बाद अरस्तू ही अकादमी के नेतृत्व के अधिकारी थे किन्तु प्लेटो के शिक्षाओं से अलग होने के कारण उन्हें यह अवसर नहीं दिया गया। एत्रनियस के मित्र शाषक द्वियाज के निमंत्रण पर अरस्तू उनके दरबार में चले गये। वो वहा पर तीन वर्ष रहे और इस दौरान उन्होंने राजा की भतीजी हिर्पलिस नामक महिला से विवाह कर लिया। अरस्तू की ये दुसरी पत्नी थी उससे पहले उन्होंने पिथियस नामक महिला से विवाह किया था जिसके मौत के बाद उन्होंने दूसरा विवाह किया था। इसके बाद उनके यहा नेकोमैक्स नामक पुत्र का जन्म हुआ। सबसे ताज्जुब की बात ये है कि अरस्तू के पिता और पुत्र का नाम एक ही था। शायद अरस्तू अपने पिता को बहुत प्रेम करते थे इसी वजह से उनकी याद में उन्होंने अपने पुत्र का नाम भी वही रखा था।

मकदूनिया के राजा फिलिप के निमन्त्रण पर वो उनके तेरह वर्षीय पुत्र को पढ़ाने लगे। पिता-पुत्र दोनों ही अरस्तू को बड़ा सम्मान देते थे। लोग यहाँ तक कहते थे कि अरस्तू को शाही दरबार से काफी धन मिलता है और हजारों गुलाम उनकी सेवा में रहते हैं हालांकि ये सब बातें निराधार थीं। एलेक्सैंडर के राजा बनने के बाद अरस्तू का काम खत्म हो गया और वो वापस एथेंस आ गये। अरस्तू ने प्लेटोनिक स्कूल और प्लेटोवाद की स्थापना की। अरस्तू अक्सर प्रवचन देते समय टहलते रहते थे इसलिए कुछ समय बाद उनके अनुयायी पेरीपेटेटिक्स कहलाने लगे।

अरस्तू को खोज करना बड़ा अच्छा लगता था खासकर ऐसे विषयों पर जो मानव स्वाभाव से जुड़े हों जैसे कि “आदमी को जब भी समस्या आती है वो किस तरह से इनका सामना करता है?” और “आदमी का दिमाग किस तरह से काम करता है।” समाज को लोगों से जोड़े रखने के लिए काम करने वाले प्रशासन में क्या ऐसा होना चाहिए जो सर्वदा उचित तरीके से काम करें। ऐसे प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अरस्तू अपने आस पास के माहौल पर प्रायोगिक रुख रखते हुए बड़े इत्मिनान के साथ काम करते रहते थे। वो अपने शिष्यों को सुबह सुबह विस्तृत रूप से और शाम को आम लोगों को साधारण भाषा में प्रवचन देते थे।

एलेक्सैंडर की अचानक मृत्यु पर मकदूनिया के विरोध के स्वर उठ खड़े हुए। उन पर नास्तिकता का भी आरोप लगाया गया। वो दंड से बचने के लिये चल्सिस चले गये और वहीं पर एलेक्सैंडर की मौत के एक साल बाद 62 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी। इस तरह अरस्तू महान दार्शनिक प्लेटो के शिष्य और सिकन्दर के गुरु बनकर इतिहास के पन्नों में महान दार्शनिक के रूप में अमर हो गये।

अरस्तू की रचनाएँ (Works of Aristotle)

अरस्तू बहुमुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था, उसने तर्कशास्त्र, प्राणीशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, आध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषणकला, लेखनकला और काव्यकला पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उसके समस्त ग्रन्थों की सही संख्या बता पाना सम्भव नहीं है। दियोगेनेस लायतिस ने अरस्तू के जीवन चरित्र के साथ जो सूची दी है, उसमें अरस्तू की रचनाओं की संख्या 400 बतलाई है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ संग्रह 3500 पृष्ठों, के लिए 12 खण्डों में प्रकाशित हुआ है। वह अपने समय के यूनानी ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश माना जाता है। अपनी अगाध विद्वत्ता के कारण मध्ययुग में वह सबसे बड़ा एकमात्र दार्शनिक तथा दांते के शब्दों में वह 'ज्ञानियों का गुरु' कहलाता है। दुर्भाग्यवश अरस्तू की अनेक कृतियाँ काल के प्रवाह में लुप्त हो चुकी हैं और उपलब्ध कृतियों में भी रचना शैली की वह की वह प्रौढ़ता, सुसम्बद्धता, रोचकता तथा प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता जो प्लेटो की रचनाओं में है। विद्वानों की धारणा है कि ये ग्रन्थ सम्भवतः अरस्तू द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा लिखे गये उसके व्याख्यानो के नोट्स मात्र हैं। इन्हीं को बाद में सम्पादकों ने अपनी समझ के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों में प्रस्तुत कर दिया है। अरस्तू ने इनका अन्तिम रूप में सम्पादन या संशोधन नहीं किया इसीलिए इनमें अनेक असंगतियाँ और त्रुटियाँ पायी जाती हैं।

अरस्तू की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अपने समय में लगभग सभी विषयों पर अरस्तू के वाक्य अन्तिम वाक्य थे। वास्तव में उसने सारा जीवन सरस्वती की साधना में समर्पित कर दिया था। विभिन्न विषयों पर उसके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं

(1) राजनीति पर—The Politics, The Constitutions.

(2) साहित्य पर—Eudemus or Soul, Protopicus, Poetics तथा Rhetoric आदि।

(3) तर्कशास्त्र व दर्शन पर—Physics, De Anima. The Prior Metaphyses, Categories, Interpretation, The Posterior Analytics तथा The Topics आदि।

- (4) भौतिक विज्ञान पर—Meteorology (चार भाग) तथा अन्य ग्रन्थ।
 (5) शरीर विज्ञान पर—Histories of Animals तथा दस अन्य ग्रन्थ।

अरस्तू की रचना : दि पॉलिटिक्स (Work of Aristotle : The Politics)

‘पॉलिटिक्स के विषय में अनेक विरोधी भावनाएँ और विचार विद्यमान हैं। एक ओर जैलर और फॉस्टर जैसे विद्वान हैं तो दूसरी ओर विरोधी विचार प्रकट करने वाले टेलर तथा मैकइल्वेन जैसे लेखक हैं। जैलर के अनुसार, अरस्तू की पॉलिटिक्स प्राचीनकाल में हमें प्राप्त होने वाली सर्वाधिक मूल्यवान निधि है तथा राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में हमें प्राप्त होने वाला महानतम् योगदान है।’ फॉस्टर का कहना है—‘यदि यूनानी राजनीतिक दर्शन का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करने वाला कोई ग्रन्थ हो सकता है तो वह यही है। इस मत के सर्वथा विपरीत विचार, ए. ई. टेलर का है। इनके अनुसार, पॉलिटिक्स के अतिरिक्त अरस्तू का कोई दूसरा ग्रन्थ एक बहुमुखी विषय की विवेचना में इतना साधारण कोटि का नहीं रहा है तथा सत्य यह है कि सामाजिक विषयों में उसकी अभिरुचि तीक्ष्ण नहीं थी। मैकइल्वेन के अनुसार, ‘यह (पॉलिटिक्स) यदि अत्यन्त महत्वपूर्ण भी नहीं है तो भी राजनीति दर्शन के शास्त्रीय ग्रन्थों में अत्यन्त हैरानी पैदा करने वाला ग्रन्थ तो है ही।’

‘पॉलिटिक्स के बारे में विद्वानों के इसी प्रकार परस्पर विरोधी विचार हैं, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ‘पॉलिटिक्स’ राजनीति के क्षेत्र में अरस्तू की एक अनुपम देन है। प्रो. बार्कर ने इसे राजनीति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ रचना (Magnum opus) कहा है और ब्राउले के शब्दों में, ‘अपने विषय पर पॉलिटिक्स’ सबसे अधिक प्रभावक और सबसे अधिक गम्भीर ग्रन्थ है जिसका अध्ययन सबसे पहले किया जाना चाहिए।’

‘पॉलिटिक्स’ की रचना के विषय में विद्वानों में विरोधी विचार पाये जाते हैं। इसके रचना काल और क्रम के सम्बन्ध में जायगार (Joegar) और आर्नीम (Amim) आदि विद्वानों के दृष्टिकोणों में प्रतिकूल विचार पाये जाते हैं। जायगार के अनुसार पॉलिटिक्स की सातवीं तथा आठवीं पुस्तकों की रचना सबसे पहले हुई और इन पुस्तकों में अरस्तू पर प्लेटो के प्रभाव की स्पष्ट छाप नजर आती है। ऐसा लगता है कि इन दोनों पुस्तकों की रचना अरस्तू ने 347

ईसा पूर्व की होगी जब वह अकादमी को त्यागकर अस्सुस (Assus) में रहने लगा था। इसके विपरीत आर्नीम के अभिमत में इन दो पुस्तकों की रचना अरस्तू ने अन्य सब पुस्तकों की रचना के बाद उस युग में की थी जब वह प्लेटो के प्रभाव से मुक्त हो चुका था, किन्तु इस विषय में प्रो. बार्कर का मत उपयुक्त जान पड़ता है। उनका यह कहना है कि इसकी रचना अरस्तू के एथेन्स में दूसरे निवास काल में, आयु के अन्तिम 12 वर्षों में (335 ई. पू. से 323 ई. पू.) हुई है। यद्यपि यह अरस्तू की प्रौढ़तम आयु की रचना है, किन्तु उसकी अन्य रचनाओं के समान यह सम्भवतः उसके व्याख्यानों के नोट्स मात्र हैं जिन्हें भली-भाँति संशोधित एवं पूर्ण नहीं किया गया।

पॉलिटिक्स के बारे में इस प्रकार उलझनपूर्ण धारणाओं का कारण यही है कि उसमें कहीं-कहीं तो किसी विषय का उल्लेख इस ढंग से किया गया है जैसे उसका प्रसंग पूर्व में ही हो चुका हो और कहीं-कहीं उन बातों का उल्लेख कर दिया गया है जिनका विवेचन आगे चलकर हुआ है। अर्थात् सारा ग्रन्थ अव्यवस्थित विषय परिवर्तन से भरा पड़ा है। जो 'पॉलिटिक्स' आज हमें उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति लगती है। अरस्तू का 'पॉलिटिक्स' के अनुशीलन से यह एक एकीकृत अथवा सुगठित रचना नहीं मालूम पड़ती। इसे एक सम्पूर्ण ग्रन्थ की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। अधिक से अधिक यह एक प्रकार से विभिन्न निबन्धों का संकलन है। डेविस के शब्दों में, 'पॉलिटिक्स को युक्तियों की तथा सिद्धान्तों की खान समझा जाना चाहिये न कि एक कलात्मक ढंग से रचना हुआ साहित्यिक ग्रन्थ।'

संक्षेप में, 'पॉलिटिक्स' अरस्तू की ऐसी रचना है जिसमें अपूर्णता एवं अस्पष्टता इसलिए दिखाई देती है क्योंकि इसे अरस्तू ने एक साथ क्रमबद्ध रूप से नहीं लिखा था।

'पॉलिटिक्स' निम्नलिखित आठ भागों में विभक्त है—पहला भाग—इसमें राज्य की प्रकृति और दास प्रथा का वर्णन है।

दूसरा भाग—इसमें प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचना की गई है। तीसरा भाग—इसमें संविधानों के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन है।

चौथा भाग—इसमें राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के संविधानों का विवेचन किया गया है। राजतन्त्र का वर्णन तीसरे भाग में है।

पांचवाँ भाग—इसमें क्रान्तियाँ, उनके कारण और उनको दूर करने का वर्णन किया गया है।

छठा भाग—इसमें उपर्युक्त विषय को पूर्ण किया गया है। सातवाँ भाग—इसमें आदर्श राज्य का वर्णन है। आठवाँ भाग—इसमें आदर्श राज्य और आदर्श संविधान का विवेचन किया गया है।

‘पॉलिटिक्स’ में आदर्श की स्थापना तथा यथार्थ का विश्लेषण एक ही साथ कर अरस्तू ने एक नवीन राजनीति विज्ञान को जन्म दिया। उसने यह मत प्रतिपादित किया कि यथार्थ आदर्श से कितना ही दूर क्यों न हो उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। संक्षेप में, इसमें हमें अरस्तू के सामाजिक और राजनीतिक तत्वों, वास्तविक संविधानों, उनके सम्मिश्रण और तज्जनित परिणामों का एक अनुभवात्मक अध्ययन मिलता है।

अरस्तू के चिन्तन पर प्रभाव डालने वाले तत्व (Factors Influences on Aristotle's Philosophy)

अरस्तू पर सबसे अधिक प्रभाव प्लेटो और उसकी दूसरी महानतम् कृति ‘लॉज’ का दिखलाई देता है। यहाँ हम अरस्तू पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा करेंगे।

अरस्तू पर सर्वाधिक प्रभाव अपने गुरु प्लेटो का दिखलाई देता है। यद्यपि वह अपने गुरु के प्रति अन्धभक्त नहीं था तथापि वह प्लेटो की महान् दार्शनिक योग्यता के प्रभाव से ओतप्रोत अवश्य था। अरस्तू ने यद्यपि अपनी कृतियों में प्रत्येक मोड़ पर प्लेटो का खण्डन किया तथापि वह प्रत्येक पृष्ठ पर उसका ऋणी था। उसने अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष प्लेटो के चरणों में अध्ययन करते हुए बिताए। जिन दिनों अरस्तू प्लेटो के सम्पर्क में आया उन दिनों प्लेटो ‘लॉज’ की रचना में लगा हुआ था। वस्तुतः अरस्तू के राजनीतिक विचारों के निर्माण में प्लेटो के अभाव में प्लेटो के विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसा कहा जाता है कि जहाँ प्लेटो की ‘लॉज’ की चिन्तनधारा का अवसान होता है, वहाँ से अरस्तू के ‘पॉलिटिक्स’ की विचारगंगा का प्रवाह आरम्भ होता है। अरस्तू की ‘पॉलिटिक्स’ तथा ‘लॉज’ में निम्नलिखित सादृश्य प्लेटो के प्रभाव को सूचित करते हैं

(i) अरस्तू लॉज की भाँति कानून की सर्वोच्च प्रभुसत्ता का सिद्धान्त तथा शासकों को कानून का संरक्षक और सेवक मानता है।

(ii) अरस्तू राज्यहित में मनुष्य को देवता या पशु मानता है। यह 'लॉज' के एक सन्दर्भ का रूपान्तर है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे लिखते समय उसके सामने लॉज का उपर्युक्त उद्धरण था।

(iii) परिवार से राज्य के विकास का वर्णन करते हुए अरस्तू ने लॉज की तीसरी पुस्तक का अनुसरण किया है और होमर के ग्रन्थ से उद्धरण भी वही दिया है, जो प्लेटो ने दिया था।

(vi) वह प्लेटो की इस युक्ति को दोहराता है कि स्पार्टा की भाँति युद्ध अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं है, किन्तु इसका प्रयोजन शान्ति की स्थापना होना चाहिए।

(v) मिश्रित संविधान की कल्पना दोनों ग्रन्थों में समान रूप से पायी जाती है और दोनों स्पार्टा को इसका उदाहरण बताते हैं।

(vi) अरस्तू ने कृषि की महत्ता, व्यापार और सूदखोरी के बारे में पॉलिटिक्स की पहली पुस्तक में जो बातें लिखी हैं वे 'लॉज' की आठवीं तथा ग्यारहवीं पुस्तक की व्यवस्थाओं से मिलती हैं।

(vii) पॉलिटिक्स की सातवी, आठवीं पुस्तक में वर्णित आदर्श राज्य की 'लॉज' के आदर्श राज्य से गहरी समानता है। इसके कुछ सादृश इस प्रकार हैं—आदर्श राज्य का समूह के पास होना नगर, राज्य की इमारतों का वर्णन दोनों में एक जैसा है। अरस्तू की शिक्षा योजना श्लॉज में प्रतिपादित योजना से मिलती है आदि।

इन समानताओं के आधार पर बार्कर ने यह परिणाम निकाला है कि यद्यपि अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' के आरम्भ में 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज' के सिद्धान्तों की आलोचना की है, किन्तु वह 'पॉलिटिक्स' के सामान्य सिद्धान्तों के लिए लॉज का ऋणी है। यद्यपि 'पॉलिटिक्स' उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखी है, किन्तु इसके अधिकांश विचार प्लेटो के हैं। पॉलिटिक्स में पूर्णरूप से नई बात इतनी ही कम है, जितनी मैग्नाकार्टा में है। इनमें कोई भी नया नहीं है, दोनों का उद्देश्य पूर्ववर्ती विकास को संहिताबद्ध (Codified) करना है। मैक्सी के शब्दों में, 'अरस्तू के अभाव में प्लेटो और उसका विद्यालय अपूर्ण रहता है और प्लेटो के अभाव में अरस्तू और उसका विद्यालय असम्भव ही था।'

अन्य दार्शनिकों की भाँति

अरस्तू भी अपने युग का शिशु था। अतः उसकी रचनाओं पर उसके युग का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ा है। अरस्तू के जीवन के 62 वर्ष (384 ई. पू. से 322 ई. पू.) यूनानी इतिहास के अत्यन्त महत्वपूर्ण और हलचल वाले वर्ष थे। यूनानी नगर राज्यों के जीवन में वह ह्रास का काल था, स्वतन्त्रता के अवसान तथा पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े जाने का काल था, यह वह काल था जिसमें स्पार्टा का पतन हुआ तथा यूनानी नगर राज्यों को मेसेडोनिया का संरक्षण स्वीकार करना पड़ा। यह वह युग था जिसमें नगर राज्यों का पतन प्रारम्भ हो चुका था। इन परिस्थितियों ने अरस्तू को यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि यूनानी नगर राज्यों के पतन के क्या कारण थे। अरस्तू ने अपने अनुशीलन से यह मत प्रतिपादित किया कि एकता के अभाव के कारण ही यूनानियों को इस प्रकार के बुरे दिन देखने पड़े हैं।

समकालीन परिस्थितियों में राजनीतिक चिन्तन का आदर्श नगर राज्य ही थे। यद्यपि अरस्तू ने मेसेडोनिया के साम्राज्यवाद के दर्शन कर लिए थे, फिर भी वह यूनानियों के हृदयों में नगर राज्यों के प्रति पाये जाने वाले सहज झुकाव से अपने को नहीं बचा सका। अतः नगर राज्य को ही उसने अपने अनुशीलन का केन्द्र बिन्दु बनाया। तात्कालिक परिस्थितियों तथा दासों की मेहनत पर आधारित सभ्यता में पला अरस्तू दास प्रथा को प्राकृतिक घोषित करे तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

अरस्तू के राजनीतिक दर्शन के निर्माण में उसकी पैतृक पृष्ठभूमि का भी गहरा प्रभाव रहा है। अरस्तू में जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, वह एक बड़ी सीमा तक उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि की ही देन थी। इसी पृष्ठभूमि के कारण उसे अपने विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक अध्ययन को आगे बढ़ाने के समुचित अवसर प्राप्त होते चले गये। अतएव अपने चिन्तन में अरस्तू ने जीव विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो दिलचस्पी दिखलाई उसका कारण सम्भवतः उस पर अपने पारिवारिक वातावरण का ही प्रभाव था।

अरस्तू अपने समय के कतिपय मित्रों और प्रभावशाली व्यक्तियों से भी प्रभावित हुआ है। वह अपने समय के दो शासकों हेरमियास तथा सिकन्दर महान् एवं शासनाधिकारी एण्टीपीटर के निकट सम्पर्क में आया था। हेरमियास उसका अभिन्न मित्र था। उसकी

जीवन लीला का जिस निर्मम ढंग से अन्त हुआ, उस दुःखद घटना का अरस्तू के विचारों तथा शिक्षाओं पर अमिट प्रभाव पड़ा है। सिकन्दर के एक अधिकारी एण्टीपीटर का अरस्तू पर इतना अधिक प्रभाव था कि बार्कर ने लिखा है, 'एण्टीपीटर के विचारों तथा नीतियों का अरस्तू के जीवन पर प्रभाव था और उन्होंने उसके राजनीतिक विचारों तथा सिद्धान्तों के विचारों को भी प्रभावित किया है।' जहाँ तक सिकन्दर के प्रभाव का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतान्तर है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि गुरु ने शिष्य को पूर्ण प्रभावित किया है। इसके विपरीत बट्रेण्ड रसेल की मान्यता है कि गुरु का शिष्य पर सम्भवतः कोई प्रभाव न पड़ा। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ अरस्तू एक नगर राज्य का समर्थक था वहाँ सिकन्दर को एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने की धुन थी। इस सम्बन्ध में बार्कर ने लिखा है, जहाँ तक सिकन्दर का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि न तो वह (अरस्तू) सिकन्दर को कुछ अधिक दे सका और न ही उसे सिकन्दर से कुछ महत्वपूर्ण प्राप्त हो सका। दोनों में अल्पकाल लको कुछ मधुर सम्बन्ध अवश्य ही रहे थे, किन्तु जीवन के अन्तिम काल में उनमें कटुता भी बड़ी मात्रा में पैदा हो गयी थी।

अरस्तू की अध्ययन पद्धति

(The Study Method of Aristotle)

ओनकेन के शब्दों में, "उसके ग्रन्थ पॉलिटिक्स का महानतम गुण यह है कि इसमें वैज्ञानिक अध्ययन विधि को अपनाया गया है। बार्कर के अनुसार, "अरस्तू ने एक वैज्ञानिक की तरह लिखा है, उसके ग्रन्थ क्रमबद्ध हैं। उसकी रचनाएँ समीक्षात्मक एवं सतर्क हैं। उनमें कल्पना की उड़ान नहीं, यथार्थ का पुट है।"

अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण अरस्तू बचपन से विशेष घटनाओं और तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य परिणाम निकालने का अभ्यस्त हो गया था। बार्कर के शब्दों में, "चूँकि चिकित्सक का पेशा अरस्तू के परिवार में अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा था अतएव अपने चिन्तन में अरस्तू ने जीव विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो अभिरुचि दिखलाई उसका कारण उस पर अपने पारिवारिक वातावरण का ही प्रभाव था।"

अरस्तू प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक है। इसकी रचना पॉलिटिक्स का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है, "निरीक्षण से हमें पता चलता है इससे एक महान् अनुभववादी के रूप में अरस्तू की ख्याति उजागर होती है। वह प्लेटो की तरह कल्पनाबादी नहीं था। न ही वह कल्पना के पंख लगाकर तर्कों की बैसाखियों के सहारे यथार्थ की उपेक्षा करता था। उसकी भाषा में न तो कविता का माधुर्य था और न ही अलंकारों की छटा, परन्तु इन सबकी उसे आवश्यकता भी न थी। वह सत्य को निरपेक्ष भी नहीं मानता था, यथार्थ का वर्णन उसने किया जिसके लिए काव्यमय भाषा की आवश्यकता नहीं थी।

अरस्तू की अध्ययन पद्धति प्लेटो से नितान्त भिन्न है। आदर्श राज्य तथा उसकी संस्थाओं की रचना करने में प्लेटो ने कल्पना प्रधान पद्धति को अपनाया था जिसमें पर्यवेक्षण और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए कोई स्थान नहीं था। अरस्तू की प्लेटो के विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत ही यह है कि उसने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में इतिहास, भूतकालीन राजनीतिक संस्थाओं तथा मानव स्वभाव पर यथोचित ध्यान नहीं दिया। अरस्तू ने प्लेटो के विपरीत अपनी समकालीन तथा भूतकालीन राजनीतिक संस्थाओं का सावधानीपूर्वक पर्यवेक्षण और अध्ययन किया। यह कहा जाता है कि अरस्तू ने लगभग 1000 व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण, अन्वेषण और सामग्री संकलन के लिए लगाया था। इस सामग्री और निरीक्षण के आधार पर उसने विभिन्न विज्ञानों के बारे में अनेक नियमों की शोध की। विशेष घटनाओं से सामान्य नियम निकालने की इस पद्धति को उद्गमन (Inductive) की पद्धति कहते हैं। प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, वह सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है। अरस्तू उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति तथा विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियम बनाता है। अरस्तू की अध्ययन पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

1- मनुष्य के जीवन के अध्ययन में उद्गमनात्मक पद्धति को अंगीकार किया है। बार्कर के शब्दों में, इस अध्ययन विधि का सार था निरीक्षण करना तथा सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करना और इसका उद्देश्य था, प्रत्येक विचार्य विषय का कोई सामान्य सिद्धान्त खोज निकालना।" अरस्तू की यह उद्गमनात्मक पद्धति प्लेटो की

अध्ययन विधि के प्रतिकूल है। प्लेटो सामान्य रूप से विशेष की ओर बढ़ता है, अरस्तू विशेष से सामान्य की ओर। प्लेटो न्याय, सत्य, सौन्दर्य आदि सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर किसी विशेष वस्तु की जाँच करता है, परन्तु अरस्तू दृश्यमान जगत् के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बनाते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है।

2- ,fmgkl d fofek& अरस्तू ने अपने अध्ययन में ऐतिहासिक विधि का उपयोग भी किया है। राजनीतिक चिन्तन में ऐतिहासिकता का सहारा सम्भवतः सर्वप्रथम अरस्तू ने ही लिया है। अतः उसे ऐतिहासिक विधि का जनक कहकर भी पुकारा जाता है। वह तत्कालीन यूनानी समाज में प्रचलित यूनानी नगर राज्यों के 158 शासन विधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राज्य विषयक सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। उसके सब विचार इतिहास और निरीक्षण पर आधारित हैं। राज्य के विकास सम्बन्धी विचार, युद्ध तथा गृहयुद्ध सम्बन्धी विचार आदि को पढ़ने से उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहज ही में नजर आ जाती है।

3- l k's ; h; ¼teleological½ fofek& अपने अध्ययन में अरस्तू ने सोद्देश्यीय विधि को भी अपनाया है। यह विधि यह मानकर चलती है कि हर वस्तु अथवा विषय का अपना उद्देश्य होता है जो उसके विकास और अस्तित्व का कारण होता है। अरस्तू के अनुसार हर वस्तु अपने निर्माण (becoming) की स्थिति में होती है, वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रही होती है। जब वस्तु अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेती है तभी उसका पूर्ण विकसित रूप स्पष्ट होता है जो उसकी सच्ची प्रकृति है। इसी विचार के अनुसार उसने पॉलिटिक्स में कहा है कि परिवार जैसी सीमित संस्था ने अपने उद्देश्य की ओर गतिमान होकर राज्य के वृहद स्वरूप को प्राप्त किया है।

4- l k-' ; okph ¼Analogical½ fofek& प्लेटो के समान अरस्तू ने भी 'सादृश्यताओं' का उपयोग अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए किया है। प्लेटो ने जहाँ मुख्यतः 'प्राकृतिक जगत् तथा 'कला' के क्षेत्र में सादृश्य ढूँढे हैं, वहाँ अरस्तू ने 'प्राणी जगत्' (Biology) तथा 'चिकित्सा विज्ञान' (Medical Science) से सादृश्य ढूँढ निकाले हैं। पॉलिटिक्स में अनेक स्थानों पर वह राजनीतिज्ञ कला की चिकित्सक कला से तुलना करता है। चिकित्साशास्त्र के अध्ययन से ही उसकी यह विचारधारा बनी है कि प्रत्येक प्रकार की

‘अतियों’ (extremes) को छोड़कर हमें एक सुनहरे मध्यक (golden mean) का अनुसरण करना चाहिए।

5- fo' ysk. kRed ½Analytical½fofek& विशेषज्ञों और विद्वानों का कहना है कि अरस्तू ने अपने दर्शन में विश्लेषणात्मक पद्धति को एक प्रमुख विशेषता के रूप में अपनाया है। विश्लेषणात्मक पद्धति में किसी विषय या वस्तु के निर्माणकारी अंगों को अलग करके उनकी जाँच की जाती है और तत्पश्चात् एक सामान्य नियम की स्थापना की जाती है। उदाहरण के लिए, अरस्तू ने राज्य के निर्माण और स्वभाव का अध्ययन करने के लिए उसके निर्माणकारी अंगों, परिवारों और गाँवों का विश्लेषण किया है। उसने राज्य के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष उसके निर्माणकारी अंग, नागरिकों के सन्दर्भ में निकाला है। उसने जीवन के सम्बन्ध में वास्तविकता को प्रकाश में लाने हेतु उसे तीन भागों—पौष्टिक (Nutritive), संवेदनशील (Sensitive) तथा बौद्धिक (Rational) में विभाजित किया है।

संक्षेप में, अरस्तू की पद्धति वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक और आगमनात्मक है। वह कुछ तथ्यों का अध्ययन करता है तथा उन्हीं तथ्यों से वह निष्कर्ष निकालता है। वह इतिहास और घटनाओं का विश्लेषण और विवेचन करता है और किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। उसकी ख्याति का मुख्य आधार यह है कि उसने राजनीतिक घटनाचक्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति को अपनाया। इस तरह उसने राजनीतिशास्त्र को एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विज्ञान का रूप और दर्जा प्रदान किया। प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का सहायक अंग बना दिया। अरस्तू ने राजनीतिशास्त्र को इस पराधीनता से मुक्त किया और उसे सर्वोच्च विज्ञान (Master Science) के रूप में प्रतिस्थापित किया।

अरस्तू ने प्लेटो की संवाद शैली का भी परित्याग कर अपने ग्रंथों की रचना के लिए निबन्धात्मक शैली को ग्रहण किया। इस निबन्धात्मक शैली ने भी राजनीतिशास्त्र को साहित्यिक नाटकीयता से मुक्त करके एक वास्तविक शास्त्र का रूप ग्रहण करने में सहायता की।.....

अरस्तू : प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक या राजनीति विज्ञान का जनक

(Aristotle as The First Political Scientist or Father of Political Science)

डनिंग के अनुसार, पश्चिमी जगत् में राजनीति विज्ञान अरस्तू से ही प्रारम्भ हुआ। उसकी महानतम कृति 'पॉलिटिक्स' को राजनीति विज्ञान की अनुपम निधि माना जाता है। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति पर विचार किया था, किन्तु उसका सम्पूर्ण ज्ञान कल्पनाबादी था। प्लेटो हवाई योजनाएं बनाने वाला और स्वप्निल उड़ान भरने वाला दार्शनिक था जिसको वास्तविक तथ्यों से कोई मतलब नहीं था। प्लेटो की पद्धति निगमनात्मक है और वह केवल इस बात पर विचार करता है कि आदर्श राज्य कैसा होना चाहिए, यथार्थ राजनीतिक स्थिति से उसे कोई मतलब नहीं। उसकी दृष्टि में स्थूल रूप में दिखाई देने वाला वास्तविक जगत मिथ्या है और विचारों का काल्पनिक जगत् वास्तविक है। ऐसी स्थिति में प्लेटो को हम अधिक से अधिक कवि, कलाकार या दार्शनिक कह सकते हैं, विषय पर क्रमबद्ध रूप से विचार करने वाला वैज्ञानिक नहीं। इसके अतिरिक्त प्लेटो के द्वारा राजनीति विज्ञान को स्वतन्त्र विज्ञान का दर्जा भी प्रदान नहीं किया गया। वह राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही अंग मानता है। राजनीति विज्ञान को एक स्वतन्त्र विज्ञान की गरिमा प्रदान करने का कार्य अरस्तू के द्वारा ही किया गया। उसने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर किया। उसने राजनीतिशास्त्र को उच्चकोटि का शास्त्र माना क्योंकि यह राज्य जैसी सर्वोच्च संस्था का अध्ययन करता है। अरस्तू को निम्नलिखित कारणों के आधार पर राजनीति विज्ञान का जनक अथवा प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है।

1- अधिकतर विद्वानों ने अरस्तू को राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में आगमनात्मक विधि के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया है। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें विचारक जो कुछ देखता है या जिन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करता है उनका निष्पक्ष रूप से बिना

अपनी किसी पूर्व धारणा के अध्ययन करता है और इस अध्ययन के फलस्वरूप जो कुछ भी निष्कर्ष निकलता है उसमें वैज्ञानिकता का पुट होता है। इस दृष्टि से अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित 158 संविधानों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के सन्दर्भ में निकले निष्कर्षों के आधार पर ही राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

2- जेतुलफर'कल= दलस उलफर'कल= लसिफकल दजुकप्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का एक अंग माना है। उसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र में ही समाहित कर दिया जिससे राजनीतिशास्त्र का अपना स्वतन्त्र और पृथक् स्थान नहीं रहा। इसके विपरीत, अरस्तू वह प्रथम विचारक है, जिसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् कर उसे स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया। उसने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर किया है। उसके अनुसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उद्देश्यों (ends) से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध उन साधनों (means) से है जिनके द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

3- ; फकफकनह फपकलद अरस्तू प्रथम विचारक है जिसने राजनीति पर यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया। उसने सदैव ही अतिबादिता से बचते हुए मध्यममार्ग का अनुसरण किया। कॅटलिन के शब्दों में, "कन्फ्यूशियस के बाद अरस्तू सामान्य ज्ञान और मध्यम मार्ग का सबसे बड़ा प्रतिपादक है। व्यावहारिक विचारक होने के कारण अरस्तू ने मध्यमवर्ग के अनुसरण पर सबसे अधिक जोर दिया। वह यह मानता था कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध असन्तुलन है, चाहे वह राजनीतिक असन्तुलन हो अथवा सामाजिक और आर्थिक असन्तुलन। यह असन्तुलन अतियों (Extremes) के कारण पैदा होता है। साम्यवाद, निरंकुशता, आंगिक समानता आदि सभी को वह अति समझता था। इसलिए वह इनके बीच का मार्ग अपनाने का समर्थन करता था। पालिटी का सिद्धान्त एक मध्यम मार्ग है जिसके अनुसरण द्वारा अरस्तू ने राजनीतिक और आर्थिक असन्तुलन को सदैव के लिए दूर करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को एक वैज्ञानिक उपचार कहा जा सकता है।

4- जकट; दसिक्लफल)कुर दक Øec) फु: इ.क अरस्तू ही वह पहला विचारक है जिसने राज्य का पूर्ण सैद्धान्तिक वर्णन किया है। राज्य

के जन्म और उसके विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार के निर्माण, नागरिकता की व्याख्या, कानून की सर्वोच्चता और क्रान्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर उसने विस्तार से प्रकाश डाला है। ये सभी आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के चिन्तन के विषय हैं और इन विषयों पर इतना क्रमबद्ध विवेचन प्लेटो के दर्शन में भी नहीं मिलता है। बार्कर के शब्दों में, अरस्तू के विचार प्रायः आधुनिकतम हैं, भले ही अरस्तू का राज्य केवल एक नगर राज्य ही रहा है।

अरस्तू ही वह पहला विचारक था जिसने यह प्रतिपादित किया कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।' अरस्तू का यह कथन आज भी राजनीतिशास्त्र की अमूल्य धरोहर है।

5- I foëkkukadk oKlfud oxhij .k& बार्कर ने अरस्तू की महान कृति 'पॉलिटिक्स' के अनुवाद में लिखा है, 'अगर कोई यह पूछे कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' ने सामान्य यूरोपीय विचारधारा को उत्तराधिकार के रूप में क्या दिया तो इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है—'संविधानशास्त्र'। वास्तव में संविधान के बारे में जितना विस्तृत अध्ययन हमें अरस्तू की पॉलिटिक्स में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं और उस समय जबकि दुनिया में राजनीतिक विचारधाराओं का उदय हो रहा था, संविधान पर व्यक्त अरस्तू के विचार कल के विचारों जैसे मालूम होते हैं।

अरस्तू को संविधान और संविधानवाद का जनक कहा जाता है। संविधानों का वर्गीकरण उसे प्लेटो से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ पर उसने इस विषय पर अपने 'लिसियम' (Lyceum) में विस्तृत अध्ययन किया और इस प्रकार से प्लेटो के सैद्धान्तिक विवेचन पर अपनी अनुसंधानिक पुष्टि कर दी। संविधानों और राज्यों का वर्गीकरण इसीलिए मूल रूप में अरस्तू के नाम के साथ जोड़ा जाता है। संविधानों का अध्ययन आधुनिक राजनीति विज्ञान का प्रमुख विषय है और समूचा राजनीतिशास्त्र इसके लिए अरस्तू का ऋणी है।

6- ukxfjdrk dh 0; k[; k& अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो व्याख्या दी गई है वह राजनीतिशास्त्र के लिए बहुत सहायक और आधुनिक नागरिकता की परिभाषा को निर्धारित करने में मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। नागरिकता सम्बन्धी विषय के अध्ययन के लिए आगे चलकर विद्वानों ने अरस्तू के मूल विचारों को ही आधार बनाया। नागरिकता का विचार अरस्तू की एक मौलिक

देन है जिसके लिए राजनीतिशास्त्र उसका सदा ऋणी रहेगा।

7- dkuw dh lokprk dk cfriknu अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता के बारे में एक सम्यक विचार प्रस्तुत किया है। अरस्तू सर्वाधिक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के विवेक के स्थान पर परम्परागत नियमों और कानूनों की श्रेष्ठता में विश्वास करता है जबकि प्लेटो अतिमानव के शासन में विश्वास करता है। प्लेटो एक ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज करना चाहता है जो आदर्श राज्य का निर्माण कर सके, अरस्तू एक ऐसे अतिविज्ञान (Super Science) का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य को अच्छे से अच्छा बना सके। प्लेटो अपने दार्शनिक राजा के द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है, परन्तु अरस्तू एक ऐसे शास्त्र की रचना करना चाहता है, जिसके निर्धारित नियमों का अनुसरण कर आदर्श राज्य की दृष्टि सम्भव हो सके। संक्षेप में, अरस्तू का विश्वास कानून के शासन में है। कानून की सर्वोच्चता तथा संवैधानिक शासन की वांछनीयता में विश्वास उसकी ऐसी धारणाएँ हैं जिनके आधार पर उसे 'संवैधानवाद का पिता' (Father of Constitutionalism) कहा जाता है।

अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसमें वैधानिक सम्प्रभुता के बीज निहित हैं। आगे चलकर ग्रोशियस, बेन्थम, हॉब्स, ऑस्टिन और लास्की ने सम्प्रभुता के बारे में आधुनिक राजनीतिशास्त्र बहुत कुछ सीमा तक अरस्तू का ऋणी है।

8- Ijdkj ds vxka dk fuekkj .k अरस्तू ने सरकार के तीन अंगों—नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक का निरूपण किया है। ये शासकीय अंग वर्तमान समय के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के समान ही हैं। अरस्तू ने इन विभिन्न शासकीय अंगों के संगठन, कार्यक्षेत्र और शक्तियों के बारे में विस्तार से विचार किया है। अरस्तू की यह खोज आगे चलकर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त तथा नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त की रूपरेखा बनी।

अरस्तू : राज्य की उत्पत्ति एवं विकास (Aristotle : Origin and Evolution of the State)

अरस्तू के अनुसार व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है

और राज्य व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का ही परिणाम है। उसका मत था कि राज्य का जन्म विकास के कारण हुआ है, वह एक स्वाभाविक संस्था है, उसके उद्देश्य और कार्य नैतिक हैं, वह सब संस्थाओं में श्रेष्ठ और उच्च है।

अरस्तू के अनुसार राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं से होती है, परन्तु उसका अस्तित्व सदजीवन की सिद्धि के लिए बना रहता है। अतः यदि समाज के आरम्भिक रूप प्राकृतिक हैं, तो राज्य की भी वही स्थिति है, क्योंकि वह उनका चरम लक्ष्य है और किसी वस्तु की प्रकृति उसका चरम लक्ष्य होती है। अरस्तू के शब्दों में, इसलिए यह जाहिर है कि राज्य प्रकृति की रचना है और मनुष्य प्रकृति से राजनीतिक प्राणी है, और जो मनुष्य प्रकृति से या मात्र संयोगवश किसी भी राज्य से सम्बद्ध न हो, वह या तो नराधम होगा, या अति मानव। उसकी स्थिति तो उस समुदायहीन, नियमहीन, गृहहीन व्यक्ति जैसी होगी, जिसकी होमर ने निन्दा की है।

व्यक्ति के लिए राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक है, अपने इस विचार की पुष्टि के लिए अरस्तू ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं—सर्वप्रथम, वह मानता है कि प्रत्येक राज्य प्रकृतिजन्य है क्योंकि राज्य उन समस्त समुदायों का पूर्ण रूप है, जो प्रकृतिजन्य हैं। राज्य में भी वही गुण विद्यमान है जो इसका विकास करने वाले पूर्ववर्ती समुदायों में पाया जाता है। राज्य की प्रारम्भिक एवं मूलभूत इकाई अरस्तू व्यक्ति को मानता है जो अकेले में अपूर्ण है। अपनी दैनिक आवश्यकताओं को जुटाने एवं अपने जीवन को सुन्दर व सुखमय बनाने के लिए व्यक्ति को अनेक समुदायों की आवश्यकता होती है। परिवार, ग्राम, राज्य आदि व्यक्ति के कुछ ऐसे ही मूलभूत समुदाय हैं। जिस अर्थ में परिवार या ग्राम व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक होने के कारण स्वाभाविक समुदाय (Natural association) हैं, उसी अर्थ में राज्य भी व्यक्ति का एक नितान्त आवश्यक समुदाय है। इस समुदाय की उपस्थिति से ही व्यक्ति आत्मनिर्भरता एवं पूर्णत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। अरस्तू का मत है, 'केवल जीवन मात्र की आवश्यकता के लिए राज्य उत्पन्न होता है और अच्छे जीवन की उपलब्धि के लिए कायम रहता है।' अरस्तू के विचार में राज्य इस कारण प्राकृतिक है कि वह उस उद्देश्य से सम्पूर्णत्व है जिसकी ओर अन्य दूसरे समुदाय बढ़ते हैं। परिवार तथा ग्राम आदि व्यक्ति के जो अन्य प्राकृतिक समुदाय हैं, वे अपनी पूर्ण प्रकृति का विकास तभी कर

सकते हैं, जबकि राज्य के रूप में वे अपनी प्रकृति की परिसमाप्ति को प्राप्त कर चुके हों। व्यक्ति के सम्पूर्ण प्राकृतिक समुदायों का विकसित स्वरूप राज्य है। यदि परिवार आत्मनिर्भरता सम्बन्धी व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण कर पाते हैं तो ग्राम व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाते और इसी प्रकार यदि परिवार एवं ग्राम ही व्यक्ति को आत्मनिर्भरता प्रदान कर पाते तो राज्य उसके लिए महत्वहीन हो जाते, किन्तु राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे व्यक्ति को आत्मनिर्भर बना सकें, अतः राज्य व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक एवं मूलभूत समुदाय है। दूसरा, राज्य को प्राकृतिक कहने का एक अन्य कारण भी है। अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति है। इसे व्यक्ति के जीवन का महानतम् लक्ष्य कहा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की उपलब्धि का साधन राज्य है। अतः सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होने के कारण भी राज्य व्यक्ति के लिए प्राकृतिक संस्था है।

अरस्तू के अनुसार राज्य मनुष्य की सामाजिकता का परिणाम है। सामाजिक जीवन अन्य जीवधारियों में भी पाया जाता है, परन्तु व्यक्ति विचारशील प्राणी है, इसलिए उसकी सामाजिकता अन्य श्रेणी के जीवधारियों से भिन्न है। यह सामाजिकता मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों तथा कुछ विशेष उद्देश्यों पर आधारित है और इसने अनेक स्थितियों से गुजरकर अपना पूर्ण विकास प्राप्त किया है।

सर्वप्रथम विवाह पद्धति के आधार पर अरस्तू ने सबसे पहले सामाजिक संस्था परिवार की स्थापना की, जिसमें पति-पत्नी, सन्तान और दास एक साथ रहते हैं। परिवार में हमें राज्य के बीज दिखाई देते हैं क्योंकि परिवार का स्वामी शासक के रूप में कार्य करता है। परिवार स्वाभाविक समुदाय है क्योंकि यह सन्तानोत्पत्ति और सुरक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

परन्तु व्यक्ति केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता, उसकी अन्य भी अनेक भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ हैं। इसलिए कुछ परिवार मिलकर ग्राम का निर्माण करते हैं। ग्राम के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े निपटाने और उनके सामूहिक जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जाता है, लेकिन ग्राम भी व्यक्तियों की सभी भौतिक, बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते, अतः ग्रामों के सम्मिलन से नगर राज्य का जन्म होता है।

नगर राज्य सुरक्षा और न्याय प्रदान करने की आवश्यकता ग्राम की तुलना में अधिक अच्छे प्रकार से पूरी कर सकता है और यह व्यक्ति की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों को भी अधिक अच्छे प्रकार से विकसित कर सकता है। अतः नगर राज्य व्यक्तियों का अन्तिम और पूर्ण एवं श्रेष्ठतम समुदाय है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार परिवार से ग्राम और ग्राम से राज्य अस्तित्व में आये। अरस्तू के शब्दों में, जब बहुत से ग्राम एक दूसरे से पूर्ण रूप से इस प्रकार मिल जाते हैं कि वे केवल एक ही समाज का निर्माण करते हैं, तब वह समाज राज्य बन जाता है।

अरस्तू के अनुसार राज्य के विकास का स्वरूप (Nature of the State Evolution According to Aristotle)

अरस्तू के अनुसार राज्य एक सावयव जीवधारी के समान है, अतः जिस प्रकार एक सावयवी जीवधारी का विकास होता है उसी प्रकार राज्य का भी विकास होता है।

अरस्तू के विचार को मानव शरीर के उदाहरण से समझाया जा सकता है। मानव शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान आदि अनेक अंग होते हैं, इन अंगों को अलग-अलग कार्य करने पड़ते हैं और इन्हें करने के लिए वे शरीर पर निर्भर रहते हैं। यदि शरीर का कोई अंग अपना कार्य करना बन्द कर देता है या उसे ठीक प्रकार से नहीं करता है तो शरीर निर्बल हो जाता है। जो बात में कही गयी है, वही राज्य के बारे में भी कही जा सकती है। जिस प्रकार शरीर का विकास स्वाभाविक ढंग से होता है, उसी प्रकार राज्य का भी हुआ है। शरीर के समान राज्य भी अनेक अंगों से मिलकर बना है। ये अंग हैं—व्यक्ति और उनकी संस्थाएं, परिवार, ग्राम आदि। जिस प्रकार शरीर के सब अंगों को अपने-अपने निर्धारित कार्य करने पड़ते हैं, उसी प्रकार राज्य के सब अंगों को भी अपने निर्धारित कार्य करने आवश्यक हैं।

इस प्रकार राज्य के विकास का स्वरूप सावयवी (Organic) या जैविक है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। इनके विकास की अन्तिम परिणति राज्य में होती है।

राज्य के विकास के सम्बन्ध में अरस्तू के दृष्टिकोण को समझाते हुए बार्कर ने लिखा है, "राजनीतिक विकास, जैविक विकास है। राज्य तो मानो पहले से ही ग्राम, परिवार और व्यक्ति के रूप में भ्रूणावस्था में होता है। राजनीतिक विकास की प्रक्रिया ऐसी है मानो राज्य आरम्भ से लेकर अन्त तक विभिन्न रूपों को धारण करता है और प्रत्येक रूप इसको पूर्णता के अधिक से अधिक निकट ले जाता है।

इस प्रकार अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार, 'विकासवादी सिद्धान्त' के अनुरूप है। परिवार के विकास से व्यक्ति पूर्णत्व की दिशा में कुछ कदम बढ़ाता नजर आता है। कुछ और अधिक पूर्णता की प्राप्ति उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति ग्राम को जन्म देती है और सम्पूर्णता एवं आत्मनिर्भरता की दिशा में बढ़े हुए मानव के चरण अपनी मंजिल तक उस समय पहुंच जाते हैं जबकि सर्वोच्च एक सर्वव्यापी समुदाय राज्य की स्थापना सम्भव हो जाती है।

अरस्तू के अनुसार राज्य की विशेषताएँ (Characteristics of the State According to Aristotle)

राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

1- $\eta\kappa\alpha\tau\alpha\iota\tau\eta\varsigma$; $\eta\delta\epsilon\ \lambda\omicron\gamma\iota\sigma\mu\omicron\varsigma\ \epsilon\iota\sigma\alpha\gamma\omicron\gamma\epsilon\ \tau\omicron\upsilon\tau\omicron\upsilon\tau\eta\varsigma$ (State is a Natural Institution)—
अरस्तू द्वारा राज्य के प्रादुर्भाव के बारे में प्रकट किये गये विचारों से प्रकट होता है कि वह राज्य को स्वाभाविक संस्था मानता है। उसके अनुसार राज्य मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है और इससे अलग रहकर व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। राज्य परिवार का ही वृहत् रूप होने के कारण यह भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसा कि परिवार। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में प्रारम्भ होता है उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य में ही की जा सकती है।

'राज्य एक स्वाभाविक संस्था है' इस कथन की पुष्टि में अरस्तू का एक तर्क यह भी है कि जिन संस्थाओं पर राज्य आधारित है वे संस्थाएँ स्वाभाविक हैं, तो निश्चय ही उन स्वाभाविक संस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक होगा।

अरस्तू का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए भी है कि राज्य का जन्म मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एवं उसके सर्वांगीण विकास के लिए स्वाभाविक रूप से हुआ है। उसके शब्दों में, मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बढ़ते हुए घेरे की पराकाष्ठा राज्य है। वह कहता है राज्य स्वाभाविक है और इसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति राज्य में नहीं रहता वह या तो देवता है या पशु।

2- jkT; 0; fä l s i w l dk l xBu gS (State is Prior to Individual)—अरस्तू का कहना है राज्य मनुष्य से प्राथमिक है। ऐसा कहने में अरस्तू का तात्पर्य यह नहीं था कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले हुआ, वरन् उसके कहने का अभिप्राय यह था कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। यह कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राज्य एक पूर्ण समुदाय हैं, व्यक्ति केवल एक तत्व। पूर्णता पहले आती है, उसके बाद में अंग, इसलिए राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। मनुष्य के बौद्धिक विकास की पूर्ण कल्पना के रूप में राज्य का जन्म व्यक्ति, परिवार और ग्राम के अस्तित्व में आने से पूर्व ही हो चुका था। अरस्तू का कथन है कि, “समय की दृष्टि से परिवार पहले है, परन्तु प्रकृति की दृष्टि से राज्य पहले है।”

3- jkT; l okPp l enk; gS (The State is a Supreme Association)—अरस्तू के अनुसार राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है। उसके शब्दों में, “राज्य केवल समुदायों का समुदाय ही नहीं है, वरन् सर्वोच्च समुदाय है।” इस दृष्टिकोण के पक्ष में अरस्तू कहता है—प्रथम, राज्य में अनेक प्रकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँ होती हैं। इन सब संस्थाओं का अस्तित्व राज्य के कारण ही होता हैय ये केवल राज्य के अन्दर ही कार्य कर सकती हैं। ये राज्य के अधीन होती हैं और राज्य का इन पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। द्वितीय, राज्य के अन्तर्गत कार्यरत विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँ एकपक्षीय होती हैं। जैसे—धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक आवश्यकताओं और सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनमें से कोई भी व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं

की पूर्ति करके उसका अधिकतम विकास करती है, अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है। तृतीय, राज्य के अन्तर्गत कार्यरत सभी संस्थाओं का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है, पर राज्य के लक्ष्य की तुलना में ये सभी लक्ष्य निम्नतर होते हैं। इसका कारण यह है कि राज्य अपने नागरिकों को अपने जीवन को शुभ और सुखी बनाने का अवसर प्रदान करता है। वे इस प्रकार के जीवन की प्राप्ति राज्य के सदस्यों के रूप में ही कर सकते हैं, समुदायों या संस्थाओं के सदस्यों के रूप में नहीं। अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

4- jkT; dk Lo: i tšod gš (State is Like an Organic)—अरस्तू के राज्य की एक विशेषता उसका स्वरूप जैविक अथवा आंगिक (Organic) है। जैविक सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण के बहुत से विभिन्न अंग होते हैं, प्रत्येक अंग का अपना पृथक कार्य होता है और प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व एवं जीवन के हेतु सम्पूर्ण पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है। जब अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय कहता है, तब उसके सिद्धान्त में राज्य का यही जैविक तत्व परिलक्षित होता है। उसने राज्य की तुलना शरीर से और व्यक्ति की तुलना हाथ जैसे अंग से की है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्ति में वही सम्बन्ध होता है जो शरीर और हाथ में है। उसने यह भी कहा है कि जिस प्रकार शरीर के किसी एक अंग में अत्यधिक वृद्धि होने से समस्त शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार राज्य के किसी एक तत्व में अत्यधिक वृद्धि होने से राज्य का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है।

5- jkT; , d vkRefuHkj I xBu gš (The State is Self & sufficient)—अरस्तू के अनुसार राज्य की एक प्रमुख विशेषता उसका आत्मनिर्भर होना है। आत्मनिर्भरता से अभिप्राय है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता है। अरस्तू ने 'आत्मनिर्भरता' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। उसने इसके लिए यूनानी शब्द 'आतरकिया' (Autarkia) का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है : 'पूर्ण निर्भरता'। अरस्तू के शब्दों में, 'आत्मनिर्भरता वह गुण है जिसके कारण और जिसके द्वारा जीवन स्वयं वांछनीय बन जाता है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता है। वस्तुतः अरस्तू ने आत्मनिर्भर शब्द का प्रयोग अतिव्यापक अर्थ में किया है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि राज्य न केवल व्यक्ति की भौतिक समस्याओं का समाधान करता है अपितु उसे अच्छा और सुखी सम्पन्न जीवन व्यतीत करने

में भी सहायता देता है। राज्य व्यक्ति के लिए उन समस्त परिस्थितियों का निर्माण करता है जो उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं। अरस्तू के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है, 'आत्मनिर्भरता का अर्थ है—राज्य में ऐसे भौतिक साधनों और ऐसी नैतिक प्रेरणाओं और भावनाओं की उपस्थिति जो किसी प्रकार की बाह्य भौतिक या नैतिक सहायता पर निर्भर करते हुए बिना पूर्ण मानव विकास को सम्भव बनाए।'

6- uxj jkT; I okfekd JSB jktulfrd I xBu gS(City State is the Higher Political Association) अरस्तू के लिए प्लेटो की ही भांति नगर राज्य सर्वाधिक श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन था। यद्यपि उसके जीवनकाल में ही फिलिप ने यूनान के नगर राज्यों का अन्त कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, लेकिन अरस्तू ने इन साम्राज्यों के सम्बन्ध में बिल्कुल भी विचार नहीं किया है। उसने तो आदर्श राज्य का चित्रण एक नगर राज्य के रूप में ही किया है। अरस्तू का यह नगर राज्य समस्त विज्ञान, कला, गुणों और पूर्णता में एक साझेदारी है।

7- jkT; fofokrk ea ,drk g (The State is a Unity in Diversity)—अरस्तू के अनुसार राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता श्विविधता में एकता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में एकता पर विशेष बल दिया है और वह सम्पूर्ण राज्य को एक परिवार का रूप देना चाहता था, किन्तु अरस्तू प्लेटो के एकता सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं है। प्लेटो के समान अरस्तू राज्य की चरम एकता पर बल न देकर, राज्य की विवधता में एकता का समर्थन करता है। अरस्तू के अनुसार राज्य का आदर्श स्वरूप, उसकी विविधता में एकता है। उसका निर्माण विभिन्न तत्वों के मिलने से होता है। जिस प्रकार सुन्दर चित्र विभिन्न रंगों के अनुपम मिश्रण से बनता है और जिस प्रकार मधुर संगीत की सृष्टि विभिन्न रागों और तालों के समन्वय से होती है, उसी प्रकार आदर्श राज्य का निर्माण उसके विभिन्न अंगों के उचित सामंजस्य और संगठन के आधार पर होता है। स्वयं अरस्तू ने कहा है, "राज्य जो स्वभाव से ही बहु-आयामी होता है। एकता की ओर अधिकाधिक बढ़ना तो राज्य का विनाश करना होगा।"

8- jkT; ,d Øfed fodkl gS (The State is a Gradual Evolution)—अरस्तू राज्य के विकासवादी सिद्धान्त का समर्थक है। उसके अनुसार राज्य का क्रमिक विकास हुआ है। राज्य का विकास उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार सावयवी जीवधारी का होता है। राज्य के विकास का रूप आंगिक (Organic) है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। अन्त में इनके पूर्ण रूप से विकसित हो जाने पर राज्य के दर्शन होते हैं।

9- jkT; ,d vke; kfRed l xBu gS (The State is a Spiritual Organism)—अरस्तू के अनुसार राज्य एक मानवीय समुदाय है, अतः इसका उद्देश्य मानव में सद्गुणों या अच्छी शक्तियों का विकास करना है। यह मानव को बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक श्रेष्ठता की प्राप्ति के साधन प्रदान करता है। तभी तो अरस्तू कहता है 'राज्य नैतिक जीवन में आध्यात्मिक समुदाय है।' (State is a spiritual association in moral life) जिस प्रकार व्यक्ति नैतिक जीवन का अनुसरण कर आनन्द की प्राप्ति करता है उसी प्रकार राज्य का आनन्द भी सकारात्मक अच्छाई का विकास करता है।

10- l foekku jkT; dh i gpkU gS (Constitution is the Identity of the State)—अरस्तू की धारणा है कि संविधान राज्य की पहचान है और संविधान में परिवर्तन राज्य में परिवर्तन करने के समान है।

11- jkT; vks 'kkl u esHkn (Distinction between State and Government)—अरस्तू ने राज्य और शासन में स्पष्ट भेद किया है। जहाँ राज्य समस्त नागरिकों और गैर- नागरिकों का समूह है वहाँ शासन उन नागरिकों का समूह है जिनके हाथ में सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता है। अरस्तू लिखता है शासन में परिवर्तन तो उसी समय आ जाता है जब शासकों को अपदस्थ कर दिया जाता है। राज्य में परिवर्तन तभी होता है जब उसके संविधान में परिवर्तन होता है।

अरस्तू के अनुसार राज्य के उद्देश्य एवं कार्य (Aims and Functions of the State According to Aristotle)

अरस्तू के अनुसार, "राज्य का अस्तित्व सद्जीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं। यदि इसका उद्देश्य मात्र जीवन को बनाये रखना होता तो गुलाम और जंगली जानवर भी राज्य बना लेते, परन्तु वे राज्य नहीं बना सकते क्योंकि न तो जीवन के आनन्द में उसका कोई हिस्सा होता है न वे अपनी पसन्द का जीवन जी सकते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि राज्य के कार्यों और उद्देश्यों के प्रति अरस्तू का दृष्टिकोण रचनात्मक और सकारात्मक (Positive) है। उसका यह दृष्टिकोण लॉक और स्पेन्सर जैसे व्यक्तियों के नकारात्मक और विध्वंसात्मक दृष्टिकोण से पूर्णतया भिन्न है। अरस्तू के अनुसार राज्य एक सकारात्मक अच्छाई है, अतः इसका कार्य केवल बुरे कामों अथवा अपराधों को रोकना नहीं वरन् मानव को नैतिकता और सद्गुणों के मार्ग पर आगे बढ़ाना है। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य है व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना और व्यवहार में उसके द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए जो इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों। संक्षेप में, अरस्तू राज्य को निम्न कार्य सौंपता है

1. अपने सदस्यों के लिए पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की व्यवस्था करना। आत्मनिर्भरता का व्यापक अर्थ है—व्यक्ति न केवल भौतिक उपकरणों की दृष्टि से ही आत्मनिर्भर हों, अपितु नैतिक प्रोत्साहनों एवं प्रेरणाओं की दृष्टि से भी आत्मनिर्भर बनें। इस विस्तृत अर्थ में आत्मनिर्भरता की प्राप्ति का एकमात्र साधन राज्य है।

2. उत्तम और आनन्दपूर्ण जीवन का निर्माण—उत्तम जीवन की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि यह एक ऐसा जीवन है जो उत्तम कार्य और उत्तम आचरणों से ओत-प्रोत है। नैतिक और बौद्धिक सद्गुण ही उत्तम जीवन के मुख्य तत्व हैं और इन दोनों की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन अपरिहार्य हो जाते हैं। बाह्य साधनों में आर्थिक व्यवस्था और शारीरिक स्वास्थ्य को मुख्य माना गया है। अरस्तू आनन्द को शसत् से पृथक् नहीं करता। अरस्तू के शब्दों में, फ़हमें यह मानना होगा कि हर व्यक्ति में आनन्द

की मात्रा उसके द्वारा किये गये उत्तम और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों तथा उत्तमता और बुद्धिमत्ता के गुणों के अनुसार प्राप्त होती है। सार यह है कि मनुष्य का उद्देश्य एक नैतिक और आनन्दपूर्ण जीवन बिताना है और राज्य ऐसे जीवन को सम्भव बनाने के लिए स्थित है और इस प्रकार स्वयं एक नैतिक संस्था है।

3. राज्य का एक प्रमुख कार्य अरस्तू ने नागरिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना माना है। शिक्षा को कुछ अर्थों में अरस्तू ने प्लेटो से भी अधिक महत्व दिया है। इसकी संस्थाओं का उद्देश्य मनुष्यों को उत्कृष्ट बनाना है—न केवल बौद्धिक स्तर पर बल्कि नैतिक और भौतिक स्तर पर भीय न केवल बाल्यकाल बल्कि उनके सम्पूर्ण जीवन के दौरान। राज्य नागरिक के लिए पाठशाला होना चाहिए।

4. शिक्षा सम्बन्धी कार्य के साथ ही अरस्तू ने राज्य का यह कार्य भी माना है कि वह नागरिकों के लिए अवकाश जुटाने का प्रयत्न करे। ए. के. रोगर्स के अनुसार, चूंकि अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन का निर्माण है और यह अवकाश से ही सम्भव है।

संक्षेप में, राज्य के कार्यक्षेत्र के बारे में अरस्तू के विचार से स्पष्ट है कि वह राज्य के अत्यन्त व्यापक कार्यक्षेत्र का समर्थक था। जहाँ ग्रीन और लॉक जैसे आधुनिक विचारक राज्य के लिए सीमित कार्य-क्षेत्र की चर्चा करते हैं वहाँ अरस्तू ने यह घोषणा की है कि राज्य 'अच्छे जीवन' की स्थापना के लिए यथासम्भव प्रयत्नशील रहे। व्यक्तिवादियों के इस मत से अरस्तू बिल्कुल भी सहमत नहीं हो सकता था कि राज्य का कार्य-क्षेत्र अधिक से अधिक सीमित हो। साथ ही उसके विचार उन आदर्शवादियों से भी मेल नहीं खाते जो राज्य के नकारात्मक (Negative) कार्य-क्षेत्र को उचित ठहराते हैं। अरस्तू की यह स्पष्ट धारणा थी कि राज्य का कार्य-क्षेत्र सकारात्मक (Positive) होना चाहिए। राज्य को वे सब कार्य करने चाहिए जो अच्छे जीवन की स्थापना को सम्भव बनाए।

राज्य का व्यापक कार्य-क्षेत्र अरस्तू निःसंकोच रूप से इसलिए निर्धारित कर पाया क्योंकि वह यूनानी दार्शनिक था। यूनानियों के लिए उस काल में राज्य अत्यन्त व्यापक समुदाय था। यह उनका राजनीतिक संगठन ही नहीं था, अपितु उनका समाज, उनका धार्मिक समुदाय एवं उनका आर्थिक संगठन भी था।

अरस्तू द्वारा संविधानों का वर्गीकरण अरस्तू ने प्लेटो द्वारा स्टेट्समैन में किये राज्यों के वर्गीकरण को ही अपनाया है। पॉलिटिक्स के तीसरे भाग में संविधानों का वर्गीकरण किया गया है। – अरस्तू संविधान की परिभाषा देते हुए लिखता है, प्यह (विधान) राज्य में विभिन्न पदों का संगठन है, जिससे उनकी वितरण विधि को निश्चित किया जाता है, सार्वभौम सत्ता का निर्धारण किया जाता है एवं समुदाय तथा उसके समस्त सदस्यों द्वारा अंगीकार लक्ष्य की प्रकृति का निर्णय किया जाता है। अरस्तू के अनुसार, “राज्य के विभिन्न मनुष्यों के विशेष नियमों का नाम ही संविधान है। इस प्रकार संविधान एक जीवन पद्धति है. जीवन निर्वाह का एक विशेष मार्ग है।”

जहाँ पहली परिभाषा में संविधान के राजनीतिक स्वरूप की ओर संकेत करता है वहाँ दूसरी परिभाषा में अरस्तू संविधान के नैतिक रूप की ओर इशारा करता है।

संविधान की परिभाषाओं से स्पष्ट है

1. संविधान द्वारा ही राज्य की रूपरेखा एवं राज्य का आकार-प्रकार तय होता है।
2. राज्य के प्रशासन का रूप, शासन के विभिन्न अंगों में सत्ता का वितरण संविधान द्वारा सुनिश्चित होता है।
3. संविधान द्वारा राज्य व लोगों का लक्ष्य निर्धारित होता है।
4. संविधान के आधार पर ही राज्यों का निर्माण तथा अन्त होता है।
5. संविधान सर्वोच्च सत्ता को निश्चित करता है।

संविधानों का वर्गीकरण

संविधान का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण अरस्तू द्वारा इस प्रकार किया गया है

1- $1 \dot{\bar{a}} ; k ds v k e k j i j$ प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग कितने व्यक्ति करते हैं।

2- $m i \dot{\bar{a}} ; ds v k e k j i j$ अर्थात् शासन करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थसिद्धि।

अरस्तू ने निम्न वर्गीकरण दिया है

शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या	शुद्ध रूप	विकृत रूप
एक व्यक्ति	राजतंत्र	निरंकुश तंत्र (Tyranny)
कुछ व्यक्ति	कुलीन तंत्र (Aristocracy)	वर्गतंत्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्ति	बहुतंत्र (Polity)	भीड़तंत्र या प्रजातंत्र (Democracy)

अरस्तू के अनुसार संविधान का सर्वश्रेष्ठ रूप राजतंत्र है पर जब राजा जनहित से मुंह मोड़ कर अपने स्वार्थ की सिद्धि में लिप्त हो जाता है तब राजतंत्र निरंकुशतंत्र में बदल जाता है। कुछ समय बाद निरंकुश शासन से पीड़ित होने के कारण कुछ योग्य व्यक्ति कुलीनतंत्र की स्थापना करते हैं। कुछ समय बाद ये लोग अपने स्वार्थ साधन में लिप्त हो जाते हैं। परिणामतः वर्गतंत्र की स्थापना हो जाती है। धनिक तंत्र शोषण करता है तब जनता बगावत कर देती है

और बहुतंत्र भीड़तंत्र में बदल जाता है जो संविधान का निकृष्टतम रूप है। इस परिवर्तन का क्रम है—राजतंत्र, निरंकुशतंत्र, कुलीनतंत्र, वर्गतंत्र, प्रजातंत्र और भीड़तंत्र। यह परिवर्तन चक्र निरन्तर चलता रहता है।

अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण की आलोचना भी की जाती है, इस वर्गीकरण में

1. मौलिकता का अभाव है।
2. अरस्तू राज्य व सरकारों में अन्तर नहीं कर पाता।
3. संविधान, राज्य और शासन शब्दों में स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया है।
4. अरस्तू का संख्यावाचक वर्गीकरण अवैज्ञानिक है।
5. प्रजातंत्र को वर्गीकरण में उचित स्थान नहीं मिला है।
6. यह परिवर्तन चक्र त्रुटिपूर्ण है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए भी अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व है। राजनीति विज्ञान में यह पहला व्यवस्थित वर्गीकरण था। अन्य विचारकों ने भी सरकारों के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया है। इन सबके वर्गीकरण का स्रोत अरस्तू का ही वर्गीकरण है। अरस्तू का वर्गीकरण ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण था।

अरस्तू के अनुसार शिक्षा व्यवस्था

नागरिकों का चरित्र पूर्णरूप से उनकी शिक्षा पर निर्भर करता है, इसलिए राज्य के द्वारा शिक्षा पर ध्यान दिया जाना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास करना होता है और यह नागरिकों को इस योग्य बनाती है कि वे अपने सार्वजनिक कर्तव्यों का उचित रूप में सम्पादन कर सकें। अरस्तू के अनुसार एक आदर्श राज्य के लिए एक ही प्रकार की अनिवार्य और सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। अरस्तू ने प्लेटो के समान ही शिक्षा के महत्व पर अत्यधिक बल दिया है और उसकी शिक्षा योजना प्लेटो की योजना के अनुरूप ही है।

शिक्षा मानवीय विकास के स्वाभाविक क्रम को दृष्टि में रखते हुए उसके अनुसार ही होनी चाहिए। उसने शिक्षा को तीन स्तरों में विभाजित किया है। प्रथम 7 वर्ष की आयु तक शरीर सम्बन्धी शिक्षा होनी चाहिए। 7 से 14 वर्ष की आयु तक क्रोध, इच्छा और कामना, आदि तत्वों पर नियन्त्रण रखने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और सबसे बाद में 14 से 21 वर्ष की आयु तक विवेक बुद्धि को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

जन्म से 9 वर्ष की आयु तक वह समुचित भोजन तथा शारीरिक व्यायाम की व्यवस्था करता है, क्योंकि स्वस्थ मस्तिष्क के लिए स्वस्थ शरीर का विकास आवश्यक है। 5 वर्ष की आयु तक बच्चों के द्वारा केवल खेल खेले जाने चाहिए। उन्हें अनुचित कहानियों व अनुचित दृश्यों से अलग रखा जाना चाहिए। 7 वर्ष की आयु तक के शिक्षण की व्यवस्था घर पर ही होनी चाहिए।

7 से 14 वर्ष की आयु के द्वितीय काल में पढ़ाई, लिखाई, चित्रकला, संगीत और व्यायाम की शिक्षा दी जानी चाहिए। विषयों की उपयोगिता तथा नैतिक चरित्र पर उसके प्रभाव का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। इन विषयों में अरस्तू ने संगीत की शिक्षा को बहुत महत्व दिया है। अरस्तू संगीत को आत्मा का गुण मानता है और उसका विचार है कि जब तक संगीत की शिक्षा नहीं होगी, तब तक मनुष्य की आत्मा और चरित्र का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा।

21 वर्ष की आयु के इस अन्तिम काल में राज्य की सेवा के लिए प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। उन्हें आज्ञापालन करने और शासन करने की शिक्षा प्रदान की जाती है। इस काल में विशेष ध्यान विवेक और मानसिक शक्ति के विकास की ओर दिया जाना चाहिए।

अरस्तू के अनुसार एक नागरिक को राज्य में उचित प्रकार से कार्य करने के लिए शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। शिक्षा का उद्देश्य नागरिक को संविधान की आत्मा से परिचित कराना होता है और उचित शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही व्यक्ति स्वयं को संविधान के अनुरूप ढाल सकता है। इस प्रकार प्लेटो की तरह अरस्तू भी मानता है कि शिक्षा का एक राजनीतिक उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह राज्य नियन्त्रित शिक्षा योजना प्रस्तावित करता है।

अरस्तू की शिक्षा योजना की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) अरस्तू ने अपनी योजना के अन्तर्गत संगीत को अनावश्यक रूप से अधिक महत्व प्रदान किया है।

(2) शिक्षा योजना में साहित्य और ललित-कलाओं को कम महत्व दिया गया है।

(3) वह बौद्धिक शिक्षा को बहुत देर से 14 वर्ष की आयु में प्रारम्भ करता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्री इसे इतनी उम्र बाद प्रारम्भ करना ठीक नहीं समझते।

(4) अपनी शिक्षा योजना को नागरिकों तक ही सीमित रखकर अरस्तू राज्य के अन्दर नागरिकों और अनागरिकों के बीच कभी भी न पाटी जा सकने वाली खाई पैदा कर देता है।

प्लेटो और अरस्तू की शिक्षा योजनाओं में बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू 21 वर्ष की उम्र में शिक्षा समाप्त कर देता है जबकि प्लेटो इसे अभिभावक वर्ग के लिए 35 वर्ष की उम्र तक जारी रखना चाहता है और शिक्षा को जीवन के अन्तिम समय तक चलने वाली प्रक्रिया समझता है।

अरस्तू द्वारा वर्णित सामाजिक व्यवस्था

अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत दास प्रथा, सम्पत्ति और परिवार के सम्बन्ध में उसकी विचारधारा का अध्ययन सम्मिलित है।

दास प्रथा राज्य और सामाजिक व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू ने दासता पर भी विचार व्यक्त किये हैं। यूनानी जगत् में होमर के समय में दास प्रथा सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग थी। खेती-बाड़ी, आर्थिक उत्पादन के कार्य तथा शारीरिक परिश्रम के घरेलू कार्य दासों के द्वारा ही किये जाते थे, किन्तु अरस्तू के पूर्व एण्टीफोन, आदि कुछ सोफिस्ट विचारकों ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि, 'दास प्रथा प्राकृतिक न होकर परम्परागत है और यह मानवीय समानता के आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।' लेकिन अरस्तू इस सम्बन्ध में भी सोफिस्ट वर्ग के विचारों का विरोध करते हुए दास प्रथा को न्यायोचित बताता है। उसका कहना है कि परिवार की व्यवस्था के लिए सजीव और निर्जीव दो प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है। सम्पत्ति एक निर्जीव साधन है और दास एक सजीव साधन। अरस्तू के द्वारा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर दास प्रथा को औचित्यपूर्ण बताया गया है

अरस्तू सर्वप्रथम मानव मात्र की प्राकृतिक असमानता के आधार पर दासता का समर्थन करता है। अरस्तू का विचार है कि बुद्धि, योग्यता और गुण की दृष्टि से व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं। प्रकृति के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग गुण प्रदान किये जाते हैं। वह नहीं चाहती कि सभी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से समान हों। एक ओर बहुत अधिक बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं जो बुद्धिमत्ता के आधार पर शासन करने और निर्देश देने की योग्यता रखते हैं, दूसरी ओर ऐसे बुद्धिहीन व्यक्ति होते हैं जो केवल आज्ञापालन की क्षमता रखते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रथम श्रेणी के व्यक्ति स्वामी और द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति सेवक होते हैं। प्रथम वर्ग मानसिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है और द्वितीय वर्ग शारीरिक शक्ति का। पारिवारिक कार्यों के लिए इन दोनों का सम्मिलन आवश्यक होता है और इसलिए दासता प्रकृति के अनुकूल है।

दास प्रथा इस दृष्टि से भी न्यायोचित है कि यह स्वामी वर्ग के व्यक्तियों और सम्पूर्ण समाज के लिए लाभप्रद है। समाज का कल्याण इसी बात में है कि विवेक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास करें। गुणों का यह विकास तभी सम्भव है जबकि इस वर्ग के

व्यक्तियों को पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो और यह अवकाश उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जबकि दास वर्ग इस उच्च वर्ग की घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम करे। इस प्रकार दास प्रथा के बिना बुद्धिमान व्यक्ति अपने उच्चतम गुणों का विकास नहीं कर सकेंगे। अरस्तू एक स्थान पर लिखते हैं कि जिस प्रकार वीणा, आदि वाद्य यन्त्रों की सहायता के बिना उत्तम संगीत उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार दासों के बिना स्वामी के उत्तम जीवन का तथा बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास सम्भव नहीं है।

अरस्तू के अनुसार दास प्रथा न केवल प्राकृतिक वरन् इस दृष्टि से नैतिक भी है कि यह स्वयं दासों के जीवन के विकास के लिए भी आवश्यक है। दास विवेकशून्य प्राणी होता है, किन्तु बुद्धिमान वर्ग के व्यक्तियों के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण उसे विवेक और गुण का आवश्यक अंश प्राप्त हो पाता है। स्वामी के धर्मशील जीवन में भाग लेने से उसका नैतिक उत्थान और उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। स्वयं अरस्तू के शब्दों में, 'जो जन्मजात दास हैं, उनके जीवन में संयम का पालन तभी हो सकता है जब वे संयमी व्यक्ति के निर्देशन में काम करें। इस प्रकार दास प्रथा स्वयं दास के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।'

अरस्तू ने एक और कारण से भी दासता को न्यायपूर्ण कहा है। उसके समय में दास प्रथा लगभग सम्पूर्ण यूनानी जगत् में प्रचलित थी और यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा स्थायित्व का एक अंग बन गयी थी। यूनानी नगर राज्यों में दासों का एक बहुत बड़ा वर्ग होता था और सारी अर्थव्यवस्था इन पर ही टिकी हुई थी। ऐसी स्थिति में दास प्रथा को अस्वीकार करने से न केवल नगर राज्यों का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने का डर था, वरन् इन राज्यों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के ध्वस्त होने की आशंका थी, अतः अरस्तू ने दास प्रथा का समर्थन किया।

दास प्रथा की आलोचना भी की जाती है।

1. मानव समूह को अरस्तू उच्च वर्ग और बुद्धिहीन वर्ग में विभाजित करता है यह संभव नहीं है।
2. मानव समाज को विभाजित करने का कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है।
3. अरस्तू द्वारा मानव समाज को स्वामी और दास वर्गों में विभाजित करने का परिणाम अव्यवस्था और उपद्रव ही होता है।

4. अरस्तू द्वारा किया गया दास प्रथा का समर्थन स्वतंत्रता और समानता की वर्तमान मान्यताओं के बिल्कुल विरुद्ध है।

5. अरस्तू के दास प्रथा सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास पाया जाता है। दास को अरस्तू शारीरिक दृष्टि से शक्तिपूर्ण व बुद्धिहीन मानता है किन्तु स्वामी के साथ रहकर वह अपना विकास कर भी लेता है। विरोधाभास यह है कि जन्मजात बुद्धिहीन दास अपना विकास कैसे कर सकता है।

वर्तमान समय की प्रजातंत्रीय पृष्ठभूमि में अरस्तू की दास प्रथा सम्बन्धी विचार ठीक नहीं लगते हैं।

अरस्तू के सम्पत्ति विषयक विचार (Aristotles Views on Property)

अरस्तू ने अपने सम्पत्ति सिद्धान्त का प्रारम्भ प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद के सिद्धान्त के सन्दर्भ में ही किया है। वह प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद का विरोध करते हुए कहता है कि सामान्य स्वामित्व विश्व को संकट में डाल देगा, आपसी झगड़े पैदा हो जायेंगे। ये झगड़े उस समय कम होंगे जिस समय सब मनोरंजन और मेहनत में बराबर नहीं होंगे। जो ज्यादा मेहनत करते हैं और कम प्राप्त करते हैं, निश्चित रूप से उनके विरुद्ध शिकायत करेंगे जो कम मेहनत करते हैं और अधिक उपयोग करते हैं। अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना में निम्न तर्क प्रस्तुत करता है:

1- ifjJeh 0; fä dsçk&l kgu dh l ekflr&सम्पत्ति के सामूहिक होने की व्यवस्था में जो व्यक्ति कठोर परिश्रम करने वाले होंगे, उन्हें यह शिकायत होगी कि उन्हें अपने परिश्रम के अनुपात में कम प्रतिफल मिलता है और कम परिश्रम करने वालों को अधिक प्रतिफल मिलता

2- >xMka dh tM&सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक उपयोग सब प्रकार के झगड़ों की जड़ होते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है कि साझे की हंडिया चौराहे पर ही फूट जाती है।

3- oş fäd ykk dh çj .kk dk vllko&मनुष्य तभी अधिक क्षमता, परिश्रम, तन्मयता तथा अभिरुचि के साथ कार्य करते हैं, जब उन्हें वैयक्तिक लाभ की प्राप्ति की सम्भावना होती है। सामूहिक लाभ की दृष्टि से किए जाने

वाले कार्यों में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं होती, वे इसके लिए कोई परिश्रम नहीं करना चाहते हैं।

4- I Ei fūk , d çj .kk 'kfä o , d LokHkfod vko' ; drk&अरस्तू को प्लेटो के साम्यवाद के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि प्लेटो ने सम्पत्ति के गुणों की अवहेलना की है। प्लेटो सम्पत्ति को एक बुराई, एक अवगुण तथा पथ विचलित करने वाली एक दुर्बलता मानता है जबकि अरस्तू इसे एक गुण, एक प्रेरणा शक्ति व एक स्वाभाविक आवश्यकता मानता है। उसका मत है कि सम्पत्ति परिवार का एक आवश्यक अंग है। सम्पत्ति के बिना एक स्वस्थ और सुखी जीवन सम्भव नहीं है।

5- I Ei fūk vkRel Eeku o vkuln çnku djrh g&निजी सम्पत्ति से मनुष्य को आत्मसम्मान का आनन्द प्राप्त होने के कारण उत्साह तथा अधिक कार्य करने का जोश भरा रहता है। इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति व्यक्तित्व के विकास में सहायक है। सम्पत्ति के अभाव में मनुष्य कितनी ही आवश्यकताओं की पर्ति से वंचित रह जाता है।

6- I ekt ea>xMsdk dkj .k I Ei fūk ugh&वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण समाज में जो झगड़े उत्पन्न होते हैं, उनका कारण सम्पत्ति का वैयक्तिक होना नहीं, किन्तु मानवीय प्रकृति की दुष्टता है। शिक्षा द्वारा यदि मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाए तो ये झगड़े उत्पन्न नहीं होंगे।

7- vufrgkfl d&ऐतिहासिक आधार पर भी अरस्तू प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना करता है। उसका तर्क है कि यदि सम्पत्ति का साम्यवाद कोई श्रेष्ठ व्यवस्था होती तो इतिहास उससे अवगत होता। इस व्यवस्था को विभिन्न राज्यों में अपनाया गया होता। अरस्तू का मत है कि जिस व्यवस्था को समाज टुकराता है, वह आवश्यक रूप से दोषपूर्ण होगी।

8- veukoKkfud&अरस्तू का मत है कि जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साम्यवादी व्यवस्था का आयोजन किया गया है, इसके द्वारा उन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्लेटो जिन बुराइयों को दूर करना चाहता है वे बुराइयाँ सम्पत्ति पर स्वामित्व को समाप्त करने से दूर नहीं हो जायेंगी। सम्पत्ति के साम्यवाद से मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, लालच, शोषण व अन्य भावनाएँ समाप्त नहीं हो जायेंगी। ये सब मानसिक रोग हैं, इनका उपचार भी मानसिक होना चाहिए।

9- अरस्तू का मत है कि सम्पत्ति का साम्यवाद अव्यावहारिक है। उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। साम्यवादी व्यवस्था को लागू करने से कितनी ही नई समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी जो पहली समस्याओं की अपेक्षा अधिक भीषण होंगी। इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो जाएगा और मनुष्य एक स्वचालित यन्त्र होगा।

अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार ? (Aristotle's Views on Property)

अरस्तू ने पॉलिटिक्स की प्रथम पुस्तक के तीन अध्यायों में सम्पत्ति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तू सम्पत्ति को व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक समझता है। प्लेटो अपने आदर्श राज्य में दो वर्गों—सैनिकों तथा शासकों के लिए सम्पत्ति का निषेध करता है, परन्तु अरस्तू समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति को अत्यन्त आवश्यक मानता है। अरस्तू के अनुसार वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का साधन है, उसके आनन्द का स्रोत है और उसे अनेक उत्तम एवं नैतिक कार्य करने का अवसर प्रदान करती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता तथा योग्यताओं का विकास करने के लिए कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए, यदि उसे यह न दी जाय तो उसका विकास अवरुद्ध होगा तथा अन्ततोगत्वा इससे राज्य को हानि उठानी पड़ेगी।

I E i f l k d k v f k (Meaning of Property)—अरस्तू के अनुसार, 'सम्पत्ति परिवार का एक अंग होती है तथा सम्पत्ति प्राप्त करने की कला गृह प्रबन्ध का एक अंग होती है।' सम्पत्ति की परिभाषा करते हुए उसने लिखा है, "सम्पत्ति उन वस्तुओं का संग्रह है जो राज्य या परिवार में जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक और उपयोगी होता है। मानव जीवन को सुखी बनाने वाला महत्वपूर्ण साधन मानते हुए वह सम्पत्ति के बारे में लिखता है—सम्पत्ति परिवार व राज्य में प्रयोग किये जाने वाले साधनों या उपकरणों का संग्रह है। सम्पत्ति के अन्तर्गत वे सभी वस्तुएँ आ जाती हैं जो परिवार के सदस्यों के दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। परिवार में रहने वाले व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकता होती है, अरस्तू के अनुसार ये सभी सम्पत्ति के भी भाग हैं।

I Ei fũk dk mĩs ; (Aims for Property)—अरस्तू निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का प्रबल समर्थक है। उसके अभिमत में निजी सम्पत्ति की व्यवस्था सम्पूर्ण समाज के लिए हितकर है और इसे सभी व्यक्तियों के लिए मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। अरस्तू का तो विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति से अधिक उपयोगी है बशर्ते कि उसका प्रयोग सामाजिक क्षेत्र में परम्पराओं व रीति-रिवाजों द्वारा और राजनीतिक क्षेत्र में उचित कानून द्वारा नियन्त्रित हो।

निजी सम्पत्ति के औचित्य के पक्ष में अरस्तू अनलिखित तर्क प्रस्तुत करता है

(1) यह सामाजिक अर्थव्यवस्था का एक सामान्य अंग है। उसका कथन है कि शजब प्रत्येक का विशेष स्वार्थ होगा तो व्यक्ति अधिक प्रगति करेंगे क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य पर पूरा ध्यान देगा। व्यक्ति उस समय निश्चित रूप से कठिन परिश्रम करेंगे जबकि उनका निजी स्वार्थ उसमें निहित होगा। इस प्रकार व्यक्ति के कठिन परिश्रम से सम्पूर्ण समाज को लाभ प्राप्त होगा।

(2) यह परिवार के अस्तित्व और उसके सुचारु संचालन के लिए अपरिहार्य है। सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति जीवन की सुरक्षा प्राप्त करता है।

(3) सम्पत्ति मित्रता, उदारता, अतिथि सत्कार आदि के समान सद्गुणों को क्रियात्मक रूप प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं।

(4) सम्पत्ति से वंचित व्यक्ति उन अनेक लाभों से वंचित हो जाता है जो सम्पत्ति के होने से अनायास ही उसे प्राप्त होते हैं। यथा, सम्पत्ति होने पर व्यक्ति अनेक नैतिक अच्छाइयों, दानशीलता, उदारता, अनेक प्रकार के आत्मसन्तोष एवं प्राकृतिक आनन्द का लाभ उठा सकता है।

(5) अरस्तू मनोवैज्ञानिक आधार पर भी निजी सम्पत्ति की संस्था का समर्थन करता है। सम्पत्ति सुख का एक साधन है क्योंकि सभी या लगभग सभी व्यक्ति सम्पत्ति से प्रेम करते हैं।

(6) निजी सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तियों में नागरिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करता है। सम्पत्तिहीन व्यक्ति राज्य के कार्यों में कोई रुचि नहीं लेता, लेकिन जिन व्यक्तियों के पास निजी सम्पत्ति होती है, वे इसकी रक्षा के लिए राज्य की ओर देखते हैं और राज्य के कार्यों में रुचि लेते हैं।

(7) जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति होती है, वे इसका प्रबन्ध करना जानते हैं और अपने इस प्रकार के अनुभव के आधार पर राज्य के प्रबन्ध में उपयोगी रूप से भाग ले सकते हैं। इसी कारण अरस्तू नागरिकता का अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को देना चाहता है, जिनके पास निजी सम्पत्ति हो।

I Ei fũk dsçdkj (Kinds of Property)—अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति दो प्रकार की होती है

- (1) सजीव सम्पत्ति (Animate Property)—जैसे—दास, सेवक, बैल, गाय, घोड़े आदि।
- (2) निर्जीव सम्पत्ति (Inanimate Property)—जैसे—खेत, मकान, मुद्रा, कृषि के औजार, आदि।

यह दोनों प्रकार की सम्पत्ति परिवार के लिए उपयोगी है। स्वस्थ परिवार में दोनों प्रकार की सम्पत्ति का होना आवश्यक है।

I Ei fũk dh fo'kškrk, j (Characteristics of Property)—अरस्तू ने सम्पत्ति की दो विशेषताएँ बतलायी हैं

(1) **I ekt dh Loh—fr** (Social Recognition)—सम्पत्ति समाज द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए। अरस्तू उस वस्तु को सम्पत्ति नहीं मानता जो समाज की दृष्टि में सम्पत्ति नहीं है, भले ही किसी व्यक्ति या वर्ग का उस पर अधिकार हो और वह उनकी किसी आवश्यकता की पूर्ति करती हो।

(2) **jkT; dk I j{k.k** (State Protection)—सम्पत्ति को राज्य का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए, चाहे वह वैयक्तिक सम्पत्ति हो अथवा चाहे सार्वजनिक।

I Ei fũk dh I hek, j (Limits of Property)—अरस्तू निजी सम्पत्ति के औचित्य को स्वीकार करता है, किन्तु वह सम्पत्ति को एक साधन मात्र मानता है और उसके अनुसार सम्पत्ति की कुछ सीमाएँ हैं। प्रत्येक परिवार में उतनी ही सम्पत्ति होनी चाहिए, जितनी उसके समुचित जीवन—यापन के लिए आवश्यक हो। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का होना उतना ही बुरा है जितना कि आवश्यकता से कम होना।

अरस्तू ने सम्पत्ति की सीमा को निम्नलिखित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है : 'अपना कार्य करने के लिए हथौड़ा भारी होना चाहिए, पर इसका

अभिप्राय यह नहीं है कि लुहार उसे अधिक-से-अधिक भारी बना दें। जो कार्य हथौड़े द्वारा किया जाना है, वहीं कार्य उसके भार को सीमित कर देता है और अच्छा लुहार इस सीमा को ध्यान में रखता है। इस उदाहरण से अरस्तू का अभिप्राय है कि जिस प्रकार हथौड़े का भार उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य से सीमित होता है, उसी प्रकार सम्पत्ति की सीमा उसके उस कार्य से निश्चित की जानी चाहिए जो उसके द्वारा किया जाना है। जिस प्रकार आवश्यकता से अधिक भारी हथौड़ा बनाना गलती है, उसी प्रकार उससे अधिक सम्पत्ति का संचय करना गलती है, जितनी कि समुचित जीवन के लिए आवश्यक है। अरस्तू के शब्दों में, "अत्यधिक सम्पत्ति का संचय करना उतनी ही बड़ी गलती है जितनी अत्यधिक भारी हथौड़ा बनाना।"

वस्तुतः सम्पत्ति के सम्बन्ध में मध्य मार्ग का अवलम्बन किया है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसका स्पष्ट विचार है कि उसका उपार्जन या उत्पादन उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जिस सीमा तक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हो जाती है। सम्पत्ति एक साधन है, साध्य नहीं। साधन को साध्य से सीमित होना चाहिए तभी उसकी उपयोगिता और सार्थकता कायम रह सकती है। असीमित सम्पत्ति अरस्तू के अनुसार नैतिकता का हनन करती है। यह मनुष्य को उसके असल उद्देश्य से विमुख करती है। इसके चक्कर में पड़कर मनुष्य लालची, कृपण, बिलासी तथा अन्य अनेक दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। अतः सम्पत्ति उतनी ही मात्रा में संचित की जानी चाहिए जितनी समुचित जीवन के लिए आवश्यक है।

I E i f ū k d k m i k t ū (Ways of Acquiring Property)—अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति के उपार्जन की दो विधियाँ हैं रू

- (1) प्राकृतिक विधि (Natural ways), तथा
- (2) अप्राकृतिक विधि (Unnatural way) !

सम्पत्ति के उत्पादन के लिए अपने श्रम और प्रकृति पर निर्भर रहना प्राकृतिक विधि से सम्पत्ति उपार्जन का तरीका है। प्राकृतिक उपायों के अन्तर्गत उन कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जिसके आधार पर जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। कृषि, पशुपालन, शिकार को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

अप्राकृतिक विधि में व्यक्ति सम्पत्ति के उत्पादन के लिए अपने परिश्रम

और प्रकृति पर निर्भर नहीं रहते हैं। वे अपने ही श्रम पर निर्भर रहने वाले व्यवसायों को न करके दूसरे व्यक्तियों से अनुचित रूप से धन का अर्जन करने वाले व्यवसायों में संलग्न रहते हैं। अरस्तू व्यापार को सम्पत्ति प्राप्त करने का अप्राकृतिक साधन मानता है क्योंकि इसका उद्देश्य सम्पत्ति का संग्रह होता है। व्यापार-व्यवसाय में अत्यधिक मुनाफा कमाकर अपार सम्पत्ति संग्रह का प्रयत्न किया जाता है, इसलिए अरस्तू इसे सम्पत्ति प्राप्त करने का अप्राकृतिक साधन मानता है।

धनोपार्जन के समस्त उपायों में सूदखोरी को अरस्तू ने सबसे हेय और निन्दनीय माना है। “धन कमाने के उपायों में ब्याज लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक है क्योंकि इसमें दूसरे की गरीबी और बेबसी का लाभ उठाते हुए पैसे द्वारा अधिक पैसा पैदा किया जाता है।”

अरस्तू का मत है कि केवल प्राकृतिक उपायों द्वारा ही सम्पत्ति को प्राप्त करना चाहिए। सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए अप्राकृतिक उपायों का सहारा लेना सर्वथा अनुचित है!

I Eifuk dk forj.k rFkk Lokfero (The Distribution and Ownership of Property) अरस्तू ने सम्पत्ति के वितरण का भी सुन्दर विवेचन किया है। अरस्तू धन के दूषित वितरण और आर्थिक विषमता को रोकने के लिए तीन वैकल्पिक व्यवस्थाओं का वर्णन करता है रू

(1) भूसम्पत्ति वैयक्तिक हो, किन्तु इसका उपयोग सामूहिक हो, सब लोग इसका समान रूप से उपयोग कर सकें।

(2) सम्पत्ति सामूहिक हो, पर इसका उपयोग वैयक्तिक हो। (3) सम्पत्ति सामूहिक हो और इसका उपयोग भी सामूहिक हो।

अरस्तू इन तीनों में से पहले विकल्प के पक्ष में है। उसका कथन है कि सम्पत्ति का स्वामित्व चाहे व्यक्तिगत हो, परन्तु उसका उपयोग सामूहिक रूप से होना चाहिए (It is clearly better that property should be private but the use of it common)। अरस्तू के अनुसार सामूहिक उपयोग के द्वारा समाज सम्पत्ति के दोषों व दुर्गुणों से बचा रहेगा, परन्तु क्या व्यक्तिगत स्वामित्व और सामूहिक उपभोग दोनों साथ-साथ सम्भव हैं? इस सम्बन्ध में अरस्तू निम्न उपाय बताता है—(i) भूखण्ड पृथक् व्यक्तियों की सम्पत्ति रहे पर उनकी उपज सबके उपभोग के लिए एक सार्वजनिक स्थान पर एकत्रित की

जाए, अथवा (ii) भूमि पर सबका समान अधिकार हो और उपज बांट दी जाए. अथवा (iii) भूमि सब व्यक्तियों में समान रूप से बांट दी जाए तथा उसकी उपज स्वयं ही सबको समान प्राप्त होगी।

दूसरे और तीसरे विकल्प का खण्डन करते हुए अरस्तू कहता है कि (i) जो वस्तु सबकी होती है, वह वास्तव में किसी की नहीं होती, (ii) यदि किसी वस्तु के सभी स्वामी होते हैं, तो किसी में भी उसके प्रति उत्तरदायित्व की भावना नहीं होती (iii) यदि सब व्यक्तियों को अपने परिश्रम के अनुपात में पुरस्कार नहीं मिलता है, तो उनमें पारस्परिक संघर्ष या वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है।

अरस्तू ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन तो किया है, पर इसके साथ ही उसने इस सम्पत्ति के वितरण में कुछ सीमा तक असमानता को भी आवश्यक बताया है। इस विषय में उसका तर्क यह है कि सम्पत्ति का असमान वितरण, धनी व्यक्तियों के लिए जन-सेवा के अवसर सुलभ बनाता है। यदि धन का असमान विभाजन न हो, तो सार्वजनिक कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों का कहीं चिन्ह भी न मिले।

इससे अरस्तू का अभिप्राय यह नहीं है कि सम्पत्ति के वितरण में अत्यधिक विषमता हो। इसके विपरीत, वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का विभाजन निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत चाहता है। विभाजन में अत्यधिक असमानता वर्ग संघर्षों और क्रान्तियों को जन्म देती है। अरस्तू के शब्दों में, "सम्पत्ति की समुचित व्यवस्था करना ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि यही एक ऐसा विषय है, जिससे सर्वदा क्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

vjLrwdsI Ei fùk I Eclèkh fopkjkdck eW; kdu (An Estimate of Aristotle's views on Property)—यद्यपि अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद को स्वीकार नहीं करता, किन्तु वह प्लेटो के ही समान सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक प्रेम को सभी दुराइयों की जड़ मानता है। उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन करते हुए डनिंग ने लिखा है, "अरस्तू ने उत्पादन और विनिमय के आरम्भिक विचारों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया है। वह सम्पत्ति के प्रयोग और विनिमय—इन दोनों के महत्व के अन्तर को स्पष्ट रूप में समझने में सफल हुआ है। परन्तु वह पूंजी के महत्व को समझने में पूर्णतया असफल हुआ है। इसीलिए सूद के बारे में उसके विचार अति प्राचीन और असंगत हैं।"

वस्तुतः अरस्तू एक समन्वयवादी विचारक है और यह समन्वयवादिता उसकी निजी सम्पत्ति विषयक धारणा में देखी जा सकती है। भोलानाथ शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है : “निजी सम्पत्ति की वकालत करने में वह घोर व्यक्तिवादी है, किन्तु इसके साथ ही वह रीति-रिवाज, कानून तथा सम्पत्ति को नियन्त्रित करना चाहता है, उसके संग्रह की सीमाएँ निर्धारित करता है और इस दृष्टि से वह समाजवादी कहा जा सकता है। इस प्रकार वह व्यक्तिवाद तथा समाजवाद जैसी दो विरोधी विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाता है।”

अरस्तू : परिवार सम्बन्धी विचार (Aristotle : Family Related Views)

प्लेटो निजी परिवार को स्वार्थपरता का मूल मानते हुए इसका उच्छेद करके दार्शनिक शासकों का स्त्रियों पर ऐसा सामूहिक स्वत्व स्थापित करना चाहता है जिसमें बच्चे राज्य द्वारा पाले जायें और अवस्थानुसार एक आयु के सभी पुरुष और स्त्रियाँ उनके माता-पिता, भाई बहन समझे जाएं। अरस्तू निम्न तर्कों के आधार पर इसकी आलोचना करता है :

(1) अरस्तू का मत है कि प्लेटो परिवार के अस्तित्व के शव पर राज्य में निरपेक्ष एकता स्थापित करना चाहता है। जबकि किसी भी राज्य में व्यावहारिक आदर्श विभिन्नता में एकता ही हो सकता है। व्यक्तित्व और परिवार को कुचल कर एकता की स्थापना उचित नहीं कहा जा सकता। इससे राज्य के अस्तित्व को खतरा पहुंचता है क्योंकि राज्य सब संस्थाओं की एक संस्था है और संस्था के रूप में राज्य की इकाई परिवार है।

(2) प्लेटो यह समझता है कि राज्य जब विशाल परिवार बनेगा तभी उसमें श्मेरे-तेरे के सब झगड़े मिट जायेंगे, राज्यवासियों में प्रेम बढ़ेगा। इस समय विशेष स्त्री-पुरुष विशिष्ट बच्चों के माता-पिता हैं, निजी परिवार न रहने पर सब छोटे बच्चे राज्य की बड़ी आयु के व्यक्तियों के पुत्र समझे जायेंगे। अरस्तू ने इस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि इस प्रकार अनेक व्यक्तियों की सन्तान होने पर पुत्र को वह प्रेम और संरक्षण नहीं मिलेगा, जो आजकल निजी परिवार में बच्चे को अपने मां-बाप से मिलता है। प्रेम का

क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई तथा प्रगाढ़ता की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है। जो सबका बच्चा होता है, वह किसी से भी अधिक स्नेह प्राप्त नहीं कर सकता। प्लेटो की व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक के सैकड़ों बच्चे होंगे और प्रत्येक बच्चे के सैकड़ों पिता होंगे। इनमें कभी वैसा प्रेम नहीं हो सकता जैसा वैयक्तिक परिवार के माता-पिता में होता है।

(3) अरस्तू यह भी मानता है कि प्लेटो की यह योजना अनेक प्रकार से जघन्य अपराधों को प्रोत्साहन देने वाली सिद्ध होगी। इस योजना के कारण व्यक्ति को अपने निकट सम्बन्धियों का भी आभास न होगा और वे पितृहत्या, मातृहत्या, भ्रातृहत्या जैसे क्रूर अपराध करेंगे। साथ ही अनाचार को भी इस योजना से प्रोत्साहन मिलेगा। वृद्धों तथा नवयुवकों में जो समलैंगिक प्रेम लीला चलेगी वह पिता और पुत्र के ज्ञान के अभाव में बड़ी अमानुषिक वस्तु होगी।

(4) प्लेटो ने इस योजना को इसलिए अपनाया है कि इससे शासक वर्ग में भ्रातृत्व की स्थापना होगी पर अरस्तू की यह मान्यता है कि यह असंगत भ्रातृत्व पानी में खींची गई रेखा के सदृश्य क्षणिक होगा। जिस प्रकार थोड़ी सी शराब बहुत अधिक पानी में मिला दी जाने से अपना स्वाद तथा असर खो बैठती है, उसी प्रकार पारिवारिक प्रेम जब इस प्रकार बिखेरा जाता है तो अपने स्वभाव एवं प्रभाव को पूरी तरह खो बैठता है।

(5) प्लेटो समझता है कि सार्वजनिक रूप से बच्चों का भरण-पोषण और शिक्षा अच्छी हो सकती है। अरस्तू का मत है कि अनाथालय के बच्चों के समान ही सार्वजनिक रूप से बच्चों को उच्च शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जा सकती। कितने ही गुण बच्चों को केवल परिवार की पाठशाला में ही प्राप्त होते हैं। माता-पिता के स्नेह के अभाव में बच्चा न तो पनप सकता है और न वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकता है। अतः श्रेष्ठ नागरिकों के निर्माण के लिए आवश्यक है कि परिवार हो।

(6) व्यक्ति का पूर्ण विकास परिवार में ही सम्भव है। परिवार से ही वह संयम, परोपकार, उदारता, स्वार्थत्याग जैसे गुणों को सीखता है। अरस्तू का कथन है कि बच्चों और दासों के विकास के लिए सबसे उत्तम पाठशाला परिवार ही है।

(7) परिवार का उन्मूलन करके राज्य की सत्ता कायम नहीं की जा सकती। परिवार एक प्राकृतिक संस्था है, साथ ही यह राज्य के विकास की

प्रक्रिया में प्रथम सोपान है क्योंकि परिवार ही शनैः-शनैः विकसित होकर राज्य के रूप में परिणत होता है।

(8) परिवार विषयक प्लेटो की व्यवस्था में, अरस्तू के अनुसार, ऐसी सम्भावना है कि सौन्दर्य प्रेमी नव-युवतियों पर एकाधिपत्य स्थापित करने की कोशिश करेंगे क्योंकि सब स्त्रियों पर सब पुरुषों का समान अधिकार उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करेगा। इसके परिणामस्वरूप शत्रुता बढ़ेगी और समाज का आदर्श रूप विकृत होगा।

(9) वैयक्तिक परिवार से पुरुष, स्त्री, बच्चे, दास सभी को लाभ प्राप्त होते हैं। प्लेटो ने परिवार का समाजीकरण करके प्यार भरे माँ, बाप, अनुशासित बच्चे, आज्ञाकारी दासों तथा अपनी मूल प्रवृत्तियों को तुष्ट करने वाले पति-पत्नियों का उन्मूलन किया है।

vjLrncsvuđ kj ifjokj l svflkç; (Meaning of Family)—अरस्तू की परिवार सम्बन्धी धारणा प्लेटो के बिल्कुल विपरीत है। प्लेटो परिवार को प्रगति के मार्ग में एक व्यवधान, एक बाधा मानता है, जबकि अरस्तू परिवार को उचित, आवश्यक और प्रेरणा का स्रोत मानता है।

अरस्तू ने परिवार को त्रिकोणात्मक सम्बन्धों का समुदाय बताया है। पति और पत्नी, स्वामी और दास एवं माता-पिता और सन्तान—इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का नाम ही परिवार है। परिवार के मुखिया का अपनी पत्नी, बच्चों, दासों और सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व होता है, पर इन सबसे उसके सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के होते हैं। वह अपनी पत्नी का परामर्शदाता, अपने बच्चों का पथप्रदर्शक और अपने दासों का निर्देशक होता है।

ifjokj&ukxfjd thou dh çfke i kB'kyk (Family the First School of Civic Life)—अरस्तू के अनुसार परिवार नागरिक और सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला है। उसके अनुसार परिवार सामाजिक जीवन को स्थिर रखने वाली आधारशिला है। व्यक्ति को नागरिकता और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों का ज्ञान परिवार में ही प्राप्त होता है। व्यक्ति बालक के रूप में परिवार में ही प्रेम और घृणा, उदारता और अनुदारता, सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय में अन्तर करना सीखता है। परिवार में ही वह अपने माता-पिता और अन्य सदस्यों से अनुशासन तथा आज्ञापालन की शिक्षा प्राप्त करता है।

jkT; ifjokj dk gh fodfl r : i (State is the Developed form of the Family) अरस्तू के अनुसार राज्य मानव संस्थाओं का अन्तिम और पूर्ण रूप है तथापि इस विकास प्रक्रिया में प्रथम स्थान परिवार को मिलना चाहिए। अरस्तू के अनुसार सबसे पहले लोग परिवारों में संगठित हुए। कई परिवारों के मिलने से ग्राम की रचना हुई तथा अन्त में कई गांवों ने मिलकर राज्य का निर्माण किया। इस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक विकास की सर्वप्रथम संस्था परिवार ही है।

ifjokj dk Lo: i if'd (Patriarchal form of Family)—अरस्तू के परिवार का स्वरूप पैतृक है। पुरुष ही परिवार का संचालक और शासक है। स्वाभाविक रूप से पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक गुणवान होने के कारण उस पर पूर्ण नियन्त्रण रखेगा। दास तो मूर्ख होता ही है। उस पर स्वामी का शासन आवश्यक ही है। इसी प्रकार, सन्तान पर, कम आयु होने से अनुभवहीनता के कारण, पिता का नियन्त्रण आवश्यक है। अतः परिवार का वयोवृद्ध पुरुष ही परिवार का शासक है, परन्तु परिवार पर पुरुष द्वारा नियन्त्रण तथा कठोर अनुशासन के उपरान्त भी पूर्णतया मित्रता का वातावरण होना चाहिए क्योंकि परिवार एक जीवनपर्यन्त मित्रता का नाम है। परिवार के मुखिया को अपनी पत्नी, बच्चों और दासों के प्रति दया और मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। परिवार के सब सदस्यों को एक-दूसरे के दुःख-सुख को भली प्रकार जानना और समझना चाहिए। उन्हें एक-दूसरे के सहयोग से अपनी दैनिक और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

efgykvkadh fLFkfr (Position of Women)—यहाँ पर यह बताना उचित होगा, कि अरस्तू की महिलाओं के प्रति धारणा उच्च नहीं थी। वह नारी को वासनाओं और दुर्बलताओं का पुञ्च मानता था। नारी का क्षेत्र केवल घर की चारदीवारी तक ही सीमित होना चाहिए। नारी एक अपूर्ण पुरुष है तथा खामोशी ही उसका गौरव है। वह शासन करने के अयोग्य है, — अतः उस पर पुरुष का शासन होना चाहिए। पुरुष को चाहिए कि वह कठोरतापूर्वक स्त्रियों को अपने वश में रखे।

ifjokj ij jkT; dk fu; U=.k (State Control over Family)—अरस्तू का मत था कि परिवार का अत्यधिक मोह पुरुष को उसके मार्ग से विचलित कर देता है। अतः राज्य को चाहिए कि यदा-कदा वह परिवार को

नियन्त्रण में रखने के लिए, नियम बनाता रहे। यहाँ भी हम अरस्तू के मध्य मार्ग का अवलोकन करते हैं। एक ओर तो अरस्तू परिवार के साम्यवाद का विरोधी है और दूसरी ओर वह परिवार को पूर्णतया स्वतन्त्रता भी प्रदान करना चाहता है। उसका मत है कि राज्य को चाहिए कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए सभी उपाय करे क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि के कारण किसी भी राज्य का विनाश हो सकता है। उसका कथन है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्री और पुरुष का सहवास ऐसी अवस्था में होना चाहिए जबकि वे इस दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त हों। इस दृष्टि से वह स्त्री और पुरुष की आयु में 20 वर्ष के अन्तर को उचित मानता है। उसका विचार है कि विवाह के समय स्त्री की आयु 18 वर्ष और पुरुष की आयु 37 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिए पुरुष की अधिकतम आयु 70 वर्ष और स्त्री की अधिकतम आयु 50 वर्ष मानी जा सकती है। सन्तान उत्पन्न करने से पूर्व दम्पति के द्वारा इस सम्बन्ध में चिकित्सक से विस्तृत परामर्श लिया जाना चाहिए तथा दार्शनिकों से इस सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त किया जाना चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने के लिए अनुकूल हवा चल रही है या नहीं। आवश्यकता से अधिक जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए राज्य को कानून बनाने का अधिकार होना चाहिए। अवांछनीय सन्तान के जन्म को रोकने के लिए गर्भपात का आश्रय भी लिया जाना चाहिए।

vjLrwdsi fjokj | Eclckh fopkjkadk ew; kdu (An Estimate of Aristotle's views on Family)—संक्षेप में अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार प्लेटो के विचारों से बहुत भिन्न हैं। पारिवारिक जीवन, जो प्लेटो की दृष्टि में निकृष्ट, राज्य के सम्बन्ध में अत्यन्त अनावश्यक एवं हानिकारक हैं, अरस्तू की दृष्टि में मनुष्य की राजनीतिक यात्रा का प्रथम सोपान है। यह राज्य की आधारशिला है, राज्य के निर्माण तथा अस्तित्व की एक मूलभूत शर्त है तथा राज्य के निर्माण का प्रथम अनिवार्य चरण है।

आलोचकों के अनुसार अरस्तू का पारिवारिक सिद्धान्त बहुत कुछ प्लेटो के लॉज में दिये गये सिद्धान्त की नकल है। प्लेटो ने लॉज में विवाह और सन्तानोत्पत्ति पर राज्य के नियन्त्रण की योजना को प्रस्तुत किया है। अरस्तू ने उसी योजना को संशोधित करके प्रस्तुत कर दिया है। आलोचक यह भी कहते हैं कि अरस्तू ने प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद का तो विरोध किया है पर महिलाओं के उत्थान के लिए कोई योजना प्रस्तुत नहीं की।

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार (Aristotle's Theories of Revolution)

यूनान के नगर राज्यों में राजनीतिक क्रान्तियों एवं वैधानिक परिवर्तनों द्वारा शासन प्रणाली में परिवर्तन होता रहता था। ये क्रान्तियाँ यूनानी जगत् के राजनीतिक जीवन का कटु सत्य बनी हुई थीं। इनके कारण यूनानी नगर राज्यों का राजनीतिक जीवन अत्यन्त अस्थिर बना हुआ था।

क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Revolution)

अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा तथा हमारी आज की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा में महान् अन्तर है। किसी राज्य में जनता अथवा जनता के किसी भाग द्वारा सशस्त्र विद्रोह का नाम ही क्रान्ति नहीं है। अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ है संविधान में परिवर्तन।

संविधान में होने वाला छोटा-बड़ा परिवर्तन, संविधान में किसी प्रकार का संशोधन होना, जनतन्त्र का उग्र या उदार रूप धारण करना, जनतन्त्र द्वारा धनिकतन्त्र का या धनिकतन्त्र द्वारा जनतन्त्र का विनाश किया जाना, सरकार में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना एक अत्याचारी शासक को दूसरे को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित करना—इन सब बातों को अरस्तू क्रान्ति मानता है।

संविधान में पूर्ण परिवर्तन के फलस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतया बदल जाता है इसे हम पूर्ण क्रान्ति कह सकते हैं। संविधान में परिवर्तन के फलस्वरूप उसके किसी एक भाग में भी परिवर्तन हो सकता है—इसे आंशिक क्रान्ति कह सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के परिवर्तन के लिए रक्तपात किया जाए। अरस्तू संविधान में परिवर्तन को ही क्रान्ति कहता है और संविधान में परिवर्तन चुनाव, धोखे अथवा रक्तहीन उपायों द्वारा भी हो सकते हैं।

अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए मैकइल्वेन ने लिखा है, अरस्तू क्रान्ति को कानूनी परिवर्तन के बजाय राजनीतिक परिवर्तन

अधिक मानता है। क्रान्ति केवल राज्य के कानूनी आधार का ही नहीं वरन् नैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तरों में भी परिवर्तन करती है।

क्रान्तियों के प्रकार

(Kinds of Revolutions)

अरस्तू के अनुसार क्रान्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं :

1/4 1/2 vki'kd vFkok iwkl Økflur—जब सम्पूर्ण संविधान बदल दिया जाए तो उसे पूर्ण क्रान्ति और जब उसका कोई महत्वपूर्ण भाग बदल दिया जाता है तो उसे आंशिक क्रान्ति कहा जाता है। पूर्ण क्रान्ति में राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः बदल जाता है। यथा, मौजूदा प्रजातन्त्र धनिकतन्त्र में अथवा निरंकुशतन्त्र में अथवा कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

1/2 1/2 jä iwkl vFkok jäghu Økflur—हब संविधान में परिवर्तन सशस्त्र विद्रोह के कारण व खून-खराबे के कारण हो तो उसे रक्तपूर्ण क्रान्ति कहेंगे। जब संविधान या शासन का परिवर्तन बिना किसी रक्तपूर्ण उपद्रव के सम्भव होता है तो उसे अरस्तू ने रक्तहीन क्रान्ति कहा है।

1/8 1/0; fäxr vFkok xj&0; fäxr Økflur—अरस्तू के अनुसार जब संविधान परिवर्तन किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को पदच्युत करने से होता है तो उसे वैयक्तिक क्रान्ति कहेंगे। जब संविधान परिवर्तन का उद्देश्य गैर-व्यक्तिगत होता है तो उसे अरस्तू ने अवैयक्तिक क्रान्ति की संज्ञा दी है।

1/4 1/2 oxl fo'k'k ds fo#) Økflur—इसमें राज्य के निर्धन व्यक्ति राजतन्त्र या धनिकतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह करते हैं अथवा धनिक व्यक्ति राजतन्त्र या जनतन्त्र के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं। यदि निर्धन व्यक्ति राजा या धनी व्यक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करके राज्य में जनतन्त्र की स्थापना कर देते हैं तो उसे जनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं। यदि राज्य के धनी व्यक्ति जनतन्त्रीय या राजतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके अपना शासन स्थापित कर लेते हैं तो उसे धनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं।

1/5 1/2 oklojh kadh Økflur—जब किसी राज्य में कुछ करिश्माती नेतागण अथवा वागीर लोग लुभावकारी नारों अथवा शब्द-चमत्कार द्वारा अपनी

महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए राज्य में क्रान्ति कर दें तो उसे वाग्वीरों की क्रान्ति (Demagogic Revolution) कहा जाता है।

क्रान्तियों के कारण

(Causes of Revolutions)

अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों को तीन भागों में विभक्त किया है—

- (1) सामान्य कारण (General causes of revolution);
- (2) विशिष्ट कारण (Particular causes of revolution);
- (3) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण (Causes of revolution in different kinds of states)

क्रान्तियों के सामान्य कारण

(General Causes of Revolutions)

अरस्तू क्रान्तियों का सामान्य कारण (मूल कारण) विषमता (Inequality) को मानता है। “क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है।” समानता दो प्रकार की होती है—संख्यात्मक समानता और योग्यता सम्बन्धी समानता। अरस्तू योग्यता सम्बन्धी समानता का तात्पर्य आनुपातिक समानता समझता है। संख्या की दृष्टि से तीन दो से उतना ही बड़ा है जितना दो एक से, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना ही बड़ा है जितना दो एक से, क्योंकि दो चार का वही अंश है जो एक दो का। सब मनुष्य इस बात पर तो सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात में होना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी बात में समान हों तो सभी बातों में समान होने चाहिए। जब ये मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धन—सम्पत्ति आदि में भी समानता होनी चाहिए, किसी प्रकार विषमता नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़-चढ़कर है तो अन्य सभी बातों में बढ़कर होना चाहिए। दोनों विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण

विद्रोह होते हैं। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र में सब व्यक्तियों के अधिकार समान माने जाते हैं, किन्तु कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में उच्च कुलों में उत्पन्न तथा धनवान व्यक्तियों के विशेषाधिकार समझे जाते हैं। अधिकारों की यह विषमता, समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जनता को सह्य नहीं होती है। अतः धनिकतन्त्रों और जनतन्त्रों में अधिक क्रान्तियाँ होती हैं। धनिकतन्त्र में विद्रोह दोहरे ढंग से होते हैं—प्रथम, धनिक वर्ग में ही दो गट हो जाते हैं और एक गुट दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति करता हैय द्वितीय, धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्धन वर्ग विद्रोह करता है, किन्तु, जनतन्त्र में जनता का समूह केवल उस राज्य के धनी वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है। ऋऋऋऋ अतः यह स्पष्ट है कि समानता का अर्थ जनतन्त्र और धनिकतन्त्र में एक जैसा नहीं होता। और विषमता को दूर कर समानता लाने की भावना से इन दोनों पद्धतियों में अनेक क्रान्तियाँ होती हैं।

वस्तुतः क्रान्तियों का मूल कारण न्याय का एकाकी दूषित दृष्टिकोण है। जनतन्त्रवादी यह समझते हैं कि सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हैं, अतः उनमें समानता होनी चाहिए। इसके विपरीत धनिकतन्त्रवादियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों में धन की विषमता है, अतः अन्य बातों में भी विषमता होनी चाहिए।

अरस्तू इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का सामान्य (मूल कारण) कारण मानते हुए कहता है—कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत हैं, वे यह जानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं, जो उनसे कहीं अधिक (धन सम्पत्ति) पाए हुए हैं तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधाएँ) प्राप्त हैं। दूसरे, कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर है तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत् या तो दूसरे के बराबर या उनसे कम मिलता है। इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिए विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है, जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती है।

क्रान्तियों के विशिष्ट कारण

(Particular Causes of Revolutions)

क्रान्तियों के सामान्य कारण की चर्चा करने के बाद अरस्तू क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है। क्रान्ति के विभिन्न विशिष्ट कारणों का उल्लेख कर अरस्तू ने सामाजिक और आर्थिक वास्तविकता के प्रति अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। क्रान्ति के विशिष्ट कारण अग्रलिखित हैं :

1- 'kkl dkadh èk"Vrk ; k ykyp& जब राज्य के शासक या शासन सत्ता से सम्पन्न व्यक्तियों के व्यवहार में धृष्टता या उद्वण्डता आ जाती है और वे लालच के वश में होकर व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक सम्पत्ति को हड़पना आरम्भ कर देते हैं तो जनता उनके विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

2- 'kkl u l Ûk dk n# i ; ks& जब शासक वर्ग भ्रष्ट हो जाए, इसमें रिश्वत का बोलबाला हो तथा भाई-भतीजावाद उग्र रूप धारण कर ले तब भी क्रान्ति हो सकती है।

3- v; k; 0; fä dk 'kkl u& जब शासक अयोग्य हो और शासन की भागीदारी में योग्य लोगों को स्थान न हो तो क्रान्ति की भूमिका बनती है।

4- eè; e oxzdk vllko& समाज का दो वर्गों—धनवान और निर्धन में बंटना भी क्रान्ति का एक कारण हो सकता है। मध्यमवर्ग, जो समाज में सन्तुलित अवस्था में रहता है, के अभाव में निर्धन वर्ग द्वारा क्रान्ति की सम्भावना हो सकती है।

5- vkfkd vl lrgy& अरस्तू इस तथ्य पर बहुत जोर देता है। जिस समाज में अमीरी व गरीबी के बीच भारी खाई हो वहाँ क्रान्ति का होना आवश्यक है।

6- fonf'k; ka dk ckgY; & यदि किसी राज्य में विदेशी बहुत बड़ी संख्या में आ जाएँ तो उससे वहाँ के नागरिकों को चुनौती मिलती है और इस प्रकार दो संस्कृतियों की टकराहट क्रान्ति को जन्म देती है।

7- l Eeku dh ykyl k& यह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है।

8- भय दो प्रकार के व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है—प्रथम, अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है, इससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। द्वितीय, कुछ व्यक्तियों को यह डर होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर बैठते हैं। इसका उदाहरण रोड्स टापू के कुलीन व्यक्ति थे, साधारण जनता इन पर अभियोग चलाने की धमकियां दे रही थी, अतः इन्होंने जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र किया।

9- जब राज्य में एक वर्ग या दल बहुत समय तक सत्तारूढ़ रहता है तब उसका विरोधी वर्ग या दल उससे घृणा करने लगता है। इस घृणा का कुछ समय के बाद क्रान्ति के रूप में विस्फोट होता है। उदाहरणार्थ, धनिकतन्त्र में उस समय क्रान्ति होती है, जब बहुसंख्यक लोगों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते और वे अपने को शक्तिशाली समझने लगते हैं। जनतन्त्र में विद्रोह तब होता है, जब सम्पत्तिशाली मनुष्यों को राज्य में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के कारण जनसाधारण से घृणा हो जाती है।

10- पारिवारिक झगड़े, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य के कारण भी राज्य में क्रान्ति हो जाती है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में तो प्रायः क्रान्तियाँ पारिवारिक घृणा या व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण होती हैं।

11- क्रान्ति का एक कारण शासक वर्ग की असावधानी होता है। शासक वर्ग कभी-कभी अज्ञान तथा असावधानी के कारण राजद्रोहियों को महत्वपूर्ण – पदों पर नियुक्त कर देता है। इससे किसी भी समय अवसर प्राप्त होने पर वे व्यक्ति राज्य का तख्ता उलट देते हैं।

12- अरस्तू ने क्रान्ति के विशिष्ट कारणों में राज्य की भौगोलिक स्थिति की भी चर्चा की है। उसने कहा है कि जो राज्य नदियों, घाटियों और पर्वतों से विभिन्न हिस्सों में बंटा है उसके लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में नहीं रहते और इसलिए राज्य का कोई हिस्सा किसी तथ्य को लेकर कभी भी क्रान्ति करने की सुविधा में रहता है। अतः राज्य की भौगोलिक स्थिति, अरस्तू के अनुसार, क्रान्ति के सहायक तत्वों में से एक है।

13- अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा भी कई बार क्रान्ति का कारण होता है। ये छोटे-छोटे परिवर्तन शनैः-शनैः महान् परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, जैसे अम्ब्राकिया में मताधिकार की शर्तों में

सामान्य परिवर्तन से शासन में क्रान्ति हो गई।

14- çekn& प्रमाद भी क्रान्ति का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने दे सकती है जो वर्तमान शासन के प्रति निष्ठावान नहीं होते और शासन को बदल देते हैं।

15- fuokpu I Eclèkh "kMi U=—निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हेराइया में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र होते थे और इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहां परची या गोट पद्धति (Lot) को अपना करके निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई।

16- ijLij fojkèh oxkè dk 'kfä eaI Urçyr gkuk& क्रान्तियों का एक बड़ा कारण राज्य में परस्पर विरोधी वर्गों (निर्धन एवं धनी आदि) का शक्ति में सन्तुलित होना भी है। जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता है, किन्तु जब दोनों पक्षों में शक्ति सन्तुलन हो तो दोनों को सफलता की सम्भवना होती है और विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं।

क्रान्तियों को रोकने के उपाय

(Remedies for the Prevention of Revolutions)

अरस्तू द्वारा क्रान्तियों से बचने के उपाय निम्नलिखित हैं :

1- I foèkku dsçfr vkLFkk—अरस्तू के अनुसार संविधान के प्रति आस्था रखना क्रान्ति से बचने का महत्वपूर्ण उपाय है। शासक वर्ग इस बात का हर सम्भव उपाय करे कि जनता द्वारा कानून की आज्ञाओं का पालन हो। कानून उल्लंघन करने की छोटी-छोटी घटनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, अतः उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

2- 'kkl d , oa'kfl rkæaI Eokn—अरस्तू यह आवश्यक मानता है कि शासक व शासितों के बीच निरन्तर सम्वाद बना रहे, शासक शासितों को शासन के समक्ष आने वाली समस्याओं से अवगत करवाये एवं शासित अपनी समस्याएं शासकों के समक्ष रख सकें। इस प्रकार का सम्वाद व सम्वाद की विभिन्न प्रक्रियाओं का बना रहना क्रान्ति को दूर करने का सबल उपाय है।

3- fofek dk 'kkl u&अरस्तू जिस बात पर बल देता है, वह है विधि

का शासन । व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदा अच्छा होता है क्योंकि इसमें विधि द्वारा शासक की महत्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण हो सकता है।

4- I ekurk dk 0; ogkj विषमता क्रान्ति की जननी है। अतरू शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि छः मास होनी चाहिए ताकि अधिक से अधिक व्यक्ति शासक बन सकें, थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते।

5- eè; e oxldh çekkurk—अरस्तू की मान्यता है कि मध्यम वर्ग सदा मर्यादा तथा स्वामित्व का हामी रहा है, इसलिए इसकी प्रधानता का होना क्रान्ति को रोकने का सबल उपाय है।

6- vkfkd I ekurk—समाज में अत्यधिक आर्थिक असमानता क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण है। इस कारण के निवारण के लिए अरस्तू का मत है कि राज्य की ओर से यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज में आर्थिक असमानता कम से कम हो। धन का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि न तो कोई वर्ग अत्यन्त धनवान बन जाए और न दूसरा वर्ग अत्यन्त निर्धन।

7- I e(þr f'k(k i) fr किसी शासन प्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति उस शासन पद्धति के अनुरूप हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के ढाँचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न करें।

8- fon'kh I eL; kvka dh rjQ turk dk è; ku dflær djuk—शासकों को चाहिए कि वे राज्य की जनता का ध्यान देश की आन्तरिक समस्याओं की ओर से हटाकर विदेशी मामलों की ओर केन्द्रित करें। राज्य में विदेशी आक्रमण का भय आदि दिखाकर वह जनता में देश प्रेम की भावना को सदा जाग्रत रखें। अरस्तू के शब्दों में, शासक जो राज्य की चिन्ता करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे नये खतरों का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएं ताकि जनता पहरेदार की भांति अपनी रक्षा के लिए सदा सचेत और तत्पर रहें।

9- jkt dh; i nka, oal Eekukadk U; k; kþpr forj .k—अरस्तू के

अनुसार राज्य में पदों और सम्मान का वितरण समान होना चाहिए। योग्य व्यक्तियों को उनका उचित मान और पद प्राप्त होना चाहिए। एक ही वर्ग के व्यक्तियों को अथवा राज्य के एक ही भाग के व्यक्तियों को सारे पद नहीं दे देने चाहिए अन्यथा शेष वर्ग अथवा वर्गों में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। साथ ही इस सम्बन्ध में सचेत भी रहना चाहिए कि कहीं अवांछनीय व्यक्तियों को राज्य के पद प्राप्त न हो जाएं।

10- परिवर्तनों पर निगरानी रखनी चाहिए।

11- क्रान्ति को रोकने के लिये अरस्तू शासकों के धनार्जन पर नियंत्रण रखने की बात कहता है।

3

सिसरो

परिचय

सिसरो रोम के राजनीतिक विचारकों में महत्वपूर्ण था। उसका जन्म रोम के एक मध्यम वर्गीय परिवार में 106 ई. पू. में हुआ था। रोम में उस समय काफी उथल-पुथल की परिस्थिति व्याप्त थी। सिसरो ने कानून की शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वह एक वकील के रूप में प्रसिद्ध हुआ। ई. पू. 64 में वह कौंसल नियुक्त रहा। उस पर रोम के सैनिकों की गैर कानूनी ढंग से जान लेने का आरोप था। ई. पू. 57 में जब उसे निर्वासन से वापस बुलाया गया तो उसने अपने लेखों और भाषणों द्वारा गणराज्य और पुरानी संस्थाओं को सुरक्षित बनाए रखने के लिए जूलियस सीजर और मार्क एण्टनी का विरोध किया। रोम में ई.पू. 44 में जब सीजर की हत्या हुई तब ई.पू. 43 में इसका अभियोग सिसरो पर लगाया गया। बाद में इसी आरोप में उसे प्राणदंड भी दिया गया।

सिसरो के राजनीतिक विचार

सिसरो के राजनीति विचारों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

राज्य संबंधी विचार- मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को सिसरो राज्य की उत्पत्ति का प्रमुख कारण मानता है। उसके अनुसार, “जनता का अर्थ लोगों से है, पर लोगों का तात्पर्य व्यक्तियों की उस भीड़ से नहीं है जिसे किसी तरह भी एकत्रित

कर लिया जाए। यह एक ऐसा समुदाय है जिसके अंदर लोग सामुदायिक हितों में बँधे हैं और जो कानून को अपना समर्थन देते हैं। उनका एक जगह रहना उनकी शक्तिहीनता का कारण नहीं, बल्कि आपसी प्रेम और प्राकृतिक संबंधों का लगाव है, अतएव प्रत्येक समाज और राज्य का एक उद्देश्य होना चाहिए और उस उद्देश्य के अनुरूप ही उसे अपने संबंधों को योजनाबद्ध करना चाहिए।”

सिसरो कानून की धारणा के आधार पर राज्य की व्याख्या करता है। वह राज्य को जनता की सम्पत्ति या विधि-जन्य समुदाय कहता है। राज्य की व्याख्या करते हुए सिसरो कहता है कि, “राज्य उस जन-समूह की सम्पत्ति है, जो पर्याप्त बड़ी संख्या में पारस्परिक लाभ की इच्छा से कानून तथा अधिकारों के बारे में एक सामूहिक सहमति के द्वारा संगठित हो जाते हैं।”

इस प्रकार सिसरो ने राज्य के बारे में कहा है, “राज्य एक मानव साझेदारी है जिसकी सदस्यता प्रत्येक नागरिक को सामूहिक रूप से प्राप्त है जिसका अस्तित्व सदस्यों को एक न्यायपूर्ण शासन प्रदान करने और उनके पारस्परिक हितों का सम्पादन करने के लिए है।” सिसरो द्वारा राज्य की इस व्याख्या के अध्यापन के आधार पर सेबाइन ने इन तीन निष्कर्षों को सामने रखा है—

1. राज्य और कानून जनता की सार्वजनिक सम्पत्ति और संगठन है। अतः उसकी शक्ति का आधार जन-शक्ति है।
2. राज्य-शक्ति का सही और वैधानिक ढंग से प्रयोग जनहित को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए, क्योंकि एक प्रशासक कानून से ही अपनी शक्ति प्राप्त करता है। सिसरो के शब्दों में, “जिस प्रकार कानून प्रशासन का शासन करता है, उसी प्रकार प्रशासन जनता पर शासन करता है। अतः यह सही है कि प्रशासक बोलता हुआ कानून एक मूक प्रशासक है।”
3. राज्य तथा उसका कानून दैवी अथवा नैतिक अथवा प्राकृतिक कानून के अधीन हैं। राज्य द्वारा बल-प्रयोग का औचित्य तभी है जबकि वह न्याय तथा सत्य के हित में किया जाता है।

इस तरह से सिसरो ने राज्य को जनता की सम्पत्ति के रूप में देखा। इस राज्य की सत्ता को जनता से शक्ति प्राप्त होती है। अतः उसका प्रयोग भी जनहित में किया जाना चाहिए। उसकी राज्य-सत्ता के संबंध में यह धारणा लोक प्रभुसत्ता के सिद्धांत का प्रतिपादन करती है, परंतु साथ ही वैधानिक और राजनीतिक प्रभुसत्ता का भी उल्लेख करती है। सिसरो के अनुसार के अनुसार, एक अच्छा राज्य वही होता है जिसमें कोई अभिकरण ऐसा होना चाहिए जो कि जनता से इच्छा को अभिव्यक्त करे तथा उसे लागू करे।

4

सन्त ऑगस्टाइन

परिचय

सन्त ऑगस्टाइन का स्थान ईसाई धर्म के महान संतो में है। उनका जन्म 354 ई. में उत्तरी अफ्रीका के टेग्रेस्टे नामक नगर में हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर माता मोनिका तथा पिता पैट्रीसियस की देखरेख में सम्पन्न हुई। इसके बाद उसे मदीरा नामक ग्रामर स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। लगभग पाँच वर्ष तक अध्ययन करने के बाद उसने उच्च शिक्षा अध्ययन के लिए कॉर्थेज विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ पर उसने अलंकारशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की। यहाँ रहते हुए वह मैनिकियन सम्प्रदाय के प्रभाव में आ गया और लगभग 9 वर्ष तक इसका सदस्य रहा, लेकिन जब उसे इसमें कुछ तथ्य दिखाई नहीं दिया, तो वह इसकी सदस्यता त्याग कर इटली के शहर मिलान को चला गया।

मिलान में वह एक अध्यापक के रूप में अलंकार शास्त्र को पढ़ाने का काम करने लगा। यहाँ उसकी भेंट गिरजाघर के विशेष सन्त अम्ब्रोज से हुई जिसके प्रभाव में आकर ऑगस्टाइन ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् उसने यूनानी और ईसाई दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन किया, जिसके कारण ईसाई धर्म में उसकी आस्था गहरी हो गयी। सन् 391 में उसे उत्तरी अफ्रीका के हिप्पो नगर का पादरी नियुक्त किया गया, जहाँ वह जीवन पर्यन्त ईसाई धर्म की सेवा करता रहा। उसकी मृत्यु 430 ई. में तब हुई जब वण्डाल नामक बर्बर जाति की सेनाएँ हिप्पो नगर पर आक्रमण कर रही थीं।

सन्त ऑगस्टाइन के विचारों की पृष्ठभूमि- जिस समय संत ऑगस्टाइन का आविर्भाव हुआ उस समय रोमन साम्राज्य की दशा कमजोर थी। इसके दो टुकड़े हो गए थे। पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुन्तुनिया हो चुकी थी। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम थीं उसके उत्तर में बर्बर जातियों के आक्रमण हो रहे थे। सन् 410 में गॉथ नामक बर्बर जाति के हाथों में रोम की पराजय हुई थी। ईसाई धर्म के विरोधियों ने रोम की इस पराजय के लिए ईसाई धर्म को उत्तरदायी ठहराया। रोम के पुराने धर्म में मूर्ति पूजा व प्रकृति पूजा की प्रथा थी, इसलिए ईसाई धर्म उन्हें पैगन कहते थे। पैगनों का ऐसा विश्वास था जब तक रोमवासी अपने पुराने देवताओं में आस्था रखते रहे तब तक रोम समृद्ध और सुदृढ़ होता रहा। वह एक नगर-राज्य से विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया, किंतु ईसाई धर्म के प्रवेश से ही रोम का विनाश हुआ, क्योंकि राज्य की धार्मिक पद्धतियों में ईसाइयों ने आमूल परिवर्तन करके रोम के प्राचीन देवताओं का अपमान किया है। ईसाई धर्म के विरोधियों का यह मानना था कि रोमन साम्राज्य ईसाई धर्म को स्वीकार करने के बाद उसकी निष्क्रिय और दुर्बल शिक्षाओं की वजह से कमजोर और जर्जर हो गया है। अतः बर्बर जातियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में वह समर्थ नहीं रहा। इसलिए उसकी पराजय हुई। इस कारण ईसाई धर्म का प्रभाव कम होने लगा था और यह न्याय सिद्धांत किसी काल अथवा स्थान विशेष की सीमाओं से बंधा हुआ नहीं है। ऑगस्टाइन ने परिवार, समाज और राज्य इन सबको न्याय के क्षेत्र में शामिल किया है।

सन्त आगस्टाइन ने कहा कि प्रत्येक समाज में एक व्यवस्था का प्रचलन होता है और इसके सुचारु संचालन के लिए अनुशासन और न्याय की जरूरत होती है। परिवार में एक अनुशासन होता है जिसका पालन परिवार की भलाई के लिए उसके सदस्यों को करना होता है और जो सदस्य उसका पालन करता है उसको न्यायी कहा जाता है। यह न्याय एक पारिवारिक जीवन के संदर्भ में न्याय है। परिवार अपने से एक बड़ी संस्था राज्य के अंदर है। राज्य की अपनी व्यवस्था है और उसके लिए राज्य का अनुशासन है इसलिए यदि ऐसा परिवार उस अनुशासन का पालन करता है तो राज्य के संदर्भ में उसे न्यायी कहा जायेगा, पर यदि अपने आंतरिक मामलों में परिवार कितना भी न्यायी क्यों न हो, लेकिन राज्य के अनुशासन की अवहेलना करता है, तो वह राज्य के संदर्भ में अन्यायी है। तात्पर्य यह है कि मानव और उसका समुदाय यदि किसी एक क्षेत्र या संदर्भ में न्यायपूर्ण आचरण करता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह निरपेक्ष रूप में है। न्यायी राज्य स्वयं भी एक सार्वभौमिक समाज के अंदर है और यह समाज है भगवान का शाश्वत राज्य जिसकी अपनी व्यवस्था और

अनुशासन है। राज्य अपने क्षेत्र में चाहे कितना भी न्यायी हो, अर्थात् अपनी व्यवस्था के बारे में चाहे जितना भी सक्षम क्यों न हो, पर यदि वह इस ईश्वरीय व्यवस्था का पालन करने में शाश्वत अनुशासन का पालन नहीं करता तो ईश्वरीय राज्य के संदर्भ में वह अन्यायी कहा जायेगा। राज्य के बारे में न्याय और अन्याय का अनुमान तो उसके कार्यों की इस शाश्वत व्यवस्था के साथ नापकर ही लगाया जा सकता है। निरपेक्ष न्याय इस शाश्वत व्यवस्था में ही है। सापेक्ष न्यायों का मूल्यांकन इसी स्थायी न्याय के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए। जब कोई व्यवस्था इस शाश्वत व्यवस्था के अनुरूप हो जाती है तभी यह कहा जा सकता है कि उस व्यवस्था में ईश्वर की इच्छा का पालन किया जा रहा है।

शान्ति—ऑगस्टाइन ने शान्ति को ईश्वरीय राज्य के दूसरे प्रमुख तत्व के रूप में देखा है। शान्ति से उसका तात्पर्य युद्ध अथवा संघर्ष के अभाव की स्थिति से नहीं है। इसके विपरीत ऑगस्टाइन के अनुसार वास्तविक शान्ति उस व्यवस्था की प्रतीक है जिसमें समाज के प्रत्येक भाग में सद्भावनापूर्ण सामंजस्य का भाव विद्यमान होता है तथा जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का जीवन पूर्णतः सुखमय और संतोषप्रद होता है। इस प्रकार उसके अनुसार शान्ति एक अभावात्मक नहीं अपितु भावात्मक विचार है जो शाश्वत का प्रतीक है। उसने इस प्रकार की शान्ति के दो रूपों का वर्णन किया है—

- (i) सांसारिक शान्ति (ii) आध्यात्मिक शान्ति

सांसारिक शान्ति का तात्पर्य ऑगस्टाइन ने नियमित रूप से जीवन का व्यवस्थापन बताया है। अर्थात् सांसारिक व्यवहार में सामंजस्यता का होना है, परंतु आध्यात्मिक शान्ति का लक्ष्य ईश्वर एवं ईश्वर में समाये हुए मनुष्यों के साथ सांसारिक शान्ति से अधिक व्यापक है तथा उसमें समस्त मानवता शामिल है। सांसारिक शान्ति न केवल इस संसार तक सीमित है और संसार में रहकर अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके संतोष प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य है, जबकि आध्यात्मिक शान्ति इससे उच्चतर है और उसका क्षेत्र सार्वभौम है। सन्त ऑगस्टाइन का कथन है कि आध्यात्मिक शान्ति के उच्चतर होते हुए भी उसकी उत्पत्ति सांसारिक शान्ति से होती है, क्योंकि जब सांसारिक शान्ति से शरीर संतुष्ट होता है, तो मनुष्य शुद्ध और पवित्र हृदय होता है। वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं पर नियंत्रण करना सीखता है जिसके फलस्वरूप उसकी आत्मिक शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है जो उसे आत्मिक दिव्यता की ओर उन्मुख करता है एवं वह अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। इसके कारण एक ईश्वरीय व्यवस्था की स्थापना होती है जिसमें आध्यात्मिक शान्ति का समावेश होता है।

सन्त ऑगस्टाइन के राज्य संबंधी विचार

संत ऑगस्टाइन के राज्य संबंधी विचार प्लेटो और अरस्तू के समान दार्शनिक अथवा सिसरो के समान विधि आधारित जटिलताओं से दूर हैं। चर्च समर्थक और धर्मोपदेशक होने के नाते वह दैवी राज्य की धारणा को प्लेटो तथा सिसरो की मान्यताओं तथा ईसाई धर्म के स्वरूप के आधार पर प्रस्तुत करता है। इसलिए उसमें प्लेटो के दर्शन, सिसरो के विधि सिद्धांत एवं ईसाई धर्म का सम्मिश्रण पाया जाता है। ईबन्स्टीन के शब्दों में, “सन्त ऑगस्टाइन प्लेटो के न्याय की धारणा तथा अरस्तू के उत्तम जीवन के विचारों को ईसाइयत के आदर्शों के साथ घोलकर राज्य की शास्त्रीय मान्यता का ईसाईकरण करता है और उसका सिद्धांत राज्य के यूनानी-रोमन तथा बाइबिल की धारणाओं में सुदृढ़तया आबद्ध है जिसका स्वरूप बल का प्रयोग का एकाधिकार या सम्प्रभुतायुक्त औपचारिक सत्ता न होकर नैतिक है।”

राज्य के बारे में संत ऑगस्टाइन का यह विचार कि मनुष्य को पापमय जीवन से मुक्त करने के लिए राज्य की स्थापना की गई है, पर परम्परागत ईसाई मत पर आधारित है। अतः राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय है और राजा ईश्वरीय है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए राज्य की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य है, किंतु उसका कथन है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय होते हुए भी वह ‘ईश्वरीय राज्य’ नहीं है, क्योंकि इसमें ईश्वर की सत्ता स्थापित नहीं होती है वरन् शैतान की सत्ता स्थापित होती है। अतः उसकी आज्ञा वहीं तक मानी जानी चाहिए जहाँ तक वह धर्मसम्मत हो। यदि वह धर्म के विरुद्ध आज्ञा देता है तो उसका पालन नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि उसकी आज्ञा पालन करने का उद्देश्य व्यक्ति के लिए अपने आपकी पाप की कालिमा से रक्षा करना है न कि पापमय जीवन की ओर प्रवृत्त होना है। इस तरह ऑगस्टाइन के लिए राज्य मनुष्य को पाप से मुक्ति दिलाने का एक प्रमुख साधन है, क्योंकि वह धर्म का रक्षक है।

चर्च और राज्य के बीच संबंध

संत ऑगस्टाइन ने चर्च और राज्य के मध्य मधुर संबंधों की स्थापना पर जोर दिया। एक तो वह दो तलवारों के सिद्धांत पर विश्वास करता था जो चर्च के एक स्वतंत्र अस्तित्व का समर्थक है। दूसरे वह धार्मिक मामलों में राज्य से यह अपेक्षा करता है कि वह चर्च से परामर्श करे। उसका मत है कि विश्व में शान्ति की बहुत आवश्यकता है,

न केवल सांसारिक मनुष्यों के लिए बल्कि उनके लिए भी जिनकी आत्माएँ ईश्वरीय राज्य में निवास करती हैं और इस विश्व में उनकी यात्रा चलती रहती है। उनके लिए सुरक्षा की आवश्यकता है जिससे वे अपने धार्मिक कृत्यों को बिना किसी अड़चन के पूरा कर सकें और जब वे राज्य की सुरक्षा प्राप्त करते हैं तो सुरक्षा संबंधी समस्त कानूनों का पालन करना भी अनिवार्य है।

कानूनों के पालन का अर्थ है कानूनों को लागू करने वाली राज्य की शक्ति का सम्मान करना। कानूनों के पालन में मानवीय राज्य और ईश्वरीय राज्य के निवासियों में किसी प्रकार का अंतर नहीं किया जाता, लेकिन दोनों में अंतर इन आज्ञाओं के पालन करने की धारणा में है। एक के लिए सांसारिक जीवन उपयोग वे अपने पशुत्व के धोने में करते हैं। इस दृष्टि से राज्य ईश्वरीय जीवन की तैयारी का साधन है। लेकिन चर्च की सत्ता राज्य की आज्ञाओं का पालन एक सीमा के अंदर ही करेगी। आज्ञा का पालन तभी तक उचित है जब तक आज्ञा इस शान्ति को बनाये रखने के लिए दी जाती है, लेकिन यदि राज्य धार्मिक क्षेत्र में भी अपने कानूनों को शक्ति के बल पर लागू करना चाहे तो ईसाई ऐसे कानून या आज्ञा की अवज्ञा करने के लिए बाध्य होगा।

संत ऑगस्टाइन ने राज्य को चर्च के संदर्भ में किसी बुराई के रूप में नहीं देखा। उसने राज्य चर्च के लिए आवश्यक माना है, क्योंकि चर्च की भूमि और भवन की पूर्ति तो राज्य द्वारा ही की जाती है। ऑगस्टाइन राज्य के धार्मिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसे न्याय और 'धर्म का आधार' नहीं मानता, क्योंकि राज्य ईसाई धर्म को मानने वाला और नहीं मानने वाला दोनों प्रकार का हो सकता है। वह अन्याय पर आधारित और दूसरे राज्यों के अधिकारों का अपहरण करने वाला भी हो सकता है, अतः उसमें न्याय और धर्म उपलब्ध नहीं हो सकता। न्याय और धर्म सिर्फ ईसाई राज्य में ही उपलब्ध हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म और न्याय राज्य का गुण नहीं है वह चर्च का गुण है। इसलिए चर्च राज्य से उच्च और श्रेष्ठ है। उसने राज्य के अधिकारियों को भी चर्च के अधिकारियों के रूप में देखा और कहा कि राज्य को चर्च का संरक्षण स्वीकार करना चाहिए।

यद्यपि ऑगस्टाइन ने चर्च तथा राज्य के सह-अस्तित्व के संबंध में अपने विचार दिये हैं, परंतु इन दोनों को अपने-अपने विशिष्ट क्षेत्रों में समुचित रूप से मान्यता प्रदान करते हुए भी वह राज्य को प्रभावहीन बनाना चाहता है। गियर्क के शब्दों में, "ईश्वरीय राज्य के सिद्धांत ने पृथ्वी के राज्य को, केवल उस सीमा तक छोड़कर जहाँ वह अपने चर्च को दैविक राज्य के अंतर्गत व अधीन मानता है, क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया प्रभावहीन करके छोड़ दिया है।"

प्रो. बॉकर के शब्दों में, “एक प्रकार से ईश्वरीय राज्य का सिद्धांत राज्य का विद्वेषी और इसके अस्तित्व का उच्छेदक भी.....। ईश्वरीय राज्य का अन्ततोगत्वा परिणाम राज्य के पूर्ण विनाश के रूप में है। यह चर्च को सिंहासनारूढ़ करते हैं।

सम्पत्ति और दासता सम्बन्धी विचार

आगस्टाइन ने भी अन्य ईसाई विचारकों की तरह सम्पत्ति रखना वैध माना है। उसका मत है कि सम्पत्ति रखना कोई प्राकृतिक अधिकार न होकर परम्परागत परिपाटी है और यह अधिकार राज्य प्रदान करता है। उसका विचार है कि सम्पत्ति के अभाव में मनुष्य अपने लौकिक और आध्यात्मिक जीवन के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकता। परन्तु उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग जनहित के लिए करना चाहिए।

आगस्टाइन दास-प्रथा को उचित ठहराता है क्योंकि उसका विचार है कि मूल पाप से उत्पन्न मनुष्य के पाप का दण्ड दासता है। आगस्टाइन इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य जन्म से दास होता है। उसका मानना है कि यदि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो जाए तो मनुष्य का उत्कर्ष हो सकता है। आगस्टाइन का कहना है कि- “दासता एक प्रकार का आदि-मानव के पतन के कारण होने वाले मनुष्यता के पतन के लिए मानव जाति को दिया गया सामूहिक दण्ड है।” उसका मानना है मालिक दास से अच्छा नहीं होता। मालिक पर ईश्वर की कृपा होती है। यदि दास भी ईश्वर की कृपा का पात्र बन जाए तो वह भी दासता से मुक्त हो सकता है। लेकिन आगस्टाइन दासता का औचित्य सिद्ध करने में असफल रहे हैं। उन्होंने यह बताया कि यदि कोई मनुष्य पाप करता है तो उसके पाप के बदले में उसे दास बनाया जाना तो उचित है, लेकिन यदि सम्पूर्ण मानवता पाप करे तो उसे ही दास क्यों बनाया जाए जबकि अन्य कोई दास नहीं बनाया जाता। अतः दासता का सिद्धान्त असन्तोषजनक है।

योगदान एवं प्रभाव

आगस्टाइन ने धर्मसत्ता तथा राजसत्ता को अलग-अलग मानते हुए धर्मसत्ता (चर्च) को सर्वोच्च माना है। राजसत्ता के औचित्य तथा अधिकार क्षेत्र को उसने

ईश्वरीय इच्छा पर प्रतिष्ठित करके इसके प्रति समुचित दृष्टिकोण अपनाया है। उसने 'ईश्वरीय नगर' के विचार का प्रतिपादन कर ईसाई जगत् के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर उसकी प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में चर्च को प्रतिष्ठित कर एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उसकी पुस्तक कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बियों के लिए एक प्रेरणा-स्रोत बन गई और परवर्ती ईसाई चिन्तन को प्रभावित किया। उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारणा इतिहास के दर्शन पर आधारित ईसाई प्रजाधिपत्य की स्थापना थी जो मानव के आधु यात्मिक विकास के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है। उसके महत्त्वपूर्ण योगदान हैं—

पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण सेण्ट आगस्टाइन की पुस्तक 'ईश्वर की नगरी' पर भी आधारित किया है। वास्तव में आगस्टाइन ही ईसाई राष्ट्रमण्डल के पिता हैं। यह अवधारणा मध्ययुग में एक विवाद का विषय रही।

आगस्टाइन का चर्च को सर्वोच्चता का सिद्धान्त मध्ययुग में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा रहा। उसने राज्य से चर्च को श्रेष्ठ बताकर चर्च को ईश्वर का प्रतिनिधि कहा। इससे चर्च के प्रति लोगों की रुचि बढ़ने लगी और चर्च मध्ययुग में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। आगस्टाइन का चर्च व राज्य की सर्वोच्चता का द्वैधवादी सिद्धान्त मध्ययुगीन विचारधारा का आधार बन गया। यह आगस्टाइन की मौलिक देन है।

आगस्टाइन ने सार्वभौमवाद की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उसने सार्वदेशिक समाज की स्थापना के रास्ते में राज्य, जाति, भाषा आदि के अवरोध उत्पन्न नहीं हो सकते। यह अवधारणा मध्ययुगीन चिन्तन का आधार बन गई।

आगस्टाइन ने दैवीय सिद्धान्त को ठोस आधार प्रदान किया। उसने बताया कि राज्य 'ईश्वर की इच्छा का परिणाम' है। उसने बताया कि चर्च ईश्वर का प्रतिनिधि है। चर्च ही व्यक्ति को आध्यात्मिक मुक्ति प्रदान कर सकता है। इससे मध्ययुग में नए चिन्तन का सूत्रपात हुआ।

उसका द्वैधवाद (राजसत्ता और धर्मसत्ता) का सिद्धान्त मध्ययुग में गेलासियस के दो तलवारों के सिद्धान्त का आधार बना। मध्ययुग का समान्तरवाद भी आगस्टाइन की विचारधारा पर ही आधारित है। इसलिए मध्ययुग में आगस्टाइन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका द्वैधवादी सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आगस्टाइन मध्ययुगीन चिन्तन के एक प्रभावशाली विचारक रहे हैं। उसकी ईश्वरीय नगर की अवधारणा ने अनेक शताब्दियों तक मध्ययुगीन तथा परवर्ती विचारकों को प्रभावित किया। उसने चर्च की सर्वोच्चता

के सिद्धान्त का बीजारोपण करके ईसाई विचारकों के चिन्तन को प्रभावित किया। उनके धार्मिक मन्तव्यों, बाइबल के प्रमाणवाद, चर्च की प्रभुता, आदिम पाप आदि ने सैंकड़ों वर्षों तक मध्ययुगीन विचारकों का प्रतिनिधित्व किया। सुप्रसिद्ध पोप, ग्रगरी सप्तम, वोनीफेस अष्टम, थॉमस एक्वीनास, दॉंते, ग्रोशियस आदि के विचारों को आगस्टाइन के दर्शन ने अत्यधिक प्रभावित किया। सेबाइन का मत है- “उसकी रचनाएँ विचारों की खान हैं। परवर्ती रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट इसे खोदकर नए विचार निकालते रहे।” फोक्स जैक्सन ने भी कहा कि- “सेण्ट पॉल के बाद आगस्टाइन चर्च के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण हस्ती रहे हैं।” सम्पूर्ण मध्ययुगीन चिन्तन राज्य और चर्च के बीच के वाद-विवाद के चारों ओर ही केन्द्रित रहा। अतः कहा जा सकता है कि आगस्टाइन मध्ययुगीन ईसाईत विचारधारा के सबसे अधिक प्रभावशाली विचारक रहे हैं जिन्होंने परवर्ती चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

5

सन्त थॉमस एक्वीनास

परिचय

सन्त थॉमस एक्वीनास ने एक दार्शनिक के रूप में यूरोप के अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का भी क्रमबद्ध अध्ययन किया। इस प्रकार उसे व्यवस्थित रूप से दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करने का श्रेय दिया जाता है। वह यूरोप का महानतम राजनीतिक चिंतक था। फोस्टर के शब्दों में, “वह समूचे मध्ययुगीन चिंतन का प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि अन्य कोई अकेले नहीं कर सका।”

उसके बारे में सेबाइन ने लिखा है— “थॉमस के दर्शन का मूलमंत्र यह था कि उसने समरूपता और मतैक्यता पर आधारित सार्वभौमिक संश्लेषण और सर्वांगीण पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया।”

जीवन परिचय—सेन्ट थॉमस एक्वीनास का जन्म नेपल्स के एक सम्भ्रान्त परिवार में सन् 1225 ई. में हुआ था। उसके पिता एक्वीनो के काउन्ट (जमींदार) और फ्रेडरिक वारवरोसा के भतीजे थे। उसकी माता थ्योडोरा सिसली के प्राचीन राजवंश से संबंधित थी। इस प्रकार थॉमस एक्वीनास को सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध थीं। उसके माता-पिता की यह लालसा थी कि उनका पुत्र भी उच्चतम राज्याधिकारी बने। इसी उद्देश्य से उसे नेपल्स के विश्वविद्यालय में प्रवेश कराना चाहा। उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण पद शिक्षक या धर्मोपदेशक का होता था। इस पद को प्राप्त करने के लिए उसके माता-पिता के विरोधों के होते हुए भी

डोमिनिकन सम्प्रदाय के मत को स्वीकार कर अपने माता-पिता को आश्चर्यचकित कर दिया। माता-पिता ने जब उसे इस मार्ग से विमुख करना चाहा तो वह घर से भाग निकला, किंतु माता-पिता ने रास्ते में ही पकड़वाकर उसे एक किले में बंदी बनाकर रखा। उसे घर न छोड़ने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए। कहा जाता है कि एक बार जब उसे किले में रहते हुए सांसारिक विषय-भोगों में फँसाने के लिए एक सुंदर लड़की भेजी गई तो एक्वीनास ने पास के चूल्हे में से जलती हुई लकड़ी उठाकर उस पर इस ढंग से फेंकी कि वह उठकर भाग गई। इसी समय उसने धार्मिक जीवन बिताने के अपने दृढ़ निश्चय को दीवार पर क्रॉस का चिन्ह बनाकर प्रकट किया। उसके संबंधियों को यह विश्वास होने लगा कि वह अपने निश्चय पर अटल है। बाद में वह अपनी बहन की मदद से किले से भागने में सफल हुआ।

इस समय पेरिस में अरस्तूवादी दार्शनिक एल्बर्टस मैगनस का नाम प्रसिद्ध था। सन्त थॉमस एक्वीनास इसके बाद 1500 कि.मी. पैदल चलकर इसके पास पहुँचा लेकिन उस समय उसका गुरु कोलोन जा चुका था, अतः वहाँ जाकर एक्वीनास ने उससे शिक्षा ग्रहण की। कोलोन और पेरिस में कुछ वर्षों तक अध्ययन करने के बाद सन् 1259 में वह इटली चला गया। पेरिस विश्वविद्यालय ने उसे कोई उपाधि नहीं दी, क्योंकि उन दिनों यह विश्वविद्यालय भिक्षुओं को उपाधि प्रदान नहीं करता था। इस पर डोमिनिकन सम्प्रदाय ने थॉमस एक्वीनास को पोप के पास भेजा। एक्वीनास ने पोप को अपनी योग्यता का परिचय दिया और अपने को उपाधि प्राप्त करने का अधिकारी स्वीकृत करा लिया। तत्पश्चात् पेरिस विश्वविद्यालय ने उसको धर्म के आचार्य की उपाधि से सम्मानित किया। उपाधि प्राप्ति के उपरांत 12 वर्षों तक उसने ईसाई धर्म का प्रचार का कार्य तन-मन से किया। इस प्रसंग में उसे कई स्थानों के भ्रमण का मौका मिला उसे लोगों से मिलने-जुलने का भी मौका मिला और उसने भाषण भी दिया। सन्त थॉमस एक्वीनास ने अनेक ग्रंथों की रचना की।

इस समय तक एक्वीनास राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और तर्कशास्त्र के बड़े विद्वान के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। उसकी राजनीतिक बुद्धि तथा योग्यता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि बड़े-बड़े नरेश उससे शासन के कर्तव्यों को बतलाने की प्रार्थना करते थे। स्वयं पोप ने धर्म शिक्षा संबंधी उत्पन्न कठिनाइयों के निवारण के लिए अनेक बार उससे परामर्श किया था। उसके परामर्श सदैव उपयोगी होते थे। इसलिए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है कि, “महान्

धर्माचार्य और तेजस्वी दार्शनिक सन्त थॉमस एक्वीनास मध्य युग की एक अतिशय प्रचण्ड विभूति है। समस्त ईसाई जगत में उसके उच्चाशय उत्तुंग व्यक्तित्व को छूने वाला दूसरा व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता है।”

थॉमस एक्वीनास को अनेक बार उच्च धार्मिक पदों को ग्रहण करने के अवसर दिये गये, किंतु उसने पद ग्रहण करने से मना कर दिया और स्पष्टतः यह कहा कि उसने विद्याध्ययन किसी पद पर आसीन होने की लालसा से नहीं किया है। ज्ञानार्जन का उसका एकमात्र उद्देश्य यही था कि वह ईश्वर से साक्षात्कार कर सके।

सन् 1274 में अचानक संत थॉमस एक्वीनास की मृत्यु हो गई। उसके शव को प्राप्त करने के लिए विभिन्न संप्रदायों में झगड़ा हुआ। अन्ततः पोप के निर्णयानुसार उसका शव डोमिनिकन संप्रदाय को मिला।

राज्य का सिद्धान्त

जिस प्रकार एक्विनास ने धर्म से पृथक् तर्क का अस्तित्व माना है, उसी प्रकार उसने चर्च से पृथक् राज्य का अपना औचित्य भी स्वीकार किया है। आरम्भिक मध्ययुगीन ईसाई विचारकों का मानना था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के आरम्भिक पाप के कारण हुई है। एक्विनास ने मध्ययुगीन तथा उससे पहले से प्रचलित राज्य-उत्पत्ति के सभी सिद्धान्तों को नकारते हुए अपने ग्रन्थ सुम्मा ‘थियोलोजिका’ में राज्य सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया, उसने राज्य की उत्पत्ति की पापमयी धारणा को सरेआम अस्वीकार कर दिया। वह अरस्तू तथा प्लेटो जैसे यूनानी दार्शनिकों की तरह यह मानता था कि मनुष्य राजनीतिक तथा सामाजिक प्राणी है और राज्य की आवश्यकता केवल इसलिए नहीं है कि वह मानसव बुराइयों को रोकता है, बल्कि इसलिए भी है कि राज्य के बिना व्यक्ति अपना सम्पूर्ण विकास नहीं कर सकता। एक्विनास एक ऐसा प्रथम ईसाई दार्शनिक था जिसने यह कहने का साहस किया कि राज्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जो नियन्त्रण राज्य अपने अपने सदस्यों पर आरोपित करता है, वह उनके लिए बाधा न होकर उनके नैतिक विकास में सहायक होता है। उसका मानना था कि समाज प्राकृतिक है, इसलिए राज्य भी प्राकृतिक है। इस प्रकार एक्विनास ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में एक विशिष्ट मध्ययुगीन धारणा अपनाकर राज्य की उत्पत्ति के आगस्टाइन के सिद्धान्त को अरस्तू के तर्क के अनुसार संशोधित करने का प्रयास किया। उसने स्पष्ट किया कि निर्दोषता की अवस्था में (पापमयी जीवन से पहले) भी राज्य किसी

न किसी रूप में विद्यमान था। उसने आगस्टाइन तथा अन्य ईसाई विचारकों की इस अभिधारणा को अस्वीकार किया कि निर्दोषता की अवस्था में राज्य नाम की कोई वस्तु नहीं थी। एक्विनास ने यह स्पष्ट करने के लिए कि राज्य एक कृत्रिम, पापमयी, परम्परागत संस्था न होकर एक प्राकृतिक संस्था है, के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए। उसके प्रमुख तर्क इस प्रकार से हैं--

“मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है।” एक्विनास ने अरस्तू के इस तर्क का विस्तार करते हुए कहा कि एक प्रधान के बिना व्यक्ति एक व्यवस्थित समाज में नहीं रह सकता। प्रधान या मुखिया जनहित की देखभाल करके समाज के निर्देशक तथा दण्डनायकिक शक्ति का केन्द्र बना रहता है। यदि श्रेष्ठ का निम्नतर पर शासन स्वीकार कर लिया जाए तो मनुष्य का मनुष्य के ऊपर शासन की धारणा स्वाभाविक बन जाती है। अतः राज्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक है।

यदि अधिक सद्गुणी, श्रेष्ठ, प्रज्ञावान व्यक्तियों का निम्न पर शासन प्रकृति के अनुकूल है तो राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। यह प्राकृतिक होने के साथ-साथ निम्न लोगों के लिए लाभदायक भी है। इससे उनको अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्राप्त होंगे।

एक्विनास का मानना है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर आश्रित होता है। इससे अच्छे जीवन के लिए सेवाओं का स्वाभाविक आदान-प्रदान होता रहता है। इसलिए समाज और राज्य मानव-प्रकृति की पूर्ति पर आधारित हैं। वह मनुष्य के पापमयी जीवन पर आधारित नहीं है। एक्विनास का यह विचार कि राज्य का लक्ष्य सद्गुणों का विकास करना है, सरकार के कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक रचनात्मक दृष्टिकोण प्रकट करता है। उसके मतानुसार शासक का पद समस्त समाज के लिए होता है। सामाजिक हित में योगदान देने में ही उसकी सार्थकता है। उसका मानना है कि समुदाय को सद्गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति में सहयोग देना ही शासक का प्रमुख कर्तव्य है। इसमें समाज में शान्ति व न्याय-व्यवस्था कायम रखना भी शामिल है।

इसके अतिरिक्त समुदाय को जीवनयापन की वस्तुओं के बारे में आत्मनिर्भर बनाना भी शासक का प्रमुख कर्तव्य है। इसके लिए जो भोज्य पदार्थों की पर्याप्त आपूर्ति की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे शिक्षालयों, चर्चों व बाजारों का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए। माप-तौल की समुचित प्रणाली का विकास करना, गरीबों के भरण-पोषण की व्यवस्था करना, सड़कों को चोर-डाकुओं के भय से मुक्त रखना,

जनसंख्या पर नियन्त्रण रखना, पुरस्कार व दण्ड की व्यवस्था के माध्यम से प्रजा पर नियन्त्रण रखना, उसके प्रमुख कर्तव्य हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि राज्य की भौतिक अवस्थाएँ उच्चतर लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हों। इस प्रकार सेण्ट थॉमस एक्विनास ने शिष्टाचार व रीति-रिवाजों की समानता को राज्य का आचार बताकर आधुनिक राष्ट्रीय राज्य समर्थन किया है।

यद्यपि सेण्ट एक्विनास ने काफी हद तक अरस्तू का अनुसरण करके शासक के कर्तव्यों पर जोर दिया लेकिन वे भी ईसाइत के प्रभाव से बच नहीं सके। उसने यह कहा कि राज्य मानव-प्रकृति पर आधारित है, परन्तु वह यह कहने को भी विवश हुआ कि राज्य ईश्वर द्वारा स्थापित किया जाता है। राजनीतिक समाज की उत्पत्ति सहज सामाजिक प्रवृत्तियों का ही परिणाम है। उसका विचार है कि सभी राजनीतिक अधिकारों का स्रोत ईश्वर है जो सभी वस्तुओं का सर्वोच्च शासक है। शासन करने का वैध अधिकार समूचे समुदाय को ईश्वर से ही प्राप्त होता है। मनुष्य में राजनीतिक समुदाय के विकास की प्रवृत्ति ईश्वर ने ही आरोपित की है। इस प्रकार सेण्ट थॉमस एक्विनास ने अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का ईसाइयत विचारधारा में समनव्य करके अपने सिद्धान्त की आधारशिला रखी। आगे चलकर 18 वीं शताब्दी में रूसो, बर्क तथा अन्य विचारकों ने इस सिद्धान्त की प्रशंसा की।

सरकार का सिद्धान्त

सेण्ट एक्विनास ने मनुष्य का मनुष्य के ऊपर शासन दो प्रकार का बताया है। पहला, पाप से उत्पन्न दासता का रूप होता है। दूसरा सहज सामाजिक प्रवृत्ति से उत्पन्न नागरिक सत्कार के रूप में होता है। ऐसी नागरिक सरकार कई प्रकार की होती है - (i) पुरोहितवादी (ii) राजसी (iii) राजनीतिक (iv) आर्थिक। इनमें से पहली पोपतन्त्र के रूप में सर्वोच्च किस्म होती है। सामान्य रूप से राज्य का शासन राजसी अथवा राजनीतिक सरकारों द्वारा चलाया जाता है। राजसी सरकार में शासक के पास निरंकुश शक्तियाँ न होकर विशाल शक्तियाँ होती हैं। राजनीतिक सरकार में शासक की शक्तियाँ कानूनों से सीमित होती हैं। एक्विनास का मानना है कि सरकारों का अच्छा या बुरा होना 'सब की भलाई' के मापदण्ड पर ही निर्भर करता है। एक्विनास ने इस बात पर जोर दिया है कि राज्य या सरकार का प्रमुख लक्ष्य मनुष्यों के बीच सद्गुणों का विकास करना है ताकि वे मोक्ष-प्राप्ति करने में सफल हो सकें। इस उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति में सफल सरकार अच्छी तथा

असफल सरकार निकृष्ट होती है। इस प्रकार सरकारों का वर्गीकरण करने में एक्विनास ने अरस्तू का अनुसरण करते हुए राजतन्त्र, अभिजाततन्त्र, सर्वजनतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र तथा जनतन्त्र में बाँटा है। इनमें से राजतन्त्र सरकार का सर्वोत्तम तथा जनतन्त्र निकृष्ट रूप होता है।

राजतन्त्र पर विचार

एक्विनास ने राज्य के स्थायित्व, एकता व नियमितता के लिए राजतन्त्र का ही समर्थन किया है। उसने इसे सबसे सर्वश्रेष्ठ सरकार मानकर इसकी प्रशंसा की है। उसके समर्थन के आधार हैं—

- समाज में एकता तथा शान्ति राजतन्त्र में ही सम्भव है।
- अव्यवस्था तथा अराजकता की समाप्ति राजतन्त्र में ही सम्भव है।
- जिस तरह ईश्वर एक है और उसका पूरे ब्रह्माण्ड पर शासन है, उसी प्रकार समाज में एक राजा ही ठीक है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों पर दिल, मधुमक्खियों के छत्ते पर रानी मधुमक्खी का शासन अच्छा रहता है, वैसे ही समाज में एक ही व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम होता है।
- ऐतिहासिक अनुभव भी यह बताता है कि राजतन्त्रत्मक सरकारें ही अन्य सरकारों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ रही हैं। राजतन्त्र में ही शान्ति व समृद्धि का वातावरण रहा है। लोकतन्त्रत्मक सरकारों में फूट व अराजकता से भरपूर रही हैं।

इस प्रकार एक्विनास ने राजतन्त्र को सर्वोत्तम सरकार माना है।

निरंकुश सरकार

एक्विनास का मानना है कि राजतन्त्र पथभ्रष्ट होकर अत्याचारी शासन में बदल सकता है। यही राजतन्त्र का सबसे गम्भीर दोष है यह सरकार की सबसे बुरी किस्म है। इसमें शासक प्रजा के हित में शासन न करके अपने हितार्थ शासन करता है। उसने बताया है कि राजतन्त्र को निरंकुश बनने से रोकने के लिए राजतन्त्र को लचीला बनाना आवश्यक होता है। उसका मानना है कि तानाशाही के अन्तिम काल अर्थात् स्वयं लोगों के अन्याय को दूर किया जाना चाहिए ताकि राजतन्त्र को तानाशाही में परिवर्तित होने से रोका जा सके। लेकिन उसने यह नहीं बताया कि राजतन्त्र में लचीलापन कैसे लाया जाए। एक्विनास अत्याचारी शासक के वध का

विरोध करते हैं। उनका मानना है कि यह भी सम्भव है कि निरंकुशतन्त्र जनतन्त्र में बदलने पर और अधिक अत्याचारी शासन कायम हो सकता है। एक्विनास स्वयं राजतन्त्र को निरंकुश नहीं बनाते क्योंकि वे स्पष्ट करते हैं कि राजा को सदैव अपने उत्तरदायित्व निभाने चाहिए। राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व ईश्वर के प्रति होता है। पोप ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण उसको अपने अधीन रख सकता है। जनता को भी शान्तिपूर्वक तरीके से उसे हटाने की शक्ति प्राप्त है। उसको हटाना तो उचित है लेकिन उसके पद का हनन करना अनुचित है। वह तानाशाही की हत्या के सिद्धान्त की निन्दा करते हैं। इस प्रकार एक्विनास राजतन्त्र को सर्वोत्तम सरकार मानते हुए उसको बनाए रखने के पक्षधर हैं। उसके अनुसार राजा को अत्याचारी बनने से रोकने के लिए राजा को संविधान-पालन की शपथ दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि शपथ का उल्लंघन करने पर राजा को न्यायोचित आधार पर गद्दी से उतारा जा सके।

सरकार के कार्य

एक्विनास के मतानुसार शासन का अधिकार एक न्यास का पद है जो समूचे समाज के लिए अस्तित्व में लाया जाता है। उसके लिए कुछ उत्तरदायित्व या कर्तव्य निश्चित किए गए हैं, जिनके पूरा होने पर ही शासक का पद कायम रह सकता है। एक्विनास के अनुसार राज्य या सरकार के निम्न कार्य हैं—

- सरकार को राज्य में एकता को बढ़ावा देना चाहिए ताकि शान्ति कायम हो सके। फूट और दलबन्दी को समाप्त करना चाहिए।
- सरकार का यह भी कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा पर नाजायज कर न लगाए और न ही उसकी सम्पत्ति का हरण करे।
- सरकार को मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं की पूर्ति बनाए रखनी चाहिए।
- बाहरी आक्रमणों से बाहरी शत्रुओं से अपनी सीमाओं और नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए।
- शासक का यह कर्तव्य है कि वह गरीबों के भरण-पोषण की व्यवस्था करे।
- सरकार का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के लिए विशेष मुद्रा और नाप-तौल की प्रणाली लागू करे।
- चोर-डाकुओं के भय से सड़कों को मुक्त रखे।

- योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत तथा अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करे।
- अपने अधिकार क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखे। राज्य में अराजकता, अव्यवस्था तथा उपद्रवों से निपटने में सक्षम सरकार का होना जरूरी है।
- सरकार को अपने नागरिकों में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। उसे प्रजा को सदाचारी बनाने पर जोर देना चाहिए।
- सरकार को व्यक्तिगत हितों की बजाय लोकहित को बढ़ावा देना चाहिए। इस प्रकार एक्विनास ने सरकार के जो कर्तव्य या कार्य निर्धारित किए हैं, वे आधुनिक सरकारों के कार्यों से मिलते-जुलते हैं। लेकिन एक्विनास का शासक आधुनिक राज्य की तरह सम्प्रभु नहीं है। उसके कार्य तो सकारात्मक हैं लेकिन उनको पूरा करने के लिए उसके पास सर्वोच्च सत्ता नहीं है। उस पर पोप या चर्च का पूर्ण नियन्त्रण है। शासक को नियन्त्रण या मर्यादा में रहकर ही अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है।

चर्च और राज्य का सम्बन्ध

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने लौकिक सत्ता (राज्य) तथा पारलौकिक सत्ता (चर्च) में सम्बन्ध स्थापित करके राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य चल रहे लम्बे संघर्ष का समाधान करने का प्रयास किया। एक्विनास ने बताया कि मनुष्य सांसारिक सुख व आत्मिक सुख की प्राप्ति चाहता है। सांसारिक सुख की प्राप्ति राज्य द्वारा तथा आत्मिक सुख की प्राप्ति चर्च द्वारा ही कराई जा सकती है। थॉमस एक्विनास का मत है कि सद्गुणी व्यक्ति भी चर्च की सहायता के बिना अपने परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर सकता। यह परम सत्य (मोक्ष) श्रद्धा और विश्वास पर ही आधारित होता है। अतः यह चर्च का मामला होता है। राजा का कर्तव्य बनता है कि वह इस प्रकार शासन करे कि ईश्वर की इच्छा पूरी और धर्म की वृद्धि हो। एक्विनास के अनुसार व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य तो मोक्ष प्राप्त करना है। इसे प्राप्त कराने के लिए दोनों (चर्च व राज्य) को संगठित प्रयास करना चाहिए।

राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को सद्गुणी बनाने के प्रयास करे और चर्च का कर्तव्य है कि वह मनुष्यों को मोक्ष प्राप्ति कराने के लिए उनकी आत्मशुद्धि में वृद्धि करे। एक्विनास का कहना है कि राज्य चर्च के अधीन रहते हुए अपने कर्तव्यों का निर्वहन करे ताकि परम लक्ष्य को आसानी से प्राप्त किया जा सके। एक्विनास ने राज्य की तुलना समुद्री जहाज के बड़ई से तथा चर्च की तुलना जहाज

के चालक से करके अपना मत प्रस्तुत किया है कि चालक ही जहाज का दिशा निर्देशन और दिनागमन करता है। इसका अर्थ यह है कि सांसारिक शासक चर्च के सहयोग और उसके मार्गदर्शन के अन्तर्गत ही समुचित रूप से अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। मोक्ष तर्क के द्वारा नहीं धर्म में विश्वास के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और धर्म के सारे मामलों में चर्च ही सर्वोच्च सत्ता है। चर्च राज्य का नियन्त्रक व मार्गदर्शक है, इसलिए पोप की सत्ता सांसारिक सत्ता (राज्य) से श्रेष्ठ है। आत्मा पर नियन्त्रण रखना भौतिक वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने से श्रेष्ठ है। इसलिए सभी व्यक्तियों को चर्च की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। एक्विनास ने कहा कि शासक ईश्वर की छाया हो सकता है, लेकिन यदि वह चर्च की अवहेलना करे, तो उसे धर्म बहिष्कृत किया जा सकता है।

पोप के पास सांसारिक शासकों के कर्तव्यों का नियमन करने, उन्हें दण्ड देने और प्रजा को उनके प्रति निष्ठा से मुक्त करने की शक्ति है। एक्विनास ने कहा है- “जिस प्रकार शरीर मस्तिष्क के अधीन है वैसे ही सांसारिक सत्ता आध्यात्मिक सत्ता के अधीन है।” इसलिए यदि चर्च शासक के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो वह अनुचित नहीं है। इसके बावजूद भी चर्च और राज्य एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं जिसमें चर्च राज्य से श्रेष्ठ है। थॉमस एक्विनास ने यह भी स्पष्ट किया है कि पोप की राज्य क्षेत्रीय प्रभुसत्ता न्यायोचित है। चर्च का प्रधान होने के नाते उसकी अपनी भूमि हो सकती है, लेकिन वह उसका स्वामी नहीं हो सकता। उसने राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए, राज्य को सांसारिक मामलों में कुछ छूट प्रदान करके मध्यमार्गी होने का परिचय दिया है। एक समन्वयवादी विचारक होने के नाते उसने पोप को राजा के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं सौंपा है। उसने सांसारिक मामलों में राजा को ही सम्प्रभु माना है। कार्लाइल ने इस बारे में कहा है- “सेण्ट एक्विनास का यह सामान्य और परिपक्व निर्णय था कि सांसारिक मामलों में पोप का प्रत्यक्ष अधिकार न होकर अप्रत्यक्ष अधिकार ही है।” वास्तव में सत्य तो यह है कि उसने नम्र पोपवादी होने के नाते धर्मसत्ता व राजसत्ता के मध्य लम्बे समय से चल रहे संघर्ष को कुछ शान्त करने का प्रयास किया है।

दासता सम्बन्धी विचार

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने भी अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तरह दासता को

दैवी दण्ड मानकर उसका समर्थन किया है। वह अरस्तू की तरह दास-प्रथा को लाभदायक तो मानता है लेकिन उसके विचार अरस्तू और आगस्टाइन से पूरी तरह मेल नहीं खाते हैं। उसका मानना है कि दासता एक प्राकृतिक प्रथा है जो सैनिकों में साहस का संचार करती है। जब सैनिक युद्धक्षेत्र में लड़ते हैं तो उन्हें दासता का भय सताता है। इस भय के कारण वे वीरता और साहस से लड़कर युद्ध में विजयी बनने के प्रयास करते हैं। दासता का भय ही सैनिक विजयों का कारण होता है। एक्विनास ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए इतिहास और 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' की डिड्रानमी नामक पुस्तक से कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

सम्पत्ति पर विचार

एक्विनास ने भी अरस्तू की तरह ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हुए उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना है। उसका कहना है किस सम्पत्ति का प्रयोग स्वार्थसिद्धि के लिए न करके जनहित में किया जाना चाहिए। सम्पत्ति का साम्राज्यिक उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए ही किया जाना चाहिए। उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचार धार्मिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उसने मध्ययुगीन ईसाई पादरियों के विचारों से सहमत होते हुए कहा है कि सम्पत्ति पर चर्च और पोप का भी अधिकार उपयुक्त है लेकिन वह किसी सांसारिक शासक के सामन्त के रूप में भूमि का स्वामी नहीं बन सकता। पोप अपनी सम्पत्ति का प्रयोग निर्धनों की सहायता के लिए धार्मिक नियमों के अनुसार ही कर सकता है। उसका मानना है कि सम्पत्ति की अधिकता ही सभी पापों का मूल कारण है। सम्पत्ति पर धर्म का लेबल लगाने पर ही सम्पत्ति के सारे दोष मिट जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक्विनास ने अरस्तू तथा आगस्टाइन के विचारों से अलग ही अपने सम्पत्ति सम्बन्धी विचार प्रतिपादित किए हैं।

कानून का वर्गीकरण

राजनीतिक चिन्तन के लिए एक्विनास का कानून सम्बन्धी विवेचन उसकी सबसे महान् एवं मूल्यवान देन है। एक्विनास ने कानून के वर्गीकरण का सबसे अधिक मौलिक विचार प्रस्तुत करके आधुनिक युग को ऋणी बना दिया है। कानून के बारे में किसी भी पूर्ववर्ती विचारक ने इतना तर्कसंगत तथा व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जितना एक्विनास ने। एक्विनास ने अरस्तू, सिसरो, चर्च के पादरियों, सेण्ट आगस्टाइन जैसे विचारकों के कानून पर विचारों को एकत्रित करके

उन्हें एक नई दिशा दी। उसने एक तर्क-क्रम के द्वारा कानूनों का वर्गीकरण करके कानूनों को चार भागों - शाश्वत, प्राकृतिक, मानवीय तथा दैवीय में बाँटा है। एक्विनास के कानून सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए कानून की आधुनिक व पूर्ववर्ती अवधारणाओं को समझना आवश्यक है।

कानून की परिभाषा

आधुनिक विचारकों के अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश है। कानून एक ऐसा सकारात्मक विचार है जो उन कार्यों को बाध् यकारी बना देता है, जो पहले बाध्यकारी नहीं थे। पूर्ववर्ती यूनानी विचारकों के अनुसार कानून विवेक या बुद्धि का परिणाम है। एक्विनास ने कानून की यूनानी व रोमन विचारधाओं को समन्वित करके अपना कानून का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। एक्विनास ने कानून की मध्ययुगीन विचारधारा को और अधिक व्यापक बना दिया है। एक्विनास के अनुसार कानून पूरे विश्व पर लागू होता है। यह एक ऐसी वस्तु होती है जो मानवीय सम्बन्धों का नियमन करने के साधन की अपेक्षा अपने कार्यक्षेत्र में व्यापक है। एक्विनास ने अपनी धारणा को विश्वव्यापी रूप देने का प्रयास किया है। उसने मानवीय कानून को दैवीय कानून से जोड़कर मानवीय विवेक को दैवी विवेक का अंग माना है। उसने मानवीय कानून और दैवीय कानून के बीच अनश्वर एकता को स्वीकार किया है। उसने कानून को परिभाषित करते हुए कहा है- “कानून लोक-कल्याण के लिए विवेक का अध्यादेश है जो उस व्यक्ति द्वारा बनाया, घोषित और लागू किया जाता है जिसे समाज की चिन्ता है।” अर्थात् कानून बनाने और उसे लागू करने का अधिकार ऐसे व्यक्ति के हाथ में रहता है जिन्हें लोक कल्याण की चिन्ता है। एक्विनास के मतानुसार- “कानून एक विशेष नियम अथवा कार्यों का मापदण्ड है जिसके आधार पर किसी को कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है अथवा कार्य करने से रोक दिया जाता है।” इसका अर्थ यह है कि ऐसा कानून जो विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है तो वह सच्चा कानून नहीं है।

कानून के प्रकार

एक्विनास ने कानून को चार भागों में बाँटा है—

- शाश्वत कानून

- प्राकृतिक कानून
- दैवी कानूनी
- मानवीय कानून

एक्विनास ने वर्गीकरण की इस श्रृंखला में शाश्वत कानून को शीर्ष स्थान पर रखा है। प्राकृतिक कानून तथा दैवीय कानून का मानव के भौतिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। मानवीय कानून ही मनुष्य के प्रत्यक्ष जीवन से जुड़ा हुआ है। इन चारों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

शाश्वत कानून

यह कानून ईश्वरीय विवेक पर आधारित होते हैं जिनके द्वारा ईश्वर एक पूर्व निश्चित योजना के आधार पर विश्व पर शासन करता है। शाश्वत कानून ईश्वरीय विवेक से निकली हुई ईश्वरीय इच्छाएँ हैं। इसी कानून के द्वारा सृष्टि का संचालन होता है तथा आकाश और पृथ्वी तथा चेतन और अचेतन सभी पदार्थ शाश्वत कानून से नियन्त्रित व निर्देशित होते हैं। यह कानून बुद्धिगम्य तथा बुद्धिअगम्य दोनों प्रकार के जगत् में अलग-अलग तरीके से कार्य करता है। शाश्वत कानून का स्वभाव विश्वव्यापी है। इस धरती पर विद्यमान सभी कानूनों का स्रोत शाश्वत कानून ही है। विवेकशील प्राणी शाश्वत कानून के अनुसार ही आचरण करते हैं। एक्विनास के अनुसार शाश्वत कानून का निर्माण उसी समय हुआ जिस समय ईश्वर के मनका निर्माण हुआ। ईश्वर की समस्त सृष्टि शाश्वत कानून के अधीन है। उस सृष्टि के सभी भाग उसके प्रभाव को ग्रहण करने में समर्थ होने के कारण उसके हिस्सेदार हैं। यह कानून प्राप्त कर सकने योग्य कार्यों तथा उद्देश्यों को करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। एक विवेकी व्यक्ति अविवेकी व्यक्ति की तुलना में शाश्वत कानून को जल्दी समझ लेता है। सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनका आभास करना कठिन होता है। इसका आभास प्राकृतिक कानून के रूप में ईश्वर करा देता है। यह कानून ईश्वर में अनन्तकाल से दैवी विवेक के रूप में विद्यमान रहा है यह एक सुनिश्चित कानून नहीं है क्योंकि उसका निर्माण विशिष्ट समय पर नहीं हुआ है। यह स्वयं निर्मित तथा स्वयं प्रवर्तित है। यह ईश्वर का अमर कानून है। ईश्वरीय या दैवीय न्याय शाश्वत कानून पर ही टिका हुआ है। इसी कानून के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि पर अपना वर्चस्व बनाए हुए है।

प्राकृतिक कानून

यह कानून मानवीय जीवनों में ईश्वरीय विवेक का प्रतिबिम्ब है। एक्विनास के मतानुसार- “विवेकशील प्राणी का शाश्वत कानून के अनुसार आचरण करना ही प्राकृतिक कानून है।” इन कानूनों की सहायता से व्यक्ति अच्छे-बुरे का भेद जान सकता है। “यह विवेकपूर्ण जीवधारियों की शाश्वत कानून में सहभागिता है।” ये कानून शाश्वत कानूनों की तुलना में अधिक स्पष्ट व बोधगम्य होते हैं। ये मौलिक रूप से सबके लिए समान होते हैं, परन्तु कुछ विशेष काल और स्थान के लिए अलग-अलग भी हो सकते हैं। ये संसार की सभी जड़ व चेतन वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त होते हैं। चेतन पदार्थों में इनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है, जबकि अचेतन पदार्थों में अस्पष्ट होती है। चूँकि मनुष्य की तर्क-बुद्धि अपूर्ण होती है। इसलिए मनुष्य का मार्ग निर्देशन करने व विनियमन करने के लिए यह कानून पर्याप्त नहीं है। इस कानून की भी शाश्वत कानून की तरह प्रमुख विशेषता यह है कि यह कानून सकारात्मक कानून नहीं है तथा इसके नियम भी सर्वांगीण नहीं हैं। प्राकृतिक कानून सभी विवेकपूर्ण प्राणियों में समाज कल्याण की भावना ही भरता है। इसकी अन्तरवस्तु का विस्तार उन वस्तुओं से किया जा सकता है जो केवल मानव-कल्याण में योगदान देती है। यह मनुष्य की अनेक स्वाभाविक इच्छाओं - आत्मरक्षा, यौन-सन्तुष्टि, सन्तानोत्पादन, परोपकार आदि की सन्तुष्टि करता है। यह मनुष्य में सामाजिकता का गुण पैदा करता है। यह मानव प्राणियों में सत्य की खोज करने और तर्कबुद्धि से विकसित करने की इच्छा पैदा करता है। इस प्रकार एक्विनास का प्राकृतिक कानून व्यापक आयाम धारण कर लेता है।

दैवीय कानून

एक्विनास का मानना है कि मनुष्य का मार्ग-दर्शन करने के लिए अधिक व्यापक कानून का होना जरूरी है। ऐसा कानून दैवीय कानून ही हो सकता है। यह एक ऐसा सकारात्मक कानून है जो प्राकृतिक कानून की कमी को पूरा करता है। संतों अथवा बाइबल के माध्यम से प्रकट की गई ईश्वर की वाणी ही दैवीय कानून है। दैवी कानून मानव तर्क-बुद्धि की खोज की बजाय ईश्वर के अनुग्रह का उपहार है। यह मनुष्य को परम-सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कराता है। प्राकृतिक कानूनतो सभी के लिए समान होता है लेकिन दैवीय-कानून का ज्ञान ईश्वर के कृपापात्रों को ही प्राप्त होता है। एक्विनास के मतानुसार- “दैवी कानून ईश्वर की इच्छा के आदेशों

की प्रणाली है जिसे प्रकाशन द्वारा मनुष्यों तक पहुँचाया जाता है। “यह सहज विवेक की खोज होने के अतिरिक्त ईश्वरीय कृपा की देन है। एक्विनास के अनुसार विवेक और प्रकाशना में कोई अन्तर नहीं है।

प्रकाशना विवेक की वृद्धि ही करती है, विनाश नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। कानून रूपी इमारत का आधार विवेक है तथा शिखर प्रकाशना है। दैवीय कानून ईश्वरीय इच्छा के आदेशों का संसार के सामने प्रकटकरण है जिसका पालन चर्च द्वारा किया जाता है। इनके पालन का आधार मानव की आस्था है, विवेक नहीं। ये बाध्यकारी शक्ति से युक्त नहीं है। ईश्वरीय रचना होने के कारण ये मानवीय कानून से श्रेष्ठ है।

मानवीय कानून

इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक कानून से होती है। यह कानून उसी समय तक वैध है, जब तक यह प्राकृतिक कानून के अनुसार रहे। एक्विनास के मतानुसार- “मानवीय कानून मनुष्यों के आचरण का नियमन करने के लिए नियमों की वह प्रणाली है जिसको प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों से मानव-विवेक द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।” उसके अनुसार मानवीय कानून प्राकृतिक कानून का बुद्धिसंगत परिणाम है। यह प्राकृतिक कानून का उप-सिद्धान्त है। “मानवीय कानून प्राकृतिक कानून ही है जिसके द्वारा मानवीय विवेक की युक्तिपरक व्यवस्था द्वारा इसे सांसारिक मामलों में सक्रिय बनाया जाता है।” यह मानवीय इच्छा पर आधारित होता है। ये मनुष्य द्वारा समाज में शान्तिपूर्ण जीवन बनाए रखने के लिए बनाई गई दण्ड व्यवस्थाएँ हैं जिनके भय से समाज में शान्ति बनी रहती है। ये प्राकृतिक कानून के पूरक होते हैं। प्राकृतिक कानूनों की अस्पष्टता तथा अपरिभाषिता के कारण इसकी आवश्यकता पड़ती है। दण्डात्मक शक्ति के कारण ये कानून प्राकृतिक कानूनों से अधिक प्रभावी रहते हैं। एक्विनास ने मानवीय कानून को दो भागों - राष्ट्रों का कानून और नागरिक कानून में बँटा है। एक्विनास ने नागरिक कानून को परिभाषित करते हुए कहा है- “यह सबके हित के लिए मानव-तर्कबुद्धि का अध्यादेश है, जिसे ऐसे व्यक्ति ने जारी किया है जो समुदाय की देखभाल करता है।” मानवीय कानून के कुछ प्रमुख कारण हैं जिनके आधार पर इसे अच्छी तरह से समझा जा सकता है—

- ये विवेक पर आधारित उद्घोषणाएँ हैं।
- ये सार्वजनिक कल्याण से सरोकार रखते हैं।

- ये सकारात्मक होते हैं।
- इनके पीछे सार्वजनिक मान्यता तथा सार्वजनिक सहमति होती है।
- इनमें दण्डात्मक शक्ति होती है।
- ये प्राकृतिक कानून के अनुकूल होते हैं।
- इनका सम्बन्ध लौकिक संसार से होता है, पारलौकिक से नहीं।
- एक्विनास का कहना है कि नागरिक कानून ही मानवीय कानून होता है।

इसके ऊपर कुछ सीमाएँ भी हैं—

- यह कानून प्राकृतिक कानून के अनुरूप होना चाहिए। नागरिक इसका पालन उसी समय तक करेंगे जब तक यह प्राकृतिक कानून के अनुसार रहेगा।
- इसे मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से दूर रहना चाहिए। यह मनुष्य के समूचे जीवन से सम्बन्धित नहीं होता। इसलिए यह मनुष्य की पूर्ण निष्ठा का दावा नहीं कर सकता।

एक्विनास मध्ययुग के अरस्तू के रूप में

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने अपना सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन अपनी ईसाइयत विचारधारा को अरस्तूवाद के साथ मिलाकर ही खड़ा किया है। इसलिए उसे ईसाई अरस्तू भी कहा जाता है। अल्बर्ट महान् के चरणों में बैठकर एक्विनास ने अरस्तू की जो शिक्षाएँ ग्रहण कीं, उनका स्पष्ट प्रभाव उसके चिन्तन पर पड़ा दिखाई देता है। अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् अरस्तूवाद की लम्बे समय तक एक्विनास से पहले किसी ने चर्चा नहीं की। एक्विनास ही एक ऐसे प्रथम ईसाई विचारक थे जिन्होंने अरस्तू के दर्शन को पुनर्जीवित किया। उन्होंने अरस्तू के दर्शन को ग्रहण तो किया लेकिन एक नए रूप में। उसने अरस्तू के दर्शन तथा ईसाई धर्म सिद्धान्त में समन्वय स्थापित किया। उसने अरस्तू के विचारों को उसी सीमा तक ग्रहण किया जिस सीमा तक वे ईसाइयत धर्म-सिद्धान्तों के पक्ष में रहे। एक्विनास ने अरस्तू की गलत धारणाओं का सर्वथा त्याग किया। उसने अरस्तू की विवेकवादी विचारधारा के साथ ईसाइयत विश्वास या धर्म को मिलाकर एक मध्यमार्ग निकाल लिया ताकि धर्मसत्ता व राजसत्ता के मध्य चले आ रहे लम्बे संघर्ष को समाप्त किया जा सके। इसलिए उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण को देखकर मैक्सी ने कहा है- "एक्विनास मध्ययुग का स्वर्गीय अरस्तू है।" फोस्टर ने भी कहा है कि- "ऐसा प्रतीत होता है कि एक्विनास ने अपने राजनीतिक दर्शन को यूनानी आधार पर ईसाई मुंडेर पर खड़ा

किया है।“ इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक्विनास पर अरस्तू की विचारधारा का काफी प्रभाव पड़ा जिस कारण से वे मध्ययुग के अरस्तू कहलाए। इसके पक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं—

अरस्तू के धर्मनिरपेक्ष विचार दर्शन ने एक्विनास को काफी प्रभावित किया है। इस आधार पर एक्विनास ने मध्यकालीन धर्मान्धता के गर्त से राजनीतिक चिन्तन को बाहर निकालने के लिए एक सेतु का निर्माण किया है। उसने अपने चिन्तन में वैज्ञानिकता को प्रवेश कराकर राजनीतिक चिन्तनकी महान् सेवा की है। उसके प्रयासों से अराजनीतिक चिन्तन पुनः उसी स्थिति में आ गया जो अरस्तू के समय में था।

एक्विनास ने अरस्तू की ही तरह मनुष्य को स्वभावतः तथा अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी माना है। समाज के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर एक्विनास ने राज्य को प्राकृतिक संस्था सिद्ध किया। उसने स्पष्ट किया कि राज्य मनुष्य प्रकृति पर ही आधारित है। उसने ईसाइयत विचारधारा को नया रूप दिया। उसने का कि राज्य की उत्पत्ति आदिम पाप का फल नहीं है। राज्य को व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। साथ में राज्य ईश्वर द्वारा स्थापित संस्था भी है जिसका क्रमिक विकास हुआ है। अरस्तू के सिद्धान्तों के आधार पर ही एक्विनास ने कहा है कि राज्य मानव समाज का अनिवार्य संघटक है, फिर भी राजनीतिक सत्ता अन्य सभी की तरह ईश्वर से व्युत्पन्न है। चर्च राज्य का विरोधी न होकर पूरक ही है।

एक्विनास ने भी अरस्तू की ही तरह श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए राज्य को अनिवार्य माना है। एक्विनास का कहना है कि राज्य व्यक्ति की पूर्ण प्राकृतिक आत्म-अभिव्यक्ति की प्राप्ति का साधन है। राज्य के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति श्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। दोनों दार्शनिक सरकार को नैतिक उद्देश्य को प्रमुखता देते हैं। अरस्तू और एक्विनास के अनुसार राज्य एक अच्छाई है, बुराई नहीं। एक्विनास ने राज्य के अतिरिक्त चर्च को भी सर्वोपरि संगठन स्वीकार किया है। दोनों विचारक राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति को स्वीकार करते हैं।

एक्विनास ने अरस्तू से विवेक या तर्क का सिद्धान्त भी ग्रहण किया है। उसका मानना है कि मानवीय विवेक पर आधारित ज्ञान ईसाई धर्मशास्त्रों के विपरीत नहीं है। उसने लौकिक सत्ता का आधार विवेक को ही माना है।

एक्विनास न राज्यों व सरकारों का वर्गीकरण भी अरस्तू की तरह ही किया है। उसने अरस्तू की तरह ही राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और सर्व लोकतन्त्र तथा उनके तीन ही विकृत रूपों का वर्णन किया है। उसने राजतन्त्र को उत्तम तथा लोकतन्त्र को निकृष्ट रूप बताया है।

एक्विनास ने अरस्तू की ही तरह यह भी स्वीकार किया है कि कुछ ऐसे भी सत्य हैं जो विवेक से परे हैं। उनका ज्ञान श्रद्धा और विश्वास से ही प्राप्त हो सकता है।

उसने अरस्तू की तरह यह भी स्वीकार किया है कि मानव समाज की रचना सभी के हित के लिए हुई है।

उसने अरस्तू के कानून सम्बन्धी विचारों को भी ग्रहण किया है। वह कानून को विवेक का परिणाम मानता है। परन्तु एक्विनास ने कानून के विचार को व्यापक आधार प्रदान किया है।

एक्विनास ने अरस्तू की सोद्देश्यता की धारणा को भी स्वीकार किया है। दोनों का मानना है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु एक निश्चित उद्देश्य, लक्ष्य, साक्ष्य या प्रयोजन की तरफ जा रही है।

एक्विनास ने अपनी न्याय सम्बन्धी विचारधारा को भी अरस्तू के विचारों पर ही आधारित किया है। एक्विनास का मत है कि न्याय का स्रोत राज्य के कानून हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक्विनास ने अपने राजनीतिक चिन्तन को अरस्तूवाद की नींव पर ही खड़ा किया है। लेकिन एक्विनास का प्रयास यह रहा है कि अरस्तू के विचारों को ईसाइयत के आधार पर ढाला जाए। उसने मानव समाज की तुलना में दैवी समाज को महत्त्व दिया है। उसने अरस्तू के विवेक के साथ विश्वास का भी समन्वय कर दिया है। अरस्तू ने तो केवल मानव जीवन का लक्ष्य लौकिक सुख माना है जबकि एक्विनास ने इसके साथ-साथ पारलौकिक सुख को भी महत्त्व दिया है। उसने मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के अधीन कर दिया है। इस प्रकार एक्विनास ने अरस्तू के विचारों को साधन के रूप में ग्रहण करके उनको साध्यों के अनुकूल बनाया है। सत्य तो यह है कि एक्विनास ने अरस्तू के विचारों को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। एक महान विद्वतावादी दार्शनिक के रूप में एक्विनास ने अरस्तूवाद और ईसाईवाद का मिश्रण करके मध्ययुग में लम्बे समय से चले आ रहे धर्मसत्ता और राजसत्ता के संघर्ष को शान्त करने का प्रयास किया है। उनको मध्ययुग का अरस्तू कहना सर्वथा सही है।

6

दांते एलीगियरी

परिचय

दांते को यूरोप के मध्ययुगीन राजनीतिक विचारकों में अग्रणी माना जाता है। इसे धर्म, सत्ता और राज्य के बीच कायम संघर्ष में रामसत्ता का समर्थक माना जाता है। दांते ने राजसत्ता को धर्मसत्ता के हस्तक्षेप से मुक्त करने का प्रयास किया। दांते के चिंतन के संबंध में गैटिल ने कहा कि, “साम्राज्यवादी सिद्धांत की सर्वाधिक तर्कसंगत और व्यवस्थित अभिव्यक्ति दांते एलीगियरी की थी।”

जीवन-परिचय—दांते का परिवार इटली के फ्लोरेंस नगर में रहता था। कई पीढ़ियों से उसके पूर्वज वहाँ बसे थे। दांते का जन्म यहाँ मई 1265 में हुआ था। बाद में दांते का परिवार गरीब हो गया। बचपन में ही दांते की माता का देहान्त हो गया। दांते के पालन-पोषण के लिए उसके पिता ने दूसरी शादी की। जब वह 15 वर्ष का था तभी उसके पिता का देहांत हो गया। दांते की शिक्षा-दीक्षा अनेक विषयों में हुई। पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त चित्रकला, संगीत, घुड़सवारी आदि में दीक्षा ली। आरंभ से ही उसमें कवियों की संगति से कविता लिखने का संस्कार पड़े। 1291 में उसका विवाह गेमा डोनण्टी के साथ हुआ। लगभग 1300 में दांते ने सक्रिय राजनीति में भाग लेना प्रारंभ किया। 1301 में डोनण्टी नामक सरदार ने फ्लोरेंस पर आक्रमण और दांते को बंदी बना लिया गया। उसके ऊपर मुकदमा चला और फ्लोरेंस से उसे निष्कासित कर दिया गया और यह आदेश दिया गया कि यदि वह

फ्लोरेन्स में पुनः प्रवेश करेगा तो उसे जिंदा जला दिया जायेगा। उसकी सारी सम्पत्ति छील ली गई। शेष जीवन वह इधर से उधर भटकता रहा। इस प्रवास में ही 'Divine Comedy' जैसे महान् ग्रंथ लिखने की प्रेरणा हुई। 1321 में दांते की मृत्यु हो गई।

इस निर्वासन के दौरान उसे इटली के कई नगर राज्यों के भ्रमण का भी मौका मिला। उसे इस दौरान इटली के इन नगर राज्यों में पारस्परिक कलह, हिंसा, फूट, विद्वेष और घृणा के वातावरण को देखने का मौका मिला, जिससे वह इस निश्चय पर पहुँचा कि इनमें व्याप्त अराजकता का अंत करने के लिए और लोगों के जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए एक सुदृढ़ तथा व्यवस्थित शासन व्यवस्था की आवश्यकता है तत्कालीन समय में इटली में ऐसी सुदृढ़ तथा व्यवस्थित शासन व्यवस्था स्थापित करने का कार्य या तो पोप शक्ति कर सकती थी या पवित्र रोमन सम्राट की शक्ति। दांते को फ्लोरेन्स से निर्वासित करने वाली पोप की शक्ति थी। पोप अपने निहित स्वार्थों के कारण इटली के एक सार्वभौम लौकिक राज्य के नेतृत्व में एकीकरण और संगठन का विरोधी ही नहीं था, बल्कि उसके मार्ग में रोड़े भी अटका रहा था। अतः दांते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इटली का एकीकरण करके शांति तथा व्यवस्था की स्थापना करने का कार्य सम्राट के माध्यम से ही पूर्ण हो सकता है। अपने इस विचार का प्रतिपादन और प्रचार करने के लिए उसके द्वारा 1310 में हेनरी सप्तम के आक्रमण के समय उसका समर्थन करने के लिए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ राजतंत्र 'डी मोनार्किया की रचना की। इस ग्रंथ में उसने जिस सार्वभौम ईसाई साम्राज्य की रूपरेखा को प्रस्तुत किया उसमें उसने सर्वोच्च शासक और उसे पोप की सत्ता से बिल्कुल अलग बताया।

कृतियाँ

लैटिन भाषा

- डी वल्गारी एलोक्वेंटा
- डी मोनार्किया
- एक्लोग्यूस
- लेटार्स

इतालवी भाषा

- डिवाइन कॉमेडी

- इन्फर्नो
- पुर्गातोरियो
- पैरादिसो
- ला वीटा न्युओवा
- ले रिमे
- कॉन्विवियो

दाँते की रचनाओं की सुविधा की दृष्टि से हम तीन भागों या कालों में बाँट सकते हैं। प्रथम भाग में वे कृतियाँ रखी जा सकती हैं जिनमें यौवन का उत्साह और बियात्रिस के प्रति उसके उत्कट अनुराग का धार्मिक रूपांतरण दृष्टिगोचर होता है। इसकी अवधि मोटे तौर पर 1283 से 1290 तक मानी जा सकती है। इस काल की सबसे मुख्य रचना विटा नुओवा है। दूसरा भाग बियात्रिस की मृत्यु के बाद शुरू होता है। इसका विस्तार 1291 से 1313 तक रखा जा सकता है। इस काल में उसका जीवन निराशा, दुःख एवं विश्वास पर अस्थायी रूप से तर्कबुद्धि का प्राधान्य छा गया और उसका झुकाव दर्शन तथा विज्ञान की ओर अधिक हो गया। वह राजनीतिक झगड़ों की कटुता में एक दाँव पेशों या योजनाओं में लिप्त होता गया। इस काल की मुख्य रचनाएँ हैं - दि कॉन्विवियो, दि मॉनर्किया, दि इपिसिल्लस आदि। सम्राट हेनरी सप्तम से दाँते ने बड़ी बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं जिनपर उसकी मृत्यु ने पानी फेर दिया। उसकी समस्त योजनाएँ एकाएक समाप्त हो गईं किंतु गनीमत यही रही कि वे उसका संपूर्ण हौसला पस्त न कर सकीं। उसने एक बार फिर आध्यात्मिक संतुलन की ओर कदम बढ़ाया। युवावस्था के विचार और विश्वास उसमें पुनः जाग उठे और वह दिवंगत बियात्रिस की पवित्रीभूत आत्मा की उपासना की ओर और भी दृढ़ता से उन्मुख हो उठा। डिवाइन कॉमेडी की कितनी ही कविताओं में इसके प्रमाण बिखरे पड़े हैं। दाँते की रचनाओं का यह तीसरा काल 1314 से 1321 तक, याने उसकी मृत्यु के समय तक, माना जा सकता है।

दि विटा नुओवा को हम इटली के प्रथम प्रेमकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें कविहृदय की उक्त भावनाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की झलक हमें देख पड़ती है। बियात्रिस के प्रथम दर्शन के बाद ही किस तरह उसके नए जीवन का आरंभ हुआ, उसके हृदय में किस तरह क्रम क्रम से इस नारी के सौंदर्य एवं माधुर्य की भावना प्रबलतर हाती गई, धीरे धीरे वह किस तरह उसकी आशाओं तथा प्रेम-भक्ति-उपासना का केंद्र बनती गई, उसी मृत्यु पर उसे कितनी मानसिक वेदना

और आकुलता हुई और किस प्रकार उसका पार्थिव प्रेम अंत में दिव्य भक्ति एव पूजाभाव में परिणत होता गया, इसकी मनोरम झाँकी इस काव्य में देखी जा सकती है। बियात्रिस की मृत्यु के बाद उसका ध्यान कुछ वर्षों के लिए इहलौकिक भावनाओं, विचारों तथा स्वार्थों की ओर गया और वह निराशाओं अथवा संशयों के बीच हिलोरे खाने लगा। यह हम उसकी दूसरी रचना श्कॉनबाइवोंश में देख सकते हैं। इन दोनों रचनाओं में बियात्रिस कहाँ और कब एक अलौकिक सौंदर्य की प्रतिमा प्रतीत होती है और कहाँ वह मात्र एक दार्शनिक अथवा धार्मिक दृष्टि से कल्पित दिव्य छाया सी देख पड़ती है, इसका विवेचन करना अनावश्यक है। इतना ही कहना अलम् होगा कि विटा नुओवा सामान्य प्रेमगाथा न होकर एक उच्च सात्विकता एव श्रद्धा (फेथ) की ओर कवि का मानसिक उन्नयन है। इसमें संदेह नहीं कि आशा निराशाओं के विविध अंतर्द्वंद्वों के बावजूद दाँते का हृदय बार बार इसी ओर प्रत्यावर्ती होने के लिए सचेष्ट होता जान पड़ता है। वस्तुतः काव्य के अंतिम भाग से ही आभास मिलने लगता है कि कवि के मानस चक्षु पर उस पारलौकिक जगत् की छाया पड़नी आरंभ हो चुकी थी जिसका केंद्रबिंदु बियात्रिस ही थी और जिसका परिपाक उसके डिवाइन कॉमेडी नामक काव्य में हुआ।

दाँते की लातीनी रचनाओं में दे मोनार्किया विशेष उल्लेखनीय है। इसमें दिखलाया गया है कि साम्राज्य की आवश्यकत एक तरह से ईश्वरसमर्थित है। उनमें राज्य तथा चर्च या धार्मिक संस्था के पृथक् पृथक् क्षेत्र का प्रतिपादन किया गया है और इस बात पर बल दिया गया है कि पोप की सत्ता केवल धार्मिक मामलों तक ही सीमित रहनी चाहिए। उसे पत्रसंग्रह श्इपिसिल्स में से भी कई पत्रों में इसी आशय के विचार प्रकट किए गए हैं।

दाँते के पक्ष विपक्ष में काफी आलोचनाएँ हुईं जिनके उसकी कीर्ति कभी कभी मलिन हो जाती सी दिखाई पड़ती थी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि वह महान कवि था जिसने अपने परवर्ती अनेक कवियों तथा साहित्यकारों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। समय बीतने पर अनेक विद्वानों और विचारकों ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है जिससे आज विश्व के साहित्यकारों तथा कवियों में उसे यथेष्ट ऊँचा स्थान देने में सहायता मिलती है।

दांते के राजनीतिक विचार

सार्वभौम राज्य का सिद्धांत और उसकी उपयोगिता—दांते ने सार्वभौम साम्राज्य के स्वरूप और उसके औचित्य के बारे में अपने विचार डी-मोनार्किया की

पहली पुस्तक में व्यक्त किये हैं। साम्राज्य से उसका आशय है, “एक ऐसे व्यक्ति के शासन से है जो समय की अवधि में रहने वाले समस्त व्यक्तियों पर व्यापक हो, अथवा ऐसी वस्तुओं पर स्थापित हो जिन्हें समय के मापदण्ड से मापा जा सके।” दूसरे शब्दों में साम्राज्य नश्वर वस्तुओं एवं मानव समुदाय पर विस्तृत रूप से होने वाला एक व्यक्ति का शासन है। साम्राज्य को मानव जीवन का सुख, शांति एवं समृद्धि के लिए आवश्यक मानते हुए उसने उसके औचित्य के लिए निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

1. दांते ने मनुष्य के मानसिक उत्थान को उसके जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में देखा है। मनुष्य लौकिक शांति के द्वारा इस लक्ष्य को हासिल करता है। शांति से उसका अभिप्राय सर्वोत्तम रूप में दैवी यश और पृथ्वी पर सद्भावनामय मानवों के मध्य शांति से है। ऐसी शांति साम्राज्य के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। दांते अरस्तू की पॉलिटिक्स से सम्राटतन्त्र की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए तर्क ग्रहण करता है कि, जब अनेक वस्तुएँ एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख हों तो यह नितांत अनिवार्य है कि उनमें से एक उन पर शासन करे अथवा नियंत्रित करे और अन्य शासित एवं नियंत्रित रहें।”
उसने एक व्यक्ति के द्वारा शासित साम्राज्य की उपयोगिता को इस आधार पर सिद्ध किया है और उसका मानना है कि, “साम्राज्य समस्त मानव समुदाय को नियंत्रित एवं शासित करके सार्वलौकिक शांति के लिए सामान्य लक्ष्य की ओर ले जाने वाला प्रभावशाली साधन है।
2. दांते का मत है कि जैसे मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ उसके विवेक से शासित एवं नियंत्रित होती हैं तथा उसके नियंत्रण में रहकर ही वे अपने सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार संपूर्ण मानव समुदाय जो एक सामान्य लक्ष्य की ओर उन्मुख है, एक ही शासन सत्ता द्वारा शासित होने पर ही अपने सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।
3. धर्मशास्त्र के इस कथन को अपने तर्क का आधार मानते हुए कि मनुष्य ईश्वर के सादृश्य एवं आकृति के अनुसार बनाया गया है, दांते ने लिखा है कि “मानव जाति ईश्वर से सर्वाधिक सादृश्यता लिए तब होती है जबकि वह अत्यधिक एकताबद्ध इकाई के रूप में हो और मानव जाति अत्यधिक एकताबद्ध इकाई के रूप में तभी हो सकती है जबकि वह एक व्यक्ति के नेतृत्व में पूर्णतः संगठित हो।” अतः मानव जाति को ईश्वरीय व्यवस्था के अनुरूप बनाने का साम्राज्य एकमात्र आधार है।

4. छोटे-छोटे राज्यों में उत्पन्न होने वाले विवाद भी सफलतापूर्वक तभी सुलझाये जा सकते हैं जबकि इन पर एक ही सम्राट का सामान्य शासन स्थापित हो। अतः एक सार्वभौम साम्राज्य ही विवादों का समाधान करके स्थायी शांति स्थापित कर सकता है।
5. दांते का मानना है कि न्याय की स्थापना तभी हो सकती है जबकि उसकी देख-रेख के लिए एक सम्राट हो क्योंकि न्याय की स्थापना के लिए एक ऐसे पात्र की आवश्यकता होती है जिसे न्याय की तीव्रतम इच्छा हो एवं लागू करने की आवश्यक सामर्थ्य हो। ऐसा व्यक्ति सम्राट ही हो सकता है।
6. दांते मानव स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना को आवश्यक मानता है। स्वतंत्रता की अरस्तू की परिभाषा का समर्थन करते हुए कहता है कि, “वह व्यक्ति स्वतंत्र होता है जो स्वयं के लिए अस्तित्व में होता है, किसी अन्य के अस्तित्व के लिए साधन के रूप में होने पर नहीं।” इस आधार पर वह कहता है कि मानव समाज तभी अपने स्वयं के लिए अस्तित्व में रहता है जबकि वह साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो और सम्राट के अधीन हो।
7. दांते ऐतिहासिक आधार पर सार्वभौम साम्राज्य की आवश्यकता सिद्ध करता हुआ कहता है कि आदि मानव के पतन के साथ प्रारंभ होने वाले मानव इतिहास में केवल वही युग सुख, शांति एवं समृद्धि का युग रहा जिसमें सम्राट ऑगस्टाइन का शासन विद्यमान था, क्योंकि उसी के समय ईसा ने जन्म ग्रहण किया। इसलिए मनुष्य एक ‘सार्वभौम साम्राज्य’ जैसी शासन प्रणाली में ही सुख, शांति एवं समृद्धि हासिल कर सकता है।

यद्यपि दांते ने सार्वभौम साम्राज्य का समर्थन किया है लेकिन उसने यह स्वीकार किया है कि साम्राज्य में सम्मिलित विभिन्न राज्यों एवं नगरों को अपने विशिष्ट चारित्रिक गुणों को न केवल बनाये रखने का अधिकार है अपितु उन्हें विकसित करने का अधिकार भी है। दांते ने केन्द्रीय साम्राज्य का समर्थन किया है लेकिन स्थानीय एवं शासन को भी उसने जरूरी माना है।

रोमन साम्राज्य का औचित्य—दांते ने डी-मोनार्किया की दूसरी पुस्तक में रोमन साम्राज्य के गौरव का गुणगान किया है। उसका मत था कि शताब्दियों तक रोमन साम्राज्य ने यूरोप और एशिया के एक बड़े भाग को अराजकता से मुक्त रखा, वहाँ शांति-व्यवस्था बनाये रखी और परिणामस्वरूप व्यापार आदि में आशातीत वृद्धि हो सकी। उसका मत था कि रोमन साम्राज्य की शासन सत्ता उचित साधनों के

माध्यम से प्राप्त की गई थी। रोमन लोग ईश्वरीय इच्छा से ही एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हो सके थे। रोमन साम्राज्य सदैव विजयी रहा। युद्ध-विजयी दैवी आशीर्वाद का फल है। रोम वालों ने लोभ के वशीभूत होकर साम्राज्य का विस्तार नहीं किया, अपितु विजयी तथा पराजित दोनों के सामूहिक हित को ध्यान में रखकर किया। ईश्वर ने इटली के निवासियों को यह क्षमता प्रदान की है वे विश्व का शासन करते हैं। ईसाई धर्म के सिद्धांत भी रोम के विश्वव्यापी शासन के औचित्य को सिद्ध करते थे। ईसा ने रोमन अधिकारी द्वारा दिये गये मृत्यु-दण्ड को स्वीकार करके इस तथ्य को सिद्ध किया कि रोमन साम्राज्य की सत्ता पूर्णतः वैध थी। यदि रोमन सत्ता वैध न होती तो ईसा कभी भी रोमन अधिकारी द्वारा दिये गये मृत्यु-दण्ड को स्वीकार नहीं करते। दांते ने रोमन साम्राज्य के विघटन के बाद स्थापित पवित्र रोमन साम्राज्य के पुराने रोमन साम्राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में देखा। वह इस साम्राज्य को वैधता प्रदान करता है।

सम्राट की सर्वोच्च सत्ता तथा पोप—दांते ने डी-मोनार्किया की तीसरी पुस्तक में सम्राट की सत्ता तथा पोप की सत्ता के पारस्परिक संबंधों पर विचार किया है। उसने इस अवधारणा से असमति जाहिर की है। सम्राट को उसके अधिकार पोप द्वारा प्रदान किये गये हैं। इस संबंध में पोप के समर्थकों द्वारा दी जाने वाली युक्तियों का खण्डन किया गया है जैसे कि चर्च आत्मा है और राज्य शरीर है या चर्च सूर्य के समान है और राज्य चन्द्रमा के समान। वह पोप गिलेशियस द्वारा प्रतिपादित 'दो तलवारों' के सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं करता। इस संबंध में उसका मत था कि चर्च के ऊपर एकमात्र सत्ता धर्मशास्त्रों की है न कि पोप की। पोप के आदेशों को बदलने का अधिकार चर्च को है क्योंकि वे आदेश केवल परम्परागत हैं।

सम्राट कॉन्स्टेन्टाइन द्वारा पोप को लौकिक सत्ता दान करने या शार्लमेन का पोप द्वारा राज्याभिषेक करने की घटना की वैधता को भी वह स्वीकार नहीं करता। उसका मत है कि कॉन्स्टेन्टाइन को साम्राज्य की सत्ता को किसी को दान करने का कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था और इसलिए जब वैध तरीके से पोप को राज्य सत्ता प्राप्त नहीं हुई तो उस सत्ता को शार्लमेन को प्रदान करने का कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था। यह बात चर्च के सिद्धांत के भी विरुद्ध है कि पोप सांसारिक राज्य की सत्ता प्रत्यक्षतः ईश्वर से तथा जनता से प्राप्त हुई है न कि पोप से और इसलिए पोप को सांसारिक सत्ता का प्रयोग करने का या उस पर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

दांते के अनुसार मनुष्य लौकिक एवं आध्यात्मिक निर्देशन के द्वारा ही जीवन

में चरम उद्देश्य को हासिल कर सकता है। प्राप्ति के लिए लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में निदेशकों की आवश्यकता रहती है। इन दोनों उद्देश्यों हेतु दोनों सत्ताओं के अधिकार-क्षेत्र समुचित रूप से निर्धारित होने चाहिए। पोप को लौकिक सत्ता के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। जनता की शक्ति सम्राट की शक्ति से अधिक है।

मूल्यांकन—मध्य युगीन राजनीतिक चिंतन के इतिहास में दांते का विशिष्ट सम्मान है। उसके चिंतन के महत्त्वपूर्ण तत्व निम्नलिखित हैं—

1. दांते राजसत्ता को धर्म सत्ता से मुक्त करने का पक्षधर है। गैटल ने इस बारे में कहा है, “उसकी विचारधारा साम्राज्यवादी सिद्धांत की सर्वाधिक तर्कसंगत और व्यवस्थित अभिव्यक्ति थी।..... यद्यपि उसके आदर्श स्पष्टतया मध्ययुगीन थे, तथापि उनमें उस आधुनिक विचार के कुछ चिह्न भी विद्यमान हैं कि राज्य को व्यक्ति के लिए अस्तित्व में रहना चाहिए तथा उसके संचालन में व्यक्ति का भाग होना चाहिए।”
2. विश्वव्यापी सम्राटतंत्र की उसकी कल्पना का संबंध शांति की स्थापना से है। उसका मानना है कि इससे वास्तविक अर्थों में सर्व व्यापी शांति की स्थापना संभव है। उसकी यह कल्पना आधुनिक संघवाद और अंतर्राष्ट्रवाद का उसे अग्रदूत सिद्ध करती है। दांते को आधुनिक राज्य के आगमन का संदेशवाहक और राष्ट्रसंघ की भूमिका का लेखक माना जा सकता है। केटलिन के मतानुसार, “दांते ने न केवल रोमन साम्राज्य का उपसंहार लिखा अपितु राष्ट्रसंघ की भूमिका भी तैयार की। दांते ने राष्ट्रसंघ को यह ठोस तर्क प्रदान किया कि राज्य द्वारा शांति की स्थापना का प्रमुख कार्य तभी पूरा हो सकता है जब वह ‘विश्व राज्य’ हो।”

7

निकोलो मैकियावैली

विल दुरॉ ने मैकियावैली के बारे में लिखा है— “पुनर्जागरण के युग में एक व्यक्ति ऐसा है जिसका वर्गीकरण करना बहुत कठिन है उसे कूटनीतिज्ञ कहा जाए या इतिहासज्ञ, या दार्शनिक वह अपने समय का सबसे सनकी विचारक था फिर भी ऐसा देशभक्त था जिसमें एक उत्तम आदर्श के लिए आग जल रही थी। यह एक ऐसा व्यक्ति था जिसने जिस किसी भी कार्य में हाथ लगाया वह असफल हुआ लेकिन अपने समय के इतिहास में औरों की अपेक्षा उसने सबसे अधिक गहरा स्थान बना लिया है।”

मैकियावैली को आधुनिक राजनीतिक चिंतन के सूत्रधार के रूप में देखा जाता है। उसके राजनीतिक विचारों में मध्ययुगीन परंपराओं की अपेक्षा आधुनिक तत्वों का समन्वय अधिक है। मध्य युग के समस्त राजनीतिक विचारकों का चिन्तन चर्च तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण की समस्या से था जबकि मैकियावैली ने इससे हटकर राजनीति में धर्मवाद के स्थान पर शुद्ध व्यवहारवाद का अनुसरण करते हुए नवीन धारा का प्रारंभ किया। मैकियावैली पहला राजनीतिक विचारक था जिसने एक ऐसे राष्ट्रीय राज्य की कल्पना प्रस्तुत की जो सम्प्रभुता धर्म निरपेक्षता तथा राष्ट्रीयता पर आधारित हो।

उसके बारे में गैटिल ने लिखा है— “मैकियावैली आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक था।” इस बारे में **सेबाइन** के शब्दों में, “सम्पूर्ण पुनरुत्थान मैकियावैली में आ गया है।” **गैटिल** के अनुसार, “वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने

बताया कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने संरक्षण तथा हित संबर्द्धन का उद्देश्य रखना चाहिए।”

जीवन परिचय

मैकियावैली का जन्म इटली के प्रसिद्ध नगर फ्लोरेन्स में 3 मई 1469 को हुआ था। उसका परिवार एक मध्य वर्गीय परिवार था। इसके पिता बरनार्डो-डि-निकोलो एक मध्यम श्रेणी के वकील थे और तत्कालीन गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में विश्वास करने में गौरव का अनुभव करते थे। मैकियावैली की शुरुआती पढ़ाई फ्लोरेन्स की एक ऐसी विद्यापीठ में हुई जिसमें विवेकाधारित ज्ञान के अनुसार पाठ्यक्रम रखा गया था। इस प्रारंभिक शिक्षा का मैकियावैली पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके समस्त जीवन पर छा गया। दुर्भाग्यवश वह पर्याप्त शिक्षा न प्राप्त कर सका। फ्लोरेन्स में उन दिनों गणतन्त्रात्मक शासन था। फ्लोरेन्स स्वतः एक स्वतंत्र नगर राज्य था। शासकीय क्षेत्र में उसके परिवार के व्यक्तियों का कोई प्रभाव नहीं था लेकिन परिवार के व्यक्तियों का कोई प्रभाव नहीं था लेकिन परिवार के कुछ मित्रों के प्रयत्न से वह शासकीय पद प्राप्त करने में सफल हो सका। शासकीय पद पर रहते हुए मैकियावैली को अपनी अति सशक्ति और अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति के कारण अत्यन्त सफलता प्राप्त हुई। उसकी मानसिक और बौद्धिक प्रतिभा का प्रभाव शासकीय अधिकारियों पर भी पड़ा और उन्होंने मैकियावैली की पदोन्नति में यथाशक्ति सहायता पहुंचायी। चार वर्षों में ही वह दस संसदीय परिषद् के द्वितीय चान्सलर और सचिव के उच्च पद तक पहुंच गया। वह उस पद पर सन् 1512 ई. तक बना रहा। उसको पेरिस, रोम, बर्लिन आदि देशों में राजदूत के पद पर लगातार 24 बार जाने का अवसर प्राप्त हुआ, जहां पर उसने प्रचलित राजनीति का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया। इसी कारण वह ड्यूक सीजर बोर्जिया के सम्पर्क में आया। मैकियावैली ने उसे महापुरुष स्वीकार किया और अपनी पुस्तक ‘प्रिन्स’ में आदर्श राजा के रूप में उसे चित्रित किया।

फ्लोरेन्स में 1512 ई. में राजनीतिक परिवर्तन की महान घटना घटी। फ्रांस और स्पेन में सन् 1512 ई. में राजनीतिक तनाव बढ़ा। फ्रांस का फ्लोरेन्स पर अधिकार होने के कारण स्पेन ने फ्लोरेन्स पर चढ़ाई कर दी। स्पेन के आतंक के कारण फ्लोरेन्स की जनता ने सन् 1512 ई. में गणतंत्र को त्यागकर शासन का

अधिकार पुनः मेडिसी वंश को सौंप दिया। इसके साथ ही मैकियावैली के कूटनीति जीवन का अन्त हो गया। मैकियावैली को मेडिसी-वंश के शासन के विरुद्ध षड्यंत्र के सन्देश में कारावास का दण्ड भी भोगना पड़ा। यद्यपि अपने कुछ राजनीतिक वर्चस्व वाले मित्रों की मदद से एक वर्ष के बाद ही वह जेल से मुक्त हो गया। लेकिन उसकी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। मैकियावैली ने अपने कारावास के जीवन का राजनीतिक ग्रन्थों के पाठ और अध्ययन में उपयोग किया। इसी समय उसने इटली की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का अध्ययन कर उन समस्याओं को खोज निकाला जिनका निदान करना इटली की एकता के लिए अति आवश्यक था। कारावास का काल मैकियावैली ने इस प्रकार व्यतीत किया जिस प्रकार एक डॉक्टर या चिकित्सक अपने रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व उसके रोग के निदान में व्यतीत करता है।

इसके पश्चात् मैकियावैली ने शेष 15 वर्ष अपने सानकासियानो नामक ग्राम में जाकर समाज-सेवा एवं लेखन कार्य में व्यतीत किये। यह वर्ष उसके लिए अत्यन्त विपदाओं के भी रहे हैं। यह सत्य है कि यदि उसे इस काल में विपदाएं नहीं घेरतीं तो आज उसे कोई भी नहीं जानता, क्योंकि इसी काल में उसने अपनी प्रमुख कृतियां 'प्रिन्स' तथा 'दि डिसकोर्सेज ऑन फर्स्ट टेन बुक्स ऑफ लिवि' की रचना की। वह अपने पुराने पद की प्राप्ति के विचार से 'दि प्रिन्स' को मेडिसी वंश के शासक को समर्पित करना चाहता था। अन्त में उसने इसे लारेन्जी डी-मैडिसेट को समर्पित किया। फिर भी वह पूर्ण रूप से मेडिसी वंश के शासक का कृपा पात्र न बन सका। मैकियावैली उस फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का दायित्व सौंपा गया। यह 1525 ई. में इसका लेखन पूरा हुआ। फ्लोरेन्स में फिर विद्रोह हुआ और मेडिसी वंश का शासन समाप्त कर लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना की गयी। भगीरथ प्रयत्न के पश्चात् भी इस समय मैकियावैली राजनीति में प्रवेश न कर सका क्योंकि वह मेडिसी वंश का हितचिन्तक माना गया। मैकियावैली की मृत्यु 22 जून 1527 में हुई। उस समय उसकी आयु 58 वर्ष थी और वह उस समय काफी साधारण स्थितियों में जी रहा था। इटली का राष्ट्र-राज्य के रूप में स्वप्न देखने वाले इस पहले इटालियन की अत्यन्त निर्धन अवस्था में मृत्यु विधि की विडम्बना ही प्रतीत होती है। यह प्रारब्ध का खेल है कि रोम, पेरिस, बर्लिन आदि देशों में 24 बार राजदूतों के पद पर काम कर चुकने वाला व्यक्ति इतनी अल्पायु में बिना कोई महत्त्व प्राप्त किये काल के गर्भ में समा गया। लेकिन एक समय ऐसा भी आया जब उसकी कब्र पर लिखा गया, "इतने महान व्यक्ति के लिए सारी प्रशंसा अपर्याप्त है।"

मैकियावैली के राजनीतिक विचार

मैकियावैली के राजनीतिक विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

मानव स्वभाव—अपनी लिखित पुस्तक प्रिन्स में मैकियावैली ने समस्त मानव संबंधी विचारों का विवेचन किया है। वह अनिवार्यतः तत्कालीन इटली निवासियों के आचरण पर आधारित है। उसने अपने समकालीन देशवासियों के स्वभाव का अध्ययन कर यह परिणाम निकाला कि मनुष्य स्वभावतः एक स्वार्थी एवं दुष्ट प्राणी होता है। उसके अनुसार, मनुष्य की सारी सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाएं स्वार्थ की भावना से प्रेरित होती हैं। मनुष्य में अन्तर्निहित अच्छाई किंचित मात्र भी नहीं होती।

‘प्रिन्स’ में उसने लिखा है कि, “सामान्य रूप से मनुष्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं। जब तक सफलता आपको मिलती है, वे पूर्ण रूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों को बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे, जब तक इनकी आवश्यकता दूर रहती है। ज्यों ही वह आवश्यकता निकट आती है तो वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।” **मुरे** ने इस बारे में लिखा है— “मनुष्यों को वह दुर्बलता, मूर्खता तथा दुष्टता का सम्मिश्रण समझता था जिन्हें प्रकृति ने चालक के हाथ में खिलौना और निरंकुशता का शिकार बनने के लिए बनाया है।”

मैकियावैली के शब्दों में मनुष्य साधारण रूप से निर्बल, अज्ञानी और दुष्ट स्वभाव का होता है और आवश्यकतावश ही भला बनने का स्वांग करता है। सम्पत्ति पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का वह घोर आकांक्षी होता है और उसकी सुरक्षा के लिए वह हर तरह का छल-छदम काम लाने में संकोच अनुभव नहीं करता। मनुष्य स्वभावतः सम्पत्ति से कितना अधिक लगाव रखता है इसके बारे में उसका कथन है कि “मनुष्य अपने पिता की मृत्यु को शीघ्र ही भूल जाता है, किन्तु पितृ-धन की हानि को नहीं भूला।” इसलिए वह राजा को परामर्श देता है कि वह अपने नागरिकों को अन्य सभी प्रकार के दण्ड दे लेकिन उनकी सम्पत्ति का कभी अपहरण न करे। मैकियावैली ने सम्पत्ति की आकांक्षा को मनुष्य कार्यों की प्रेरणा के मूल में देखा है।

मैकियावैली का मत है कि मनुष्य एक पशु के समान है जिसमें अन्तर्निहित अच्छाई नाममात्र को भी नहीं होती है। भय, शक्ति और अभिमान उसकी प्रेरक शक्तियां हैं। उसके शब्दों में, “लोग न केवल डरपोक और अज्ञानी होते हैं, वरन् स्वभाव से दुराचारी होते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर सच्चरित्र दिखाई देते हैं। लोग अपनी वासनाओं के दास और प्रथम श्रेणी के स्वार्थी होते हैं।”

मैकियावैली ने प्रेम और भय को दो विशेष शक्तियों के रूप में देखा है जिनके द्वारा मनुष्य से कुछ काम निकाला जा सकता है। जो शासक प्रिय होगा उसका दूसरों पर अच्छा प्रभाव होगा और जो शासक भयंकर होगा, जनता उसकी आज्ञा तुरन्त मानेगी। क्योंकि प्रेम और भय दो ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य को वश में किया जा सकता है। इनमें से भी राज्य के भय का सहारा लेना अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि वह जनता को डरने पर विवश तो कर सकता है, प्यार करने पर नहीं।

इस बारे में मैकियावैली ने लिखा है—“व्यक्ति स्वभाव से ईर्ष्यालु और महत्त्वाकांक्षी होता है। व्यक्ति अपने व्यवहार में दो तत्वों से परिचालित होता है—प्रेम और भय। इन दोनों के अतिरिक्त धनोपार्जन की प्रवृत्ति तीसरी प्रमुख शक्ति है।”

मैकियावैली के विचारानुसार जनसाधारण तन और धन को सुरक्षित रखना चाहता है, इसलिए वह कानून का नियंत्रण स्वीकार कर लेता है। मनुष्य को इस बात की जानकारी है कि वह अकेले दूसरे मनुष्यों के प्रहार से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए अपने प्राणों की रक्षा के लिए ही मनुष्य राज्य के संरक्षण में रहता आया है। इस प्रकार मैकियावैली के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के स्वार्थ सिद्धि के लिए हुई है।

आलोचना—मनुष्य के विचार से संबंधित मैकियावैली के विचारों की आलोचना इस प्रकार की जाती है।

1. मनुष्य के स्वभाव के संबंध में उसका अध्ययन एकांगी है। मनुष्य में कुछ बुराइयाँ हैं तो कुछ सद्गुण या अच्छाइयाँ भी पायी जाती हैं।
2. उसका पर्यवेक्षण केवल इटली के तत्कालीन निवासियों के कारण संकीर्ण है।
3. उसके विचार अवैज्ञानिक हैं। यदि मनुष्य इतना स्वार्थी है, जितना वह बताता है तो समाज का सुधार संभव ही नहीं है।
4. उसके विचार विरोधात्मक हैं क्योंकि यदि मनुष्य उतना ही पापी, द्रोही, अहंकारी है तो राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि राज्य का आधार तो सहयोग की भावना होती है।
5. मैकियावैली का यह कहना गलत है कि राज्य की उत्पत्ति मानव-स्वभाव के दोषों के फलस्वरूप हुई है, जबकि राज्य को स्वाभाविक संस्था माना जाता है।
6. मैकियावैली का यह कथन है कि, “मनुष्य पिता की मृत्यु को आसानी से भूल जाता है किन्तु पितृधन की हानि को नहीं भूलता।” यह कथन कुछ अंशों में ही सत्य है क्योंकि मानव देशहित, परोपकार और राष्ट्रीय सुरक्षा तथा स्वतंत्रता के नाम पर अपनी सम्पत्ति तो क्या अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है।

धर्म—मैकियावैली को राजनीतिक विचारक के रूप में राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक करने का श्रेय प्राप्त है। इस विषय में वह प्राचीन तथा मध्ययुगीन विचारकों से सर्वथा भिन्न मत रखता है। सोफिस्टों के अतिरिक्त यूनानी विचारक सुकरात, प्लेटो और अरस्तू भी राज्य के नैतिक पक्ष पर अधिक जोर देते थे। सिसरो आदि स्टोइक विचारक नैतिक नियमों को प्राकृतिक कानूनों के रूप में स्वीकार करते थे। चर्च के ज्यादातर विचारक राज्य को चर्च के नियंत्रण में मानते थे। किन्तु मैकियावैली ने राजकीय सत्ता को धार्मिक सत्ता से श्रेष्ठ बताकर राज्य को चर्च के नियंत्रण से मुक्त कर दिया।

विद्वानों के अनुसार, राज्य का संरक्षण और उसका विस्तार मैकियावैली के चिंतन का प्रमुख पक्ष है। जबकि नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य का नैतिक विकास करना है। अतः इस उद्देश्य की भिन्नता के कारण राज्य और व्यक्ति को एक समान स्तर पर नहीं रखा जा सकता। मैकियावैली की मान्यता है कि साधारण रूप में शासकों को धर्म और नैतिकता में आस्था प्रकट करनी चाहिए। किन्तु यदि उनसे राज्य को खतरा उत्पन्न होता है तो उसे राज्य के हितों को ध्यान में रखकर इनसे पृथक् होकर कार्य करने में संकोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि राज्य जिन साधनों का प्रयोग करेगा वे सदैव अच्छे समझे जायेंगे और उनकी प्रशंसा ही की जायेगी।

मैकियावैली की राजनीतिक विचारधारा शक्ति वर्चस्व के सत्ता समीकरण पर आधारित है। उसने कहा है कि शक्ति और सत्ता प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनीति, कुकर्म, अधर्म, पाप, विश्वासघात, हत्या, हिंसा और क्रूरता उचित है। यद्यपि राजनीति में व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त का पालन अनादि काल से हो रहा है, तथापि इसे नग्न सत्य के रूप में सर्वप्रथम मैकियावैली ने ही घोषित किया। उसका कहना था कि राजा के लिए धर्म द्वारा प्रतिपादित पवित्रता का जीवन भले ही सराहनीय हो, किन्तु इतिहास में उसी राजा को अधिक सफलताएं मिली हैं, जिसने धार्मिक जीवन की उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। इसलिए राजा को ऊपर से दयालु, विश्वासी, धार्मिक और सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दयी, विश्वासघाती, अधार्मिक और झूठा बनने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसने इसे पोप अलेक्जेंडर षष्ठ के उदाहरण से पुष्टि करते हुए कहा है कि उसने लोगों को धोखा देने के अलावा कुछ भी नहीं किया। वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है कि राजा में जहां एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहां दूसरी ओर लोमड़ी की धूर्तता, मक्कारी और चालाकी भी आवश्यक है।

मैकियावैली ने सांसारिक सफलता को मनुष्य सबसे बड़े लक्ष्यों में एक माना है। उसने इसमें अनुचित साधनों के समावेश की बात की भी चर्चा की है। इसे आवश्यक बताया है। लक्ष्य की सफलता साधनों को पवित्र या न्यायोचित बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात आदि का जघन्य कृत्य करने वालों के अनेक उदाहरण 'प्रिन्स' में दिये हैं। यही उसकी विशेषता है कि मैकियावैली ने सफलता पाने के लिए किये जाने वाले जघन्य कृत्य को एक ही बार करने को कहा है। उसके मतानुसार एक बार स्वार्थ सिद्धि हो जाने के बाद फिर धूर्ततापूर्ण अनैतिक कार्यों के स्थान पर ऐसे कार्य किये जाने चाहिए जिनसे प्रजा को लाभ हो। यह व्यवस्था भी उसने राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने की दृष्टि से की है। मैकियावैली ने अनैतिक कार्यों का समर्थन तथा नीतिशास्त्र से राजनीतिशास्त्र का पृथक्करण तीन कारणों से किया है—

1. मैकियावैली ने यूनानी दार्शनिकों की तरह राज्यों का सर्वोच्च और उच्चतम माना है। राज्य के हित सब व्यक्तियों के हितों से ऊपर हैं। उसका मत है कि, "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो इस बात का कोई विचार नहीं करना चाहिए कि क्या न्यायोचित है या क्या अन्यायपूर्ण, क्या दयालुतापूर्ण है या क्या निर्दयतापूर्ण, क्या गौरवपूर्ण है या क्या निर्लज्जतापूर्ण है।"
2. दूसरे कारण में उसके यथार्थवादी दृष्टिकोण को देखा जाता है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी मानता है। राजनीति की प्रधान प्रेरणा स्वार्थसिद्धि है। अतः इसकी पूर्ति के लिए किया गया प्रत्येक कार्य न्यायोचित है।
3. तीसरा कारण उसका शक्ति और वीर-पुरुषों को असाधारण महत्त्व देना है। शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी भी उपाय का आश्रय लेना उचित समझता है।

मैकियावैली ने राज्य की आवश्यकता के लिए धर्म विरुद्ध कार्यों का प्रबल समर्थन किया है। वह राजनीतिक दृष्टि से धर्म को बड़ा उपयोगी समझता है, क्योंकि धर्म के भय से लोग राज्य के नियमों का पालन करते हैं। उसका मत है कि, "धार्मिक नियमों का पालन गणराज्यों की महत्ता का कारण होता है, उन्हें धार्मिक विधियों की पवित्रता को सुरक्षित रखना चाहिए, इनके प्रति उचित श्रद्धा का व्यवहार करना चाहिए।"

राज्य में धर्म की महत्ता उसकी दृष्टि में इसलिए महत्त्वपूर्ण होती है कि यह सभ्य समाज का आधार है, लोग शासकों द्वारा बनाये हुए नियमों की कई बार उपेक्षा

निकोलो मैकियावैली

करते हैं, किन्तु धर्म में दैवीय नियमों को ईश्वरीय आदेश मानकर उनका उल्लंघन नहीं करते। उसके शब्दों में, “हमारा धर्म विनम्रता, निम्नता और सांसारिक लक्ष्यों के प्रति उदासीनता को उच्चतम सुख मानता है। इसके विपरीत, दूसरा धर्म आत्मा के गौरव, शरीर की शक्ति तथा अन्य ऐसे गुणों में, जो व्यक्ति को शक्तिशाली बनाते हैं, सर्वोच्च शिव (कल्याणकारी) की कल्पना करना है। मेरा विचार है कि इन सिद्धान्तों के कारण मनुष्य कायर हो गये हैं। दुष्ट आदमी उन्हें अत्यन्त आसानी से अपने अधिकार में कर लेते हैं। धर्म-भीरु मनुष्य सदैव स्वर्ग की लालसा में लगे रहते हैं। वे चोट सह लेते हैं, बदला नहीं लेते।”

मैकियावैली सामान्य रूप से धर्म का समर्थक था। लेकिन इसे ईसाई मत का बड़ा आलोचक माना जाता है। वह यह मानता है कि ईसाइयत के नम्रता आदि के गुणों को अपनाने पर बल देने वाले धार्मिक सिद्धान्तों ने इटलीवासियों को भीरु तथा दबू बना दिया है। उसके शब्दों में, “हम इटली निवासी अपनी दुर्दशा के लिए रोमन चर्च और उसके पादरियों के ऋणी हैं। हमारा ऋण इससे भी अधिक इस बात के लिए है कि रोमन चर्च ने सदैव हमारे देश को अतीत में विभक्त रखा है और आज भी रखा है। यह हमारे विनाश का कारण बनेगा।”

लेकिन इस वजह से मैकियावैली को अधार्मिक या अनैतिक नहीं माना जाना चाहिए। वास्तव में वह अनैतिक नहीं, नैतिक-विरोधी था और अधार्मिक नहीं, धर्म-निरपेक्ष था। वह राज्य के स्वास्थ्य एवं समृद्धि के लिए धर्म की आवश्यकता को स्वीकार करता है। उसके मतानुसार धर्म की सहायता से राज्य की शक्ति बढ़ती है, प्रजाजनों में एकता की भावना जाग्रत होती है तथा सदाचरण की वृद्धि होती है। इसके विपरीत, धर्म की हानि होने से किसी भी देश का पतन अनिवार्य हो जाता है। मैकियावैली का इस बारे में विचार है कि, “धर्म का पालन करना राज्यों की महानता का कारण है; उसी प्रकार उसकी अवहेलना उनके विनाश का कारण है।”

नैतिकता

मैकियावैली के नैतिकता संबंधी विचारों में द्वैध मापदण्डों का समावेश देखने को मिलता है—प्रथम शासक के लिए नैतिकता और दूसरा प्रजा के लिए नैतिकता। वह शासक और प्रजा दोनों के लिए अलग-अलग आचरण बतलाता है। इस वैध आचरण को ही मैकियावैलीवाद कहा जाता है। विधि निर्माता होने के कारण शासक विधि से परे है। मैकियावैली का इस बारे में मानना है कि शासक का एकमात्र उद्देश्य

राज्य की स्थिति बनाये रखना तथा उसके प्रदेश का विस्तार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो भी साधन अपनाये जायेंगे वे उचित माने जायेंगे।

इस बारे में मैकियावेली ने प्रिंस में लिखा है—“राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता करनी चाहिए, साधन तो सदैव सम्माननीय ही समझे जायेंगे और उनकी सामान्य रूप से प्रशंसा की जायेगी।” ‘डिसकोर्सेज’ में भी उसके इस विचार की ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जब वह यह कहता है कि “मेरा विश्वास है कि राज्य के जीवन के लिए भय उत्पन्न होने पर राजा लोग, गणतन्त्रात्मक शासक—दोनों, राज्य को बनाये रखने के लिए विश्वासघात करेंगे और कृतघ्न बन जायेंगे।” वह राज्य की स्थिति बनाये रखने और राज्य का विस्तार करने के लिए सब प्रकार की अनीति, कुकर्म, अधर्म, पाप, विश्वासघात, हिंसा, तथा क्रूरता को न्यायोचित मानता है। मैकियावेली के अनुसार राजा को ऊपर से दयालु, विश्वासी, मानवीय, धार्मिक तथा सच्चा होने का ढोंग करना चाहिए। लेकिन जरूरत पड़ने पर क्रूर, विश्वासघाती, अमानवीय, अधार्मिक और झूठा बनने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। सच्चा राजा वही है जो शक्ति, धोखा व पक्षपात लेकर चले, शेर की भांति शक्तिशाली तथा भयंकर हो और लोमड़ी की भांति चालाक और धूर्त होने का परामर्श दिया। उसकी इस नीति को व्याघ्र-लोमड़ी नीति कहा गया है।

मैकियावेली के अनुसार, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, लोक-परलोक, अच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र आदि के ये सब विचार भीरु मनुष्यों के लिए हैं, राज्य को इनका दास नहीं होना चाहिए। राज्य को तो सदैव यही सीखना चाहिए कि उसे श्रेष्ठ नहीं बनना है और अनीति, विश्वासघाती, छल-कपट, अवसरवादिता, हत्या, चोरी, डकैती आदि उसके कुशल शस्त्र हैं। वस्तुतः इन विचारों के पीछे मैकियावेली की धारणा यही है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण सर्वोपरि है; अतः इस मार्ग में नैतिक विचार बाधक के रूप में सामने नहीं आना चाहिए। साध्य की प्राप्ति हेतु साधनों की नैतिकता के चक्कर में पड़ना मूर्खता है।

आलोचना—अपने राजनीतिक चिंतन में मैकियावेली ने धर्म और नैतिकता जैसे तत्त्वों की काफी उपेक्षा की है। वह इनका उपयोग उसी हद तक वांछनीय समझता था, जहां तक ये राजा के लिए या राज्य के लिए उपयोगी हों। इटली की तत्कालीन परिस्थितियों से उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो गई थी कि वह मानव समाज में इनका सही महत्त्व आंकने में असमर्थ रहा। **सेबाइन** ने कहा है कि, “यह निश्चित है कि 16वीं शताब्दी के आरम्भ में मैकियावेली ने यूरोपीय

विचारधारा को बिल्कुल गलत रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें लिखे जाने के दस वर्ष के भीतर ही प्रोटेस्टेन्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन के मध्य युग की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हो गया है।”

राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति

अरस्तू के विचारों के विपरीत मैकियावैली ने राज्य को प्राकृतिक संस्था के स्थान पर एक कृत्रिम संस्था के रूप में देखा है जिसे मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए बनाया है। वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ मानता है और इसी कारण राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। **मैकियावैली** ने इस बारे में लिखा है, “मनुष्य का स्वार्थ और शक्ति की आकांक्षा राज्य को जन्म देती है और इसीलिए राज्य को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये मनुष्य की इन आकांक्षाओं की निरन्तर पूर्ति करते रहना चाहिए, अर्थात् उसकी शक्ति व स्वरूप में निरन्तर विस्तार होते रहना चाहिए जब सभी मानवीय व्यापार गतिशील हैं तो राज्य के लिए निश्चल खड़े रहना सम्भव नहीं है, या तो वह अपने आप का विस्तार करेगा और नहीं तो उसका विनाश अनिवार्य है।”

मैकियावैली के अनुसार मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी और नीच प्रवृत्ति का होता है। अतः राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्य का जीवन अत्यन्त ही कलहपूर्ण और संघर्षपूर्ण था। किसी का भी जीवन और धन सुरक्षित नहीं था। इस अवस्था से तंग आकर लोगों ने किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति कर दी जो उसकी स्वार्थता और दुष्टता पर नियंत्रण रख सके।

उसने राज्य की उत्पत्ति के कारणों में समाज हित की बातों को सबसे महत्त्वपूर्ण माना। मध्ययुगीन विचारधारा के कारण राज्य एक दैवी संस्था के अनुसार माना जाता था, परन्तु मैकियावैली ने यह कहकर कि राज्य एक कृत्रिम एवं मनुष्यकृत संस्था है, इन विचारों का खण्डन किया। मैकियावैली का विचार है कि स्वार्थ और केवल स्वार्थ ही राज्य की उत्पत्ति का आधार है। अपनी सुविधा के लिए, अपने हित के लिए व्यक्तियों ने राजा को चुना। राजा ने राज्य की स्थापना की। राज्य की निरन्तरता का कारण प्रतिरक्षा की आवश्यकता है।

अरस्तू की तरह मैकियावैली ने भी राज्य को अन्य संस्थाओं की अपेक्षा ज्यादा श्रेष्ठ माना है। उसके अनुसार, अन्य संस्थाएं राज्य के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य हैं, किन्तु राज्य किसी के आदेश का पालन के लिए बाध्य नहीं है।

व्यक्ति को अपना व्यक्तित्व राज्य में विलीन कर देना चाहिए। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होगा और राज्य का अस्तित्व भी बना रहेगा।

मैकियावैली ने राज्य की महत्ता का आधार भौतिक शक्ति एवं छल-कपट माना है क्योंकि इनके बिना राज्य की वृद्धि नहीं हो सकती। राज्य किसी प्रकार के नैतिक आवरणों से नहीं बंधा है। उसके लिए वे सभी कार्य नैतिक हैं जो उसके उद्देश्य की प्राप्ति में उसको सहायता करते हैं।

राज्य का उद्देश्य

मैकियावैली ने राज्य को साध्य रूप में देखा। राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य का विस्तार करे तथा अधिकाधिक शक्ति का संगठन करे। अपनी शक्ति की वृद्धि और प्रभाव के विस्तार में जो सहायक हो, वह सब कुछ करते हुए राजा को अपनी सत्ता बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मैकियावैली का मानना है कि राज्य के कार्यों का नैतिकता और अनैतिकता से कोई संबंध नहीं है। राज्य का भला जिस उपाय से हो चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक, उसे ही प्रयोग में लाया जाना चाहिए। शक्ति अर्जन में राज्य को किसी उचित-अनुचित का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके लिए राज्य की सुरक्षा सर्वोपरि है।

मैकियावैली रोमन गणराज्य के इतिहास के आधार पर गणराज्यों की शक्ति का विस्तार करने के लिए इन बातों को अनावश्यक माना है—

1. नगर की जनसंख्या में वृद्धि करना।
2. मित्रों की प्राप्ति।
3. विजित प्रदेशों में उपनिवेश बनाना।
4. किलों पर घेरे डालने की नीति के स्थान पर खुले मैदानों पर जमकर लड़ाई करने की नीति अपनाना।
5. सुशिक्षित सेना रखना।

मैकियावैली का मत है कि राज्य में परिवर्तनशीलता के तत्व का समावेश अनिवार्य रूप से है। इससे राज्य का उत्थान पतन होता रहता है। इस आधार पर उसने राज्यों को दो प्रकारों में प्रमुख रूप से बांटा है।

(1) **स्वस्थ राज्य**—निरन्तर गतिशील और एकताबद्ध होता है।

(2) **अस्वस्थ राज्य**—गतिहीन होता है और उसका विकास अवरुद्ध होता है।

राज्यों का वर्गीकरण

मैकियावैली ने भी दूसरे विचारकों की तरह राज्य और शासन में किसी खास अंतर को नहीं देखा है। अरस्तू के वर्गीकरण की भांति उसने भी शासनतंत्रों को छः भागों में विभाजित किया है। उसके लिए आदर्श शासन वही है जो पूर्णतया सफल हो, व्याघातों से मुक्त हो और जिसकी सत्ता अप्रतिहत हो, अतः तीन प्रकार के शासन शुद्ध और तीन अशुद्ध माने।

1. राजतंत्र,
2. अभिजाततंत्र,
3. गणतंत्र।

अतः उपर्युक्त तीन वर्ग शासन के सामान्य रूप हैं।

1. निरंकुशतंत्र,
2. कुलीनतंत्र,
3. भीड़तंत्र या लोकतंत्र।

मैकियावैली ने सरकारों के समस्त भेदों में केवल दो का विस्तृत विवेचन किया है। उसने शासन के इन भेदों में कई को विकृत भी माना। राजतंत्र का विवेचन उसने 'दि प्रिन्स' में किया है। 'दि प्रिन्स' में मैकियावैली ने राजतंत्र का इतना ही अधिक गुणगान इसलिए किया है कि इटली की तत्कालीन परिस्थितियों में इसी प्रकार के शासन की सर्वाधिक आवश्यकता थी। मैकियावैली के बारे में सुनिश्चित रूप से 'डिसकोर्सेज' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह राजतंत्र की अपेक्षा गणतंत्र का प्रबल समर्थ था।

राजतंत्र के सम्बन्ध में उसका यह विचार है कि निर्वाचित राजतंत्र स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाये रखने का सबसे प्रभावशाली साधन है। इसमें कुलीनतंत्र की अपेक्षा आन्तरिक झगड़े कम होते हैं। उसने 'प्रिन्स' में राजतंत्र का समर्थन इसलिए किया है क्योंकि तत्कालीन इटली में निरंकुश राजतंत्र ही सर्वोत्तम व्यवस्था हो सकती थी जो अवांछित तत्वों का दमन करके संपूर्ण इटली को एकीकृत राज्य में परिणत करने में समर्थ हो सकती थी।

इस बारे में **मैकियावैली** ने लिखा है, "इस आधुनिक युग में व्यावहारिक राज्य केवल राजतंत्र ही है जिसका शासन केवल एक व्यक्ति अपने फौलादी हाथों से करे। वास्तव में तत्कालीन समाज में एक निरंकुश राज्य-व्यवस्था ही प्रभावशाली सरकार

हो सकती है।” इस बारे में मैकियावेली का कहना है कि लोग सब जगह जब इतने चरित्रहीन हो चुके हैं कि नियंत्रण के लिए सभी कानून शक्तिहीन सिद्ध हो चुके हैं इसलिए यह आवश्यक है कि किसी अधिक शक्तिशाली सत्ता की व्यवस्था की जाए जो लोगों की अतिवादी महत्वाकांक्षा और चरित्रभ्रष्टता के नियंत्रण में सफल हो सके।

गणतंत्र का अपनी पुस्तक ‘डिस्कोर्सेज’ में उसने विस्तार से उल्लेख किया है। इसे उसने राजतंत्र से श्रेष्ठ समझा है।

इस बारे में **डनिंग** का मानना है कि, “अरस्तू की भांति उसका झुकाव गणराज्य व्यवस्था की ओर है और इस संबंध में उसके विचार यूनानियों से मिलते हैं।”

मैकियावेली की मान्यता है कि शासन का गणतंत्रीय रूप सर्वाधिक सफल उसी देश में हो सकता है जहां धन एवं सम्पत्ति की दृष्टि से लोगों में अधिक समानता होती है और जहां जनता सार्वजनिक भावना से पूर्ण, संगठित और धर्म-परायण होती है। मैकियावेली की गणतंत्र की धारणा आधुनिक धारणा से भिन्न है। **हारमन** के शब्दों में, “जब मैकियावेली गणतंत्र शब्द का प्रयोग करता है तो उसके मस्तिष्क में किसी ऐसी राजनीतिक संस्था का विचार नहीं होता है जिसके निवासी सरकार के कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हों। मैकियावेली का गणतंत्र तो एक ऐसा राज्य है जिसके व्यक्ति स्वेच्छा से शासक की सहायता करते हैं।” लेकिन मैकियावेली ने राजतंत्र की तुलना में गणतंत्र को कई कारणों से उत्कृष्ट माना है।

1. मैकियावेली की अरस्तू की तरह ही ऐसी धारणा थी कि समग्र रूप से जनता एक राजा से अधिक समझदार होती है। जनता की आवाज ईश्वर की आवाज होती है।
2. अधिकारियों का चुनाव और व्यक्तियों का सम्मान करने में जनता का निर्णय सामान्य रूप से ठीक होता है।
3. राजा भले ही राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं की स्थापना करने में अधिक सफल हो, किन्तु उन्हें बनाये रखने की क्षमता गणतंत्र में अधिक होती है।
4. गणराज्य राजाओं की अपेक्षा सन्धियों के पालन का कार्य अधिक सफलता से कर सकते हैं।
5. गणराज्य में सभी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिल जाता है।

6. लोग साधारणतया उतने कृतघ्नी नहीं हो सकते जितना कि एक राजा हो सकता है।
7. स्वराज्य भौतिक समृद्धियों में अधिक सहायक होता है।
8. गणतंत्र में आन्तरिक अशान्ति के कम खतरे होते हैं तथा बाहरी आक्रमण की अवस्था में यह बहुत शक्तिशाली-राजतंत्र की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए हैं क्योंकि गणतंत्र में स्वतंत्रता की जड़ प्रत्येक व्यक्ति में होती है जबकि राजतंत्र में केवल एक व्यक्ति में निहित होती है।

लेकिन मैकियावैली ने गणतंत्र के कई दोषों का भी उल्लेख किया है। इन्हें

इस प्रकार रखा जा सकता है—

1. संकटकाल के लिए वे समर्थ नहीं होते। इसके लिए उनमें उस समय शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए।
2. गणराज्य में सरकारी पदों पर किसी भी एक व्यक्ति का नियंत्रण न होने से इनका अन्यायी हो जाना है। इसके लिए वह ऐसे अधिकारियों के कार्यों की जांच करने और दण्ड देने की व्यवस्था का समर्थन करता है।
3. तीसरा दोष दलबन्दी का है। इसके लिए वह मानता है कि यदि राज्य की जनसंख्या एक ही जाति की होगी तो राज्य में फूट नहीं पड़ेगी।

लेकिन गणतंत्र का प्रशंसक होते हुए भी मैकियावैली ने इटली के लिए राजतंत्र को उपयुक्त माना। इसके तीन कारणों का उल्लेख किया है—

- (i) लोगों का भ्रष्ट चरित्र।
- (ii) राज्य में सम्पत्ति की असमानता।
- (iii) इटली की तत्कालीन अवस्था।

कुलीनतंत्र—यह कहा जा सकता है कि मैकियावैली गणतंत्र और राजतंत्र इन दोनों का समर्थक था और इनके लिए अलग-अलग संदर्भों में को मानता था लेकिन कुलीनतंत्र से मैकियावैली को घृणा थी। क्योंकि इसमें शासक वर्ग सदैव जनसाधारण के हितों की उपेक्षा करता है, इसलिए वह कुलीनतंत्र को एक अवांछित और निकृष्ट शासन व्यवस्था मानता है। इस बारे में सेबाइन ने लिखा है— “मैकियावैली ने गणतंत्र का जहां संभव हो और राजतंत्र का जहां आवश्यक हो, समर्थन किया है।” किन्तु कुलीनतंत्र और कुलीन वर्ग के संबंध में उसकी राय खराब है। उसने अपने समय के अन्य किसी विचारक की अपेक्षा यह अधिक अच्छी तरह समझा था कि कुलीन वर्ग के हित राजतंत्र के भी विरुद्ध हैं और मध्य

वर्ग के भी। वह अच्छे शासन के लिए कुलीनतंत्र का दमन आवश्यक मानता था।

राजा के कर्तव्य—मैकियावैली का आदर्श राजा वह है जो किन्हीं भी उपायों से राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके उसका निरन्तर विस्तार करता है। उसने राजा के निम्नलिखित कर्तव्यों का उल्लेख किया है—

1. मनुष्य मानवीयता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, उसमें दैवीय तथा आसुरी दोनों प्रकार के तत्व विद्यमान हैं। अतः राजा को इन दोनों के साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए।
2. राजा में शेर शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए।
3. मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और वह स्वयं धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता, अतः राजा के लिए सभी मनुष्यों के साथ धर्म का पालन आवश्यक नहीं है।
4. राजा को ऊंचे दर्जे का बहुरूपिया और ढोंगी होना चाहिए, उसे शत्रुओं को मारकर उनके आंसू बहाने चाहिए।
5. राजा को ऊपर से यह दिखावा करना चाहिए कि वह दयालु, वचनों का पालन करने वाला, सच्चा और धार्मिक है, किन्तु उसे वास्तव में ऐसा होना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह क्रूरता, विश्वासघात, अधर्म और अनीति के सभी अनैतिक कार्य कर सके।
6. प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाये।
7. नये राज्यों में राजा को क्रूर होने से नहीं डरना चाहिए, प्रजा में राजा का आतंक सदैव बना रहना चाहिए।
8. राजा अपने वचन का पालन तब तक करे जब तक इससे उसे कोई हानि नहीं हो।
9. राजा को यशोलाभ प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए और ऐसी कोशिश की जानी चाहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों का सतीत्व भंग नहीं करना चाहिए।
10. उसे उपयुक्त अवसर पर प्रतिवर्ष प्रजा के मनोरंजन के लिए मेलों की व्यवस्था करनी चाहिए।
11. राजा अपने अधिकारियों के द्वारा दंड आदि देने का कार्य करवाए। क्योंकि इसके कारण होने वाली बदनामी अफसरों की होगी। इसके विपरीत प्रजा को

प्रसन्न करने वाले पुरस्कारों, उपाधियों का वितरण स्वयं करना चाहिए, ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो सके।

12. राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला तथा गुणग्राहक होना चाहिए।
13. राजा सजगता से अपने मंत्रियों का चयन करे। उसे चापलूसों से बचा रहना चाहिए।
14. उसे प्रजा का दिमाग बड़ी योजनाओं में लगाये रहना चाहिए।
15. जब वह किसी नये राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहां के पुराने संविधान में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।
16. शासक को यथासंभव प्रजा की उत्तराधिकार-व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
17. प्रजा को भाषण, विचारों के आदान-प्रदान एवं आवागमन की स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए।
18. प्रजा से राजा कम से कम राजस्व की वसूली करे। राजा का यह कर्तव्य है कि वह अपने वैभव और सुख पर राजकोष का धन खर्च न करे बल्कि इस खर्च को दूसरे राज्यों पर किये गये हमलों के समय प्राप्त होने वाले लूटमार के धन से पूरा करे।
19. शासक को सेनाओं का स्वयं संचालन करना चाहिए और युद्ध में अग्रणी रहना चाहिए।
20. शासक को एक शक्तिशाली सेना रखनी चाहिए।

8

जीन बोदाँ

जीन बोदाँ फ्रांस के निवासी थे। इन्हें मैकियावेली के अधूरे कार्यों को पूरा करने व राजनीतिशास्त्र में आधुनिक प्रवृत्तियों का जनक माना जाता है। कुछ जानकारों का यहाँ तक कहना है कि बोदाँ अरस्तू के पश्चात् अपने स्वरूप और पद्धति से पदच्युत राजनीतिक सिद्धांत को उसके वास्तविक रूप में वापस लाया और उसने इसे पुनः विज्ञान का बाह्यरूप प्रदान किया। मैक्सी के अनुसार, “बोदाँ धर्माधता के युग में प्रकाश फैलाने वाले चिन्तक थे।” वास्तव में उसने बौद्धिकताविहीन युग में से विवेकपूर्ण, स्वतंत्र विचार, सम्प्रभुता और राष्ट्रवाद का प्रतिपादन किया। इसलिए जोन्स महोदय बोदाँ को ही आधुनिकता का प्रवर्त माना है।

परिचय

सन् 1530 में एन्जर्स नामक स्थान पर जन्मे बोदाँ की शिक्षा व्यवस्था प्रारंभ से ही अच्छी रही है। फलस्वरूप उसे तूलूज के विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वहाँ विधिशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में अध्यापन करने का अवसर मिला। अध्यापन कार्य में रुचि न होने के कारण उन्होंने यह कार्य छोड़ दिया और 1560-61 में पेरिस में वकालत करनी शुरू कर दी। यद्यपि एडवोकेट के रूप में उसे बड़ी सफलता नहीं मिली, तथापि उसे चिन्तन करने, अध्ययन करने और अपने ग्रंथ लिखने का अवकाश मिला। उसकी रचनाओं से प्रभावित होकर फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय ने बोदाँ को अपने दरबार में रख लिया। बोदाँ फ्रांस के चेम्बर ऑफ डेपुटीज के सदस्य भी रहे।

राजनीतिशास्त्र में बोदों ने महारत हासिल कर रखी थी। उसने केवल राजनीति, न्यायशास्त्र एवं इतिहास का गंभीर अध्ययन किया वरन् मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म पर भी गहन अध्ययन किया। बोदों के इस लगन के संदर्भ में मुरे ने कहा है कि “वह एक विद्वान था जो विचारक होना चाहता था। एक न्यायविद् था जो कानूनी विषयों की उत्पत्ति के प्रति भी उतनी ही जिज्ञासा अथवा रुचि रखता था जितनी स्वयं नियमों के प्रति, वह संसार-कुशल ऐसा व्यक्ति था जिसने अपने सामान्य ज्ञान की सम्पूर्ण उपलब्धियों को राजनीतिक समस्याओं के अनुसंधान में लगा दिया, वह एक ऐसा समाजशास्त्री था जो न तो नामों का ही व्यवहार करता था और न ही शब्दों के साथ खिलवाड़ करता था।”

राजनीतिक विचार

बोदों एक प्रबुद्ध राजनीतिक विचारक थे। उन्होंने इस दिशा में कई उल्लेखनीय कार्य किए हैं। उनके राजनीतिक विचारों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है—

राज्य & बोदों के राजनीतिक विचार अरस्तू से काफी मिलते-जुलते हैं। अरस्तू की तरह ही बोदों परिवार को राज्य की आधारभूत इकाई मानता है। परिवार का अर्थ उन्होंने एक ऐसे प्राकृतिक संगठन से माना है जिसमें विभिन्न प्रकार के सम्बंध पाये जाते हैं तथा जो एक गृहस्वामी की सर्वोच्च शक्ति से संचालित होता है। जैसे—पति-पत्नी संबंध, पिता-संतान संबंध, स्वामी-दास संबंध आदि। बोदों के अनुसार इन विभिन्न प्रकार के सम्बंधों से निर्मित संगठन परिवार है तथा जो गृहस्वामी के प्रति समान श्रद्धा और आज्ञा पालन के सिद्धांत पर आधारित है। यह परिवार जब विस्तृत होता है तो अंततः राज्य को जन्म देता है। इस आधार पर उसने राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया है—“राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसका शासन एक सम्प्रभु के अधीन संगठित होते हैं तो एक राजनीतिक समुदाय या राज्य का निर्माण करते हैं।

राज्य की उत्पत्ति & बोदों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मानव की सामाजिकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल है। मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परिवार एक नैसर्गिक समुदाय है। जीवन की विविध आवश्यकताओं, प्रतिरक्षा, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि के लिए परिवार अन्य समुदायों का निर्माण करते हैं। यह भी मानव की सामाजिकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल है। इन समुदायों के मध्य

संघर्ष होने से शासकों तथा दासों की उत्पत्ति होती है। इनके मध्य सामंजस्य स्थापित होना जरूरी है, अन्यथा सामाजिक तथा सामुदायिक जीवन की सफलता संदिग्ध रह जायेगी। अतः इन सबके संयोग से राज्य का निर्माण होता है। बोदों ने राज्य के निर्माण में शक्ति तत्त्व को प्रमुखता दी है।

इस संदर्भ में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न समुदायों के मध्य संघर्ष होने पर विजयी पराजितों को अपने अधीन करके अपने प्रभुत्व के अंतर्गत रख लेते हैं। बोदों न तो शासकों के दैवी अधिकार सिद्धांत को मान्यता देता है और न संविदा सिद्धांत को। साथ ही रोमनकालीन लोक-सम्प्रभुता की धारणा को भी उसने अस्वीकार कर दिया है। परंतु राज्य की स्थापना के बाद वह राज्य की सम्प्रभुता के शक्ति तत्व को औचित्यपूर्ण नहीं मानता। उच्च बल-प्रवर्ती शक्ति से डाकुओं का झुण्ड बन सकता है न कि राज्य। राज्य तथा परिवार के मध्य मौलिक अंतर यही है कि राज्य में सम्प्रभु सत्ता विद्यमान रहती है, परंतु परिवार में ऐसा कुछ भी देखने को नहीं मिलता है। बोदों का मानना है कि, “राज्य सामाजिक शक्तियों की मात्र आकस्मिक सृष्टि से कहीं बड़ी चीज है। इसका आधार सैन्य शक्ति सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह सम्प्रभु सत्ता के अस्तित्व के कारण सर्वोच्च समुदाय बन जाता है, अतः यह सामाजिक विज्ञान की सर्वोच्च तथा अंतिम मंजिल है।” परंतु बोदों ने इस तथ्य का समुचित विवेचन नहीं किया है कि नागरिकों को सम्प्रभु के आदेशों का पालन क्यों करना चाहिए। इतना अवश्य स्पष्ट किया कि बिना सम्प्रभु सत्ता के राज्य का निर्माण नहीं हो सकता और राज्य अपने अंतर्गत संगठित न्यून-समुदायों के ऊपर सम्प्रभु है।

परिवार तथा सम्पत्ति—बोदों ने राज्य संबंधी जो विचार प्रस्तुत किया है वह परिवार व सम्पत्ति पर आधारित है। उसकी विचारधारा में व्यक्ति का राज्य के निर्माण में कोई स्थान नहीं है। समस्त सामुदायिक जीवन की इकाई परिवार है जो स्वयं एक प्रारम्भिक समुदाय है। परिवार की आधारशिला पर ही राज्य का निर्माण होता है। सेबाइन का मानना है—“बोदों ने राज्य को परिवारों का शासन बताया है। जब एक परिवार का मुखिया अपने घर से बाहर निकलकर अन्य परिवारों के मुखियाओं के साथ मिलकर कार्य करता है तब वह नागरिक बन जाता है। सामूहिक सुरक्षा और पारस्परिक हितों के लिए परिवारों के अनेक समुदाय बन जाते हैं, जैसे—विभिन्न गांव, नगर और निगम। जब ये समुदाय एक सर्वोच्च सत्ता द्वारा संयुक्त कर दिये जाते हैं, तब राज्य का निर्माण होता है।”

सम्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए बोदों ने यह स्पष्ट किया है कि परिवार की अपनी सम्पत्ति है। पारिवारिक सम्पत्ति का अधिकार पितृसत्तात्मक परिवार का अलंध्य अधिकार है। बोदों के विचार से सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार है और सम्प्रभुता पर शासक तथा प्रशासकों का। परिवार का क्षेत्र वैयक्तिक है, राज्य का सार्वजनिक या सामूहिक। राज्य के सम्प्रभु को परिवार के सम्पत्ति सम्बंधी अधिकार का अतिक्रमण करने की शक्ति नहीं है। बोदों ने इस अधिकार को प्राकृतिक कानून से जोड़ा है।

राज्य तथा समाज राज्य व समाज में अंतर करने वाले बोदों पहले पाश्चात्य राजनीतिक विचारक है। प्लेटो व अरस्तू ने इन दोनों अवधारणाओं को समान माना है। उनके बाद मध्य युग में सार्वभौमिकतावाद की धारणा भी यही मानती रही थी। बोदों के विचारों में राज्य की उत्पत्ति का आधार शक्ति है। समाज का निर्माण करने वाले अन्य छोटे जन-समूहों-परिवार, गांव, नगर, श्रेणियां आदि की उत्पत्ति मानवों की कुछ नैसर्गिक आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की पूर्ति के लिए होती है। अतः वे प्राकृतिक हैं। परन्तु राज्य प्रमुख रूप से शक्ति पर आधारित है क्योंकि उसका नियमन या शासन एक सम्प्रभु सत्ता के द्वारा होता है जो कानून के द्वारा इन कार्यों को करता है और ऐसे कार्यान्वयन में बल-प्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। समाज का निर्माण मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण होता है। अतः समाज को प्राकृतिक माना गया है। परंतु राज्य का आधार शक्ति है। बोदों ने इस धारणा के सम्बंध में अरस्तू के इस सिद्धांत को राज्य एक प्राकृतिक समुदाय है, नकार दिया है।

दास-प्रथा प्राकृतिक नहीं बोदों का मानना है कि दास प्रथा प्राकृतिक नहीं है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि दास प्रथा व्यावहारिक दृष्टि से जरूरी भी नहीं है। इसके बारे में जहां तक पारिवारिक दास-प्रथा का संबंध है, बोदों पूर्णतया आधुनिक विचारों से सहमत है। बोदों दास-प्रथा के 'प्राकृतिक' होने के तर्क का खण्डन इस रूप में करता है कि मानव के समस्त त्याग परम्परागत हैं। दास-प्रथा भी प्राकृतिक नहीं, बल्कि परम्परागत है। अतः परम्परागत संस्था को प्राकृतिक नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाये कि दास-प्रथा अकर्मण्य, विवेकहीन तथा अकुशल लोगों को सुधारने की दृष्टि से औचित्य रखती है तो इसके स्थान पर दस्तकारी के विद्यालय खोलकर ऐसे व्यक्तियों को कुशल बनाया जा सकता है। उन्हें घरेलू दास बनाकर कुशल बनाना संभव नहीं है।

नागरिकता & बोदों अरस्तू की धारणा में नागरिक वह व्यक्ति है जो राज्य के न्यायिक तथा विधायिनी कार्यों में भाग लेता है, अर्थात् जो राज्य की सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग में भाग लेता है। परंतु बोदों के अनुसार वह नागरिक वह व्यक्ति है जो स्वतंत्र है तथा दूसरे की सम्प्रभु शक्ति के अधीन है। इसके अलावा नागरिकों के मध्य और भी कई तरह के संबंध हो सकते हैं। उनकी भाषा और धर्म में समानता हो भी सकती है और नहीं भी। नागरिकों के विभिन्न समुदायों की अलग-अलग विधियाँ होना संभव है और उनके स्थानीय आचार हो सकते हैं। जो संप्रभु होता है वह इन सबको स्वीकार करता है। विदेशी नागरिकों को भी कुछ मान्य विशेषाधिकार मिल सकते हैं और विमुक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। दास स्वतंत्र व्यक्ति नहीं है, अतः नागरिक नहीं है। परंतु परिवार के अन्य व्यक्ति पिता सहित, जो कि परिवार का मुखिया है, नागरिक की श्रेणी में आते हैं। राज्य की इकाई परिवार है न कि व्यक्ति, अतः परिवार का मुखिया ही राज्य का नागरिक हो सकता है। परंतु बोदों के विचार में राज्य के कार्यकलापों में भाग लेना नागरिकता की कसौटी नहीं है बल्कि 'सम्प्रभु-शक्ति की आधीनता' नागरिकता की कसौटी है। बोदों राज्य में नागरिकों की समानता की धारणा को हास्यास्पद मानता है। उसके मत से अवस्था, लिंग तथा स्तर का भेदभाव न करके सबको समान मानना सामाजिक संरचना का नियम नहीं है। 'राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में अभिजात्य वर्ग महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र पारिवारिक है। अतः समाज तथा राज्य में व्यक्ति के निर्धारण में व्यक्ति के व्यवसाय का ध्यान रखना विवेकपूर्ण कार्य माना जाता है।

प्रभुसत्ता & बोदों ने राज्य की सम्प्रभुता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उससे पूर्व किसी भी चिन्तक ने इस सिद्धांत की व्याख्या नहीं की थी, किंतु बोदों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत का विकास उसके पश्चात् के विभिन्न विद्वानों ने किया और आज भी यह स्वीकार किया जाता है। चूँकि बोदों कानून के अध्यापक रह चुके थे इसलिए उन्होंने अपने इस सिद्धांत को स्पष्ट करने में विधिशास्त्रीय विधि का प्रयोग किया है।

संप्रभुता के सिद्धांत के बारे में **कोकर** का मानना है—“सम्प्रभुता का सिद्धांत राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बोदों का सबसे बड़ा और विशिष्ट योगदान है।” मैक्सी ने इस बात को नकार दिया है। उनका मानना है—“वह इस सिद्धांत का प्रवर्तक नहीं था, तथापि वही पहला व्यक्ति था जिसने सम्प्रभुता सम्बंधी धारणा को विधि शास्त्रीय ढंग से प्रस्तुत किया और उसे राजनीतिशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग बना दिया।”

राज्य एवं शासन का वर्गीकरण

बोदाँ द्वारा राज्य एवं शासन का वर्गीकरण अरस्तू के विचारों से प्रभावित है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र एवं प्रजातंत्र। राजतंत्र में सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति में, कुलीनतंत्र में कुछ व्यक्तियों में तथा प्रजातंत्र में अनेक व्यक्तियों में निहित है। उसकी यह भी मान्यता है कि एक ही प्रकार की शासन पद्धति में विभिन्न प्रकार की पद्धतियों के गुण पाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, “इंग्लैंड में राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक है, परंतु शासन की व्यवस्था एवं पद्धति प्रजातंत्रात्मक है।”

अतः उसका मत है कि शासन का स्वरूप राज्य के रूप पर निर्भर नहीं करता। राजतंत्रात्मक राज्य का शासन कुलीनतंत्रात्मक या प्रजातंत्रात्मक हो सकता है। बोदाँ विभिन्न शासन-प्रणालियों में वंशानुगत राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ मानता है। क्योंकि उसमें राज्य को कमजोर करने वाली दलबन्धियाँ और झगड़े कम पाये जाते हैं और व्यक्ति को सम्पत्ति और जीवन का भय नहीं रहता। यह व्यवस्था संकटकाल में भी प्रभावी होती है।

बोदाँ ने प्लेटो और अरस्तू की तरह मिश्रित शासन का समर्थन नहीं किया है। उसका तर्क है कि चूंकि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता, इसलिए कोई भी राज्य मिश्रित नहीं हो सकता। यदि सम्प्रभुता का विभाजन किया जाता है तो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

क्रांति अरस्तू बोदाँ के क्रांति संबंधी विचार से प्रभावित हैं। अरस्तू क्रांतियों को असाधारण मानता था किन्तु बोदाँ उन्हें साधारण मानता था, क्योंकि राज्यों में परिवर्तन होना अनिवार्य है, कभी धीरे-धीरे और कभी-कभी उग्र रूप में। वह क्रांति का अर्थ सम्प्रभुता का स्थान परिवर्तन मानता है। उनका मत है कि मनुष्यों के जीवन चक्र की भांति राज्यों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। राज्यों का भी जन्म होता है और वह युवा होकर परिपक्व भी होते हैं। शनैः-शनैः क्षीण होते हैं और अंततः नष्ट हो जाते हैं। राज्यों में परिवर्तन होना मानव-जीवन के परिवर्तनों के समान ही अवश्यम्भावी है। अतः उचित है कि बुद्धिमान शासक इन परिवर्तनों को नियंत्रित करता रहे, इन्हें रोके नहीं। बोदाँ का मानना है कि क्रांतियों का पहले से ही पता लगाया जा सकता है और इसके लिए ज्योतिष का उपयोग सम्भव है। राज्यों में होने वाले परिवर्तन सदैव मंथर गति से ही हों, ऐसा नहीं है। ये शनैः-शनैः अज्ञात रीति से एवं शांतिपूर्वक भी हो सकते हैं और सहसा ही बड़े आकस्मिक उग्र एवं हिंसात्मक रूप में भी हो सकते हैं। राज्य क्रांतियों का प्रभाव बड़ा व्यापक

होता है। इनसे न केवल कानून, धर्म, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान ही प्रभावित होते हैं बल्कि सम्प्रभुता के स्थान में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

बोदों के संबंध में सेबाइन ने लिखा है कि—“बोदों के क्रांति सम्बंधी विचार बड़े अर्थपूर्ण हैं। उनका मत है कि क्रांतियों का पहले से ही पता लगाया जा सकता है। क्रांति की रोकथाम के कारणों के विवेचन में उसने अपूर्व दूरदृष्टि और बुद्धिमता का परिचय दिया है।”

मैक्सी द्वारा बोदों द्वारा क्रांतियों के कारणों और उनके निवारण के उपायों के वर्णन पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है कि, “बोदों वास्तव में अनेक आधुनिक विचारकों से कहीं अधिक आधुनिक था।”

9

ह्यूगो ग्रीशियस

जितनी सुरक्षा से बोदाँ ने संप्रभुता की नींव रखी उतनी सुरक्षा से ग्रीशियस ने भी अंतर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता की नींव रखी। अंतर्राष्ट्रीय विधि से अधिक ग्रीशियस प्राकृतिक कानून से प्रसिद्ध हुआ। जिस पर समस्त अंतर्राष्ट्रीय विधि का आधुनिक भवन खड़ा किया गया है, यही कारण है कि वह अंतर्राष्ट्रीय कानून का जनक के नाम से जाना जाता है। उसकी पुस्तक में अंतर्राष्ट्रीय कानून सम्बंधी व्यापक और विवेकपूर्ण विवेचन है। इस संबंध में मैक्सी लिखते हैं कि, “यह उसके जीवन की सर्वोत्कृष्ट रचना थी जिसे आधुनिक काल में अंतर्राष्ट्रीय कानून पर सबसे पहली और व्यापक रचना माना जाता है।” ग्रीशियस को सम्प्रभुता के सिद्धांतवेत्ताओं के रूप में जाना जाता है। यद्यपि इस क्षेत्र में उसने बोदाँ के दिए गए सिद्धांत को ही महत्वहीन परिवर्तनों के साथ दोहराया। ग्रीशियस का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र में राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

परिचय

हॉलैण्ड के डेल्फ नामक नगर में सन् 1553 में एक अच्छे घराने में ग्रीशियस का जन्म हुआ था। इसका क्रिश्चियन नाम हुईग्वान ग्रूट था। बचपन से ही यह बड़े प्रतिभाशाली थे इसी कारण इन्हें लिडेन विश्वविद्यालय का आचार्य माना जाता है। 8 वर्ष की आयु में ही वह लैटिन भाषा में कविता करने लगा। 11 वर्ष की अवस्था में मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास कर ली और 16 वर्ष की अवस्था में कानून विषय

में 'डाक्टरेट' प्राप्त कर ली। जब वह 15 साल के थे तो उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें हालैण्ड से पेरिस जाने वाले शिष्ट मंडल में स्थान दिया गया। अपने प्रवास काल में ही पेरिस में रहकर फ्रेंच भाषा का ज्ञान प्राप्त कर 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की। फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ ने उसे विशेष रूप से सम्मानित किया। स्वदेश लौटने पर 16 वर्ष की अवस्था में ही हेग के न्यायालय में मुकदमों की पैरवी करते हुए अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। उन्हें 20 वर्ष की आयु में डच साम्राज्य के सरकारी इतिहासकार के रूप में उनकी नियुक्ति की गई। उसने स्वतंत्रता का एक उत्कृष्ट इतिहास लिखा जिसके बाद इन्हें जीलैण्ड व हॉलैंड प्रदेशों का वित्तीय अधिवक्ता के पद पर उनकी नियुक्ति की गई। रोटर्डम में कुछ दिनों के लिए मुख्य मजिस्ट्रेट के पद पर कार्य किया। हालैण्ड की ओर से इंग्लैंड जाने वाले कूटनीतिक शिष्ट मंडल में उन्हें भी भेजा गया।

पूरा यूरोप महाद्वीप धार्मिक विराट सामुदायिक मतभेद से जूझ रहा था। प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियों के हॉलैंड में दो दल थे—आर्मीनियनिज्म और गौमेरिज्म। ये दोनों लीडेन के प्रोफेसरों के नाम पर थे जिनके बीच धार्मिक सिद्धांतों को लेकर विवाद चल रहा था। ग्रोशियस को इन दोनों के झगड़े में फंस जाना पड़ा। सैनिक बल की सहायता से उन्होंने विद्रोह को दबाने की कोशिश की। प्रिंस ऑफ मॉरिस ऑफ आरेंज ने गौमेरिस्टो का पक्ष लेते हुए ग्रोशियस एवं बोर्नबेल नामक एक अन्य अंगरक्षक को गिरफ्तार करा लिया। ग्रोशियस पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसे आजीवन कारावास की सजा दे दी और बोर्नबेल को प्राणदण्ड मिला। अपनी पत्नी की युक्ति की सहायता से वह दो वर्ष बाद कारागार से भागने में सफल हुआ। जेल के अंदर ही ग्रोशियस ने अपने ग्रंथ 'De Jure Belli ac Pacis' का बहुत बड़ा भाग लिख लिया था जो 1624 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को अंतर्राष्ट्रीय विधि में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। कुछ दिनों के पश्चात् ग्रोशियस स्वीडन की रानी का सलाहकार नियुक्त हुआ और शीघ्र ही स्वीडन का राजदूत बनाकर पेरिस भेज दिया गया। वहां दस वर्ष रहकर कूटनीतिक क्षेत्र में बहुत कार्य किया। स्वीडन के रास्ते से जब वह ल्यूबेक जा रहा था तभी उसका जहाज तूफान में फंस गया। 1665 में उसकी बीमारी के कारण मृत्यु हो गई।

ग्रोशियस के राजनीतिक विचार—ग्रोशियस के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

(1) **प्राकृतिक कानून**—ग्रोशियस का मानना है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान है। प्रत्येक के समाज का

नियमन कुछ नियमों के अनुसार होता है। डाकुओं के झुण्ड के भी कुछ नियम होते हैं। अतः सामाजिक जीवन हेतु कानून तथा न्याय की व्यवस्था आवश्यक है। समाज तथा कानून दोनों का अस्तित्व साथ-साथ होता है। चूंकि मानव विवेकशील प्राणी है, इसीलिए मानव समाज का नियमन करने वाला कानून भी विवेक की उपज है और यही प्राकृतिक कानून कहलाता है। इस संदर्भ में ग्रोशियस ने लिखा है कि, “प्राकृतिक कानून उचित विवेक का आदेश है, जो यह दर्शाता है कि कोई कार्य विवेकशील प्रकृति के अनुरूप है या नहीं अथवा उसमें नैतिक आवश्यकता के गुण हैं अथवा तुच्छता के तथा परिणामस्वरूप प्रकृति के रचयिता ईश्वर के द्वारा इस कार्य को स्वीकार किया गया है या मना किया गया है।”

यह कानून इतना अपरिवर्तनशील होता है कि ईश्वर स्वयं भी चाहे तो इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ ईश्वर ऐसी इच्छा नहीं कर सकता कि दो को दो से गुणा करने पर गुणनफल चार नहीं आता, अथवा जो बात आवश्यक रूप से बुरी है उसे ईश्वर बुरी नहीं है, नहीं कह सकता है। इसके सारभूत तत्त्व न्याय तथा सत्य है। वह उपयोगिता पर आधारित न होकर विवेक पर आधारित है जिससे समस्त कानूनों की उत्पत्ति हुई है।

प्राकृतिक कानून को ग्रोशियस द्वारा दो भागों में विभाजित किया गया है।

पहला, राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व प्रकृति की आदि दशा का विशुद्ध प्राकृतिक कानून। ग्रोशियस द्वारा इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि किसी युग में सम्पत्ति का सामूहिक उपयोग प्राकृतिक कानून के अंतर्गत होता था, इसी प्रकार अपनी वस्तु छिन जाने पर उसे प्राप्त करने के लिए बल प्रयोग प्राकृतिक कानून के अंतर्गत समझा जाता था।

दूसरा, राजनीतिक समाज के निर्माण के पश्चात् कुछ विभिन्न देशों के राजनीतिक कानून बनने से पहले का प्राकृतिक कानून।

ग्रोशियस का कहना है कि प्राकृतिक कानून का ज्ञान तीन प्रकार से किया जा सकता है—

1. सामान्य विवेक युक्त व्यक्ति की अन्तरात्मा द्वारा।
2. उत्तम विवेक से युक्त व्यक्तियों के मध्य सामान्य सहमति द्वारा।
3. सभ्य राष्ट्रों द्वारा प्रयुक्त आचार-विचार द्वारा।

इन्हीं के आधार पर ग्रोशियस प्राकृतिक कानून को मनुष्य के अंतःकरण का सामान्य आदेश घोषित करता है।

ग्रोशियस प्राकृतिक कानून की विचारधारा को मानव विवेक पर आधारित मानकर उसे तर्कयुक्त और नैतिक स्वरूप प्रदान करता है और इसीलिए उसे सार्वभौम और शाश्वत कहता है जिसका पालन सभी मनुष्यों और राज्यों को करना चाहिए।

(2) अंतर्राष्ट्रीय कानून ग्रोशियस के द्वारा कानून को दो भागों में विभाजित किया गया है—प्राकृतिक कानून तथा इच्छामूलक कानून।

प्राकृतिक कानून बुद्धि पर आधारित हैं, शेष सभी कानून इच्छा पर आधारित हैं। इच्छामूलक कानून तीन प्रकार के होते हैं—दैवी या ईश्वरीय कानून, नागरिक कानून और राष्ट्रों के कानून।

अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की व्याख्या करना ही ग्रोशियस की रुचि थी। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कानून मानव विवेक पर आधारित नहीं हैं, तथापि सर्वत्र माने जाते हैं। उनका मानना है कि, “अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के मध्य सम्बंधों का नियमन करता है। यह समस्त राष्ट्रों के मध्य सम्बंधों का नियमन करता है। यह समस्त राष्ट्रों या अधिकांश राष्ट्रों में समान रूप से लागू नहीं होता है।” दूसरे शब्दों में, राष्ट्रों का कानून इन व्यवहारों का समूह है जिन्हें सभ्य राष्ट्र एक-दूसरे के साथ व्यवहार में अपनाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कानून के आधार ग्रोशियस ने प्राकृतिक कानूनों को अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का आधार बनाया है जिसके अनुसार उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि—

1. अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधों को प्राकृतिक कानून के द्वारा ही नियमित किया जाना चाहिए क्योंकि इस प्रकार राज्य के स्वाधिकारों का हनन नहीं होता।
2. राष्ट्रों की सम्प्रभुता राष्ट्रीय है सार्वभौमिक नहीं जिसका तात्पर्य है कि कोई राष्ट्र अपनी शक्ति के बल पर दूसरे के ऊपर अपने अधिकारों को लाद नहीं सकता।
3. सभी राज्य वैधानिक दृष्टि से समान हैं।
4. सभी राज्य पारस्परिक दृष्टि से अपने मूल में आदिम अवस्था में ही हैं तथा अंतर्राष्ट्रीय समुदाय की इकाइयां हैं। आदिम अवस्था ही सही प्राकृतिक स्थिति है जिनमें प्राकृतिक नियंत्रण थे।
5. राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्यों का निरूपण राष्ट्रों के पारस्परिक अनुसमर्थन पर निर्भर करता है।

6. सभी राज्य आंतरिक दृष्टि से सम्प्रभु हैं और बाह्य दृष्टि से स्वतंत्र हैं।

ग्रीशियस के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय कानून का विचार रोमन चिंतन से लिया गया है। रोमन शासकों द्वारा इस कानून का प्रयोग विदेशियों के सम्बंध में किया जाता था तथा मध्ययुग में यह स्वतंत्र राज्यों के मध्य सम्बंधों का निर्धारण करने के लिए प्रयोग में किया था।

अंतर्राष्ट्रीय कानून के इच्छामूलक होने के कारण ग्रीशियस इसे विवेकमूलक प्राकृतिक कानून से निम्न श्रेणी का मानता है और दोनों में विरोध होने की स्थिति में प्राकृतिक कानून को सही मानता है। उनका मानना है कि यह भले ही निम्न श्रेणी का है फिर भी यह प्राकृतिक कानून से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी उत्पत्ति राष्ट्रों की सामूहिक सहमति से होती है और इसका उद्देश्य सार्वभौम हित करना है। इस अंतर्राष्ट्रीय कानून में अंतर्राष्ट्रीय परंपराएँ, रीति-रिवाज आदि सम्मिलित होते हैं, जो प्राकृतिक कानून की सार्वभौम नैतिकता को कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक पूरक का कार्य करते हैं। इसलिए सामाजिक हित को स्थान में रखकर समस्त राष्ट्रों को इस कानून का पालन करना चाहिए।

राज्य की उत्पत्ति ग्रीशियस के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संगठन माना जाता है जिसकी उत्पत्ति का कारण एक समझौता है। उसका मत है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में विशुद्ध प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करता था। वह स्वयं ही अपने अधिकार की रक्षा करता था और अपने विरुद्ध अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने का उसे अधिकार था। किन्तु जब सामाजिक शांति और व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समझौता किया गया तो अन्याय का प्रतिकार करने का यह अधिकार सर्वोच्च शासक के हाथों में चला गया। राज्य की परिभाषा करते हुए ग्रीशियस का कहना है कि “राज्य स्वतंत्र व्यक्तियों का एक पूर्ण समुदाय है, जो कानून का लाभ प्राप्त करके तथा अपने सामूहिक हितों का उपभोग करने के लिए आपस में संयुक्त होते हैं।”

प्रभुसत्ता प्रभुसत्ता को परिभाषित करते हुए ग्रीशियस कहते हैं, “वह सर्वोपरि राजनीतिक शक्ति है जो उसमें निहित होती है। जिसके कार्य अन्य किसी व्यक्ति के अधिकारों के अधीन नहीं हैं और जिसे किसी दूसरी मानव इच्छा द्वारा अवैध नहीं ठहराया जा सकता है।”

इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्प्रभु का उत्तराधिकारी जो स्वयं भी सम्प्रभु है। इस कार्य को परिवर्तन नहीं कर सकता। सम्प्रभुता की शक्ति कहां निहित है? इसके

उत्तर के रूप में ग्रीशियस कहते हैं कि सम्प्रभुता की शक्ति एक तो सामान्य रूप से राज्य में निहित होती है पर विशेष रूप से यह किसी प्रशासक व्यक्ति या प्रशासकों के समूह में निहित होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु का अवलोकन सारा शरीर करता है पर देखने का कार्य विशेष रूप से आंख का है उसी प्रकार सम्प्रभुता मूल रूप से जनता में निहित है। परंतु जनता इसे सशर्त तथा बिना शर्त के दूसरों को प्रत्यायोजित कर सकती है। यदि इसे एक बार प्रत्यायोजित कर दिया जाता है तो यह वापस नहीं लिया जा सकता। वह इस बात को स्वीकृति नहीं देता है कि सम्प्रभु राज्य के अत्याचार का दंड जनता दे सकती है।

ग्रीशियस का मानना है कि संप्रभु का उत्तरदायित्व लोगों के प्रति भी नहीं होता है उत्तरदायी होने की स्थिति में वह संप्रभु भी नहीं रह सकता। किसी संवैधानिक संस्था को भी सम्प्रभु प्रशासन का स्रोत नहीं मान सकता क्योंकि ऐसा करने से उसकी अधीनता को एक न एक दिन स्वीकार करना ही पड़ेगा।

ग्रीशियस के अनुसार, सम्प्रभुता की शक्ति जनता के हितार्थ नहीं है। कुटुंब में जिस प्रकार कुटुंब का मालिक केवल कुटुम्बियों के लिए ही नहीं होता बल्कि स्वयं के लिए भी होता है उसी प्रकार सम्प्रभु अपने हितार्थ ही सम्प्रभु होता है। यह बात अलग है कि सम्प्रभु के कार्यों से जनता भी स्वयं लाभान्वित हो जाती है।

सम्प्रभु की सत्ता न ही चुनाव के कारण समाप्त होती है और न ही उत्तराधिकारी के कारण वह पुनर्स्थापित होती है। उत्तराधिकार में वह निरंतर रूप से चलती रहती है।

ग्रीशियस का मानना है कि संप्रभुता का लुप्त होना अधिकारों को प्रदान करने पर निर्भर नहीं है। राजा अपनी जनता या ईश्वर के लिए अनेक प्रतिज्ञाएं करता है। यहां तक कि प्रशासन भी अनेक प्रकार की रियायतें कर सकता है पर इसके कारण सम्प्रभु की शक्ति में कमी नहीं आती। इस नियम में ग्रीशियस का यह तर्क है कि जैसे—कुटुम्ब का स्वामी कुटुम्ब के लिए किसी प्रकार की प्रतिज्ञा कर सकता है। पर इसी कारण इसकी सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। एक पति अपनी पत्नी की किसी सलाह को मान लेता है लेकिन इस कारण वह उस पर अपने सर्वोच्च अधिकार को खो नहीं देता।

डनिंग का मानना है कि ग्रीशियस की संप्रभुता संबंधी धारणाओं में कई गलतियाँ हैं। वह कहते हैं कि, “प्रभुसत्ता सर्वोच्च सत्ता है, परंतु प्रतिज्ञाओं से नियंत्रित है; वह एक है, परंतु विभाजित भी; यह पूर्ण है, परंतु सम्पत्ति के अधिकार

से मर्यादित एवं निश्चित समय पर समाप्त भी हो जाती है। यह रक्षक तथा रक्षित एवं मालिक तथा सेवक दोनों में समान रूप से निहित रहती है।”

इस तरह जैसे सेबाइन द्वारा कहा गया है कि, “परिणाम यह हुआ कि इतनी विवरणात्मक बातों की बाढ़ में राज्य के एक विशिष्ट तत्व के रूप में प्रभुसत्ता ओझल हो गई। इन विवरणों का प्रभुसत्ता के सिद्धांत से कोई संबंध नहीं है, अपितु इनका संबंध विशिष्ट शासकों की संवैधानिक शक्तियों से ही हो सकता है।”

प्रभुसत्ता तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून ग्रोशियस का मानना है कि एक राज्य का सम्प्रभु पूर्णतः स्वतंत्र है और दूसरे राज्यों के सम्प्रभुओं के साथ समान स्थिति रखता है। अतः अंतर्राष्ट्रीय समाज का वह सम्प्रभुता सम्पन्न और समानता प्राप्त सदस्य है। परंतु ऐसी स्थिति में भी वह अंतर्राष्ट्रीय कानून से बंधा है, क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्र के समुदाय की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है और उसका आधार सामूहिक सहमति है इसलिए सम्प्रभुता का उपयोग मानते हुए भी राज्य को अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस प्रकार ग्रोशियस ने सम्प्रभु राज्यों पर अंतर्राष्ट्रीय कानून का नियंत्रण स्थापित करते हुए अंतर्राष्ट्रवाद की विचारधारा का जन्म दिया।

दास प्रथा ग्रोशियस का एक ओर तो यह कहना है कि, “प्राकृतिक के अनुसार कोई भी व्यक्ति दास नहीं है।” वहीं दूसरी ओर वह यह कहता है कि यदि समझौते के परिणामस्वरूप अथवा सही ऋण की अदायगी न करने पर या अपराध करने पर कोई व्यक्ति दास बना लिया जाता है तो ग्रोशियस के अनुसार ऐसी दक्षता प्राकृतिक कानून के अनुकूल है पर युद्ध में बनाये गए दास अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार तो दास हैं पर प्राकृतिक विधि के अनुसार दास नहीं हैं। ग्रोशियस का यह भी मानना है कि बेकसूर व्यक्तियों को युद्ध में बंदी बनाकर दास बनाकर रखना अनुचित है और नैतिकता के विरुद्ध है।

10

थॉमस हॉब्स

विश्व प्रसिद्ध पाश्चात्य चिन्तक थॉमस हॉब्स ने राजनीति शास्त्र में सामाजिक समझौता सिद्धान्त की नवीन परम्परा को प्रतिपादित और उसके विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है। हालांकि हॉब्स महोदय के पूर्व प्राचीन और मध्ययुगीन चिन्तकों द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था परन्तु बाद में हॉब्स ने इस सिद्धान्त को एक विस्तृत रूप दिया था। हॉब्स पहले थे जिन्होंने राजनीतिक चिंतन के जगत में निरंकुशतावाद और धर्मनिरपेक्षतावाद के लिए वैज्ञानिक आधार प्रदान किया और भौतिक विज्ञानों में प्रयोग होने वाली वैज्ञानिक पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में प्रयोग कर उन्हें वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। हॉब्स महोदय की प्रमुख देन वैज्ञानिक चिंतन प्रणाली, ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी समीक्षा तर्क सिद्ध व्याख्या, सुतीक्ष्ण शैली एवं विचारोत्तेजक लेख आदि हैं। हॉब्स के सन्दर्भ में जॉन लेयर्ड का मानना है कि, “हॉब्स प्रतिभा सम्पन्न मनोवैज्ञानिक, उत्कृष्ट तत्वज्ञानी, प्रसिद्ध राजनीतिक चिंतक एवं एक ऐसा नैतिकतावादी है जिसे ब्रिटेन के आचारशास्त्र का जनक कहा जा सकता है।

थॉमस हॉब्स का जीवन-वृत्त

बहुमुखी प्रतिभा के धनी राजनीतिक दार्शनिक थॉमस हॉब्स का जन्म इंग्लैण्ड में विल्टशायर के माम्जबरी नामक स्थान पर 5 अप्रैल सन् 1588 को हुआ था। यहीं उसकी प्रारंभिक शिक्षा भी हुई। 15 वर्ष की आयु से पहले ही उसे ऑक्सफोर्ड

यूनिवर्सिटी में भेज दिया गया। लेकिन इस शिक्षा से वह उदासीन बना रहा। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी छोड़ने के पश्चात् वह विलियम कैवेन्डिस के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का संरक्षक और अध्यापक हो गया। हॉब्स के जीवन पर इस परिवार का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा क्योंकि इसी परिवार के जरिये हॉब्स बेन, जोन्सन, बेकन और क्लेरेंडन से परिचित हुआ। यहाँ उसका दृष्टिकोण राजतंत्रवादी बना रहा।

हॉब्स महोदय ने स्वयं लिखा है कि वह और भय दोनों जुड़वाँ भाई है। इस भय के पीछे एक मूल कारण यह था कि इंग्लैण्ड जब युद्ध के भय से आतंकित था, उसी समय हॉब्स की माँ ने समय से पूर्व ही हॉब्स को इस मानव रूपी संसार में जन्म दिया था। फलतः भय ने हॉब्स के मन में जीवन भर के लिए घर कर लिया था। हॉब्स का जीवन संघर्षपूर्ण परिवेश में बीता सन् 1642-49 में हुए इंग्लैण्ड का गृह युद्ध अपनी आँखों से देखा था। जिसने हॉब्स के मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव डाला और उसका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि शक्तिशाली राजतंत्र के बिना देश में शांति तथा सुव्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती है। गिलक्राइस्ट महोदय ने लिखा है कि, “इस गृह-युद्ध के परिणामों से वह बहुत दुःखी हुआ। इससे उसका यह निश्चित मत बना कि इस देश की मुक्ति का एक ही मार्ग है—शक्तिशाली निरंकुश राजसत्ता की स्थापना।”

चार्ल्स प्रथम को सन् 1649 में फांसी की सजा प्रदान की गयी। इस घटना से हॉब्स इतना डर गया कि वह भी राजतंत्रवादियों के साथ फ्रांस भाग गया। उसने 1651 में अपने ग्रंथ लेबियाथन को प्रकाशित किया। इस ग्रंथ का तेजी से प्रसार हुआ। परंतु लेबियाथन के विचार धर्म निरपेक्ष तथा कैथोलिक धर्म के विरुद्ध होने से फ्रांस के कैथोलिक शासकों ने इसे पसंद नहीं किया। कैथोलिक जनता की प्रतिक्रिया से हॉब्स के प्राणों को एक बार पुनः खतरा अनुभव हुआ। भय वश हॉब्स ने शीघ्र ही फ्रांस से भागकर इंग्लैण्ड में तत्कालीन शासक क्रॉमवैल तथा संसदीय दल के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। उसने 1655 में De Corpore तथा 1658 में De Homine की रचना की। परंतु इन रचनाओं में धर्म निरपेक्षता तथा भौतिकवादिता की धारणा अपनाने के कारण हॉब्स को धर्मपंथियों तथा आध्यात्मिकवादियों के विरुद्ध संकट का सामना करने का भय बना रहा। 1660 में जब उसका शिष्य चार्ल्स द्वितीय इंग्लैण्ड का शासन हुआ तो हॉब्स का डर व भय कुछ कम हुआ। चार्ल्स ने हॉब्स के साथ गुरुवत् व्यवहार करते हुए उसे पेंशन देना शुरू कर दिया और अन्त में सन् 1679 में इस मानव रूपी संसार से विदा हो गया है। इस समय इनकी अवस्था 92 वर्ष थी।

राजनीतिक दृष्टिकोण

बहुमुखी प्रतिभा के धनी राजनीतिक विचारक थॉमस हॉब्स के राजनीतिक दृष्टिकोण अथवा विचार को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत स्पष्ट किया गया है—

मानव का स्वभाव—मानव के स्वभाव के विषय में हॉब्स का मानना था कि, “किसी भी राजनीतिक समाज का अध्ययन मानव स्वभाव के अध्ययन से प्रारंभ होना चाहिए।” इसके अलावा इनका यह भी मानना था कि मनुष्य स्वभाव से झगड़ालू, स्वार्थी, ईर्ष्यालु प्राणी है। मनुष्य सहानुभूति और खुशी का प्रदर्शन भी इन्हीं मौलिक गुणों के परिणामस्वरूप करता है। अगर एक व्यक्ति दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखाता है तो इसलिए नहीं कि वह वास्तव में उस व्यक्ति के दुःख से दुःखी है बल्कि इसलिए दिखाता है कि वह उस व्यक्ति के दुःख से विचलित हो गया है और स्वयं इसलिए प्रसन्न है कि वह दुःख उसे नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य को हँसी, दूसरे की दुर्दशा या अपने कार्यों के परिणामस्वरूप आती है। इसके आगे इन्होंने यह भी लिखा है कि, “हँसी अच्छे स्वभाव की निशानी नहीं है। यह या तो मनुष्य को अपने ही आनन्द योग्य कार्यों से प्राप्त होती है या दूसरे में ऐसी कमजोरी देखकर जो स्वयं में नहीं आती है।” हॉब्स मानव को असामाजिक प्राणी मानता है। हॉब्स मानव को चींटियों और मधुमक्खियों से भी गुजरा मानता है क्योंकि चींटियाँ और मधुमक्खियाँ आपस में नहीं लड़ती जबकि मानव आपस में लड़ता है।

मानव स्वभाव के संदर्भ में हॉब्स ने यह भी लिखा है कि, “मानव को वस्तुएँ आकर्षित लगती हैं या उसे अलगाव रहता है। आकर्षण की इच्छा को तृष्णा कहते हैं, अलगाव को घृणा कहते हैं।” आदि मानव असभ्य एवं असामाजिक था अतः इसे सामाजिक जीवन से कोई मतलब नहीं था। वह तो केवल अपने स्वार्थ-पूर्ति के कारण सामाजिक व्यवहार में संघर्षपूर्ण बना रहा। व्यक्ति अपनी वस्तु को बनाये रखना चाहता है, दूसरों की वस्तुओं पर अधिकार करना चाहता है। मनुष्य अपनी स्वार्थी इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास करता है। इसी कारण उसमें परोपकारी गुण का अभाव था। थॉमस हॉब्स का मानना था कि सभी मनुष्य समान हैं। शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों की दृष्टि से प्रकृति ने सभी मनुष्यों को इतना बराबर बनाया है कि यद्यपि एक-दूसरे की अपेक्षा शारीरिक रूप से अधिक बलवान और बौद्धिक रूप से अधिक तीक्ष्ण हो सकता है, किंतु यदि सभी बातों को ध्यान में रखा जाये तो विभिन्न मनुष्यों के बीच अधिक अंतर नहीं है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे मनुष्य की अपेक्षा निर्बल व्यक्ति

मानसिक दृष्टि से अधिक बुद्धिमान, धूर्त और प्रपंची होता है और सामर्थ्य की समता के फलस्वरूप लक्ष्य-प्राप्ति की आशा की समानता विकसित होती है। इसीलिए जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्नशील होते हैं, तब दोनों एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। मानव स्वभाव के अन्तः विचार के सन्दर्भ में यह लिखा है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है तथा अधिकाधिक शक्ति स्वयं प्राप्त करने के लिए इच्छुक रहता है। इसके अलावा इन्होंने यह भी लिखा है कि, “भय के आर्त और स्वार्थ साधन में चतुर व्यक्ति निरंतर शक्ति प्राप्त करने और प्राप्त शक्ति की वृद्धि में प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि आत्मरक्षा के लिए तो शक्ति आवश्यक है।”

सेबाइन ने हॉब्स के विचारों का समर्थन करते हुए यह लिखा है कि, “मानव प्रकृति की मूलभूत आवश्यकता आत्म-रक्षा है जिसे शक्ति की कामना से पृथक नहीं किया जा सकता। यह कामना भविष्य में भलाई के साधन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है, क्योंकि प्रत्येक सुरक्षा की मात्रा अधिक सुरक्षा चाहती है।” हॉब्स महोदय ने मानव स्वरूप के विषय में यह लिखा है कि, “संपूर्ण मानव जाति शक्ति की शाश्वत अतिश्रान्त इच्छा से प्रेरित है। इस लालसा का अंत मृत्यु के साथ ही होता है। इसका कारण यह नहीं है कि मनुष्य के पास इस समय जितनी प्रसन्नता है वह उससे अधिक प्रसन्नता चाहता है या कुछ कम शक्ति से उसका काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के पास इस समय जीविका के जो साधन हैं और जिनकी शक्ति है उससे अधिक प्राप्त किये बिना उसकी रक्षा का आश्वासन नहीं मिलता।”

हॉब्स के उक्त कथन का अवलोकन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव को प्रत्येक ढंग की शक्ति, सम्पत्ति, पद और सम्मान की भूख है। क्योंकि ये सारी वस्तुएँ उस अपरिहार्य विनाश को रोकती हैं, जो किसी दिन प्रत्येक मानव पर छा जाता है।

प्रतिस्पर्धा, भय और पारस्परिक अविश्वास तथा वैभव इन तीनों तत्व सतत संघर्ष के प्रमुख कारण हैं। हॉब्स का मानना है कि, “हम मानव स्वभाव में झगड़े के तीन मुख्य कारण देखते हैं—पहला प्रतिस्पर्धा, दूसरा भय और तीसरा वैभव। इनमें प्रतिस्पर्धा के कारण लाभ के लिए, विश्वास के अभाव के कारण रक्षा के लिए तथा वैभव प्राप्ति के कारण प्रसिद्धि के लिए परस्पर संघर्ष करते हैं। दूसरा कारण अर्थात् भय सुरक्षा के लिए तीसरा कारण यश कीर्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। यद्यपि मानव शांति का आकांक्षी है, किंतु वह सदैव दूसरों से भयभीत रहता है।

सम्पत्ति की चाह और कीर्ति की प्यास भी नहीं छूटती। फलतः अपने साथियों के साथ वह सतत् संघर्ष में संलग्न रहता है।” हॉब्स ने यह भी लिखा है कि मानव ऊपर से देखने में सभ्य, शिष्ट और सज्जनता की प्रतिमूर्ति प्रतीत होता है परंतु मानव वास्तव में स्वार्थी है और अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए वह दूसरों का बड़े से बड़ा अहित कर सकता है।

हालांकि हॉब्स ने मानव स्वभाव को एक तरफ बुरा कहा है तो दूसरी तरफ उसके अच्छे गुणों की कल्पना भी की है। हॉब्स का मानना है कि, “मनुष्य में कुछ ऐसी इच्छाएँ भी होती हैं जो उसे युद्ध के लिए नहीं अपितु शांति एवं मैत्री के लिए प्रेरित करती हैं। आराम की इच्छा, ऐन्द्रिक सुख की कामना, मृत्यु का भय, परिश्रम से अर्जित वस्तुओं के भोग की लालसा मनुष्य को एक शक्ति की आज्ञा मानने हेतु मजबूर कर देती है क्योंकि सामान्य शक्ति के नियंत्रण में रहकर ही मनुष्य की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है।

प्राकृतिक अवस्था—थॉमस हॉब्स महोदय ने माना कि मानव स्वभाव की भांति यह अवस्था भी सतत् युद्ध व संघर्ष की अवस्था थी, मानव मानव का दुश्मन था। प्रत्येक मानव को अन्य मानव से भय बना हुआ था।

प्राकृतिक अवस्था में केवल धोखाधड़ी और शक्ति ही मानव जीवन के मुख्य तत्व थे। **हॉब्स** ने लिखा है कि यह एक ऐसी अवस्था थी जिसमें शासक कानून तलवार का कानून था। इसलिए “मनुष्य का जीवन प्राकृतिक अवस्था में एकाकी, असहाय, कुत्सित, पाशविक और क्षणिक होता था।” इस प्रकार हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था “जिसकी लाठी उसकी भैंस” वाली अवस्था थी। उसके अनुसार इस प्राकृतिक अवस्था में अधिकार, स्वतंत्रता या कानून यही था कि “प्रत्येक मनुष्य को अपनी जीवन रक्षा की पूरी स्वाधीनता है।” उस समय जीवन का नियम था, “प्रत्येक मनुष्य का केवल वही अपना होगा जिसे वह पा सकता है और तब तक के लिए ही जब तक वह उसे रख सकता है।” इस प्राकृतिक अवस्था का एक कानून था, “जिसे मार सकते हो, उसे तुम मारो और जो तुम लूट सकते हो उसे लूट लो।” हॉब्स द्वारा चिंतित प्राकृतिक अवस्था में उचित-अनुचित, न्याय व अन्याय का कोई महत्त्व नहीं था, धोखा और शक्ति ही मुख्य गुण समझे जाते और मनुष्यों का जीवन सदैव खतरे में था। इस अंधकारपूर्ण प्राकृतिक स्थिति में संस्कृति, सभ्यता, कला, विज्ञान जैसी विधाओं का विकास नहीं हो पाया था। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में अराजकता का बोलबाला था। मानव का जीवन सुरक्षित नहीं था। हॉब्स के शब्दों

में, “ऐसे समय में जब मनुष्य एक ऐसी शक्ति के बिना रहते थे जो उन्हें भयभीत बनाये रखे, वे उस अवस्था में रहते थे जिसे युद्ध कहा जाता है और वह ऐसा युद्ध होता है जो प्रत्येक मनुष्य की ओर से प्रत्येक मनुष्य के विरुद्ध होता है। ऐसी दशा में उद्योग, संस्कृति, समुद्री-परिवहन, भवन-निर्माण, यातायात के साधनों, ज्ञान, समाज आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता तथा मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणिक होता है।”

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

प्राकृतिक अधिकार वह अधिकार कहलाता है जिसमें मानव को अपने जीवन की सुरक्षा हेतु कोई भी कार्य करने की पूरी छूट प्राप्त होती है। कोई भी मानव अपने जीवन को बनाये रखने के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डाल डालने की स्वतंत्रता रखता है। टी.एच हक्सले ने ऐसे अधिकार को ‘शेर का अधिकार’ कहा है। जैसे शेर को अपना शिकार मारने की स्वतंत्रता है, वैसे ही मनुष्य को भी हिंसा और हत्या की पूरी स्वतंत्रता है, बशर्ते कि इससे उसकी इच्छाओं की पूर्ति हो सके।”

परन्तु हॉब्स ने इस अधिकार के साथ-साथ कुछ प्राकृतिक नियमों को भी मान्यता देता है। इन प्राकृतिक नियमों का पालन करने से प्राकृतिक अधिकार-प्राप्ति का उद्देश्य पूर्ण होता है। हॉब्स के अनुसार मानव के “प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक-दूसरे की हत्या और लूटमार का अधिकार मिल जाता है जिससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। लेकिन सभी व्यक्ति जीवन को सुरक्षित बनाये रखना चाहते हैं अतः वे प्राकृतिक दशा में भी अपनी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते हैं। इन नियमों का पालन करके मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी अपना जीवन सुखमय बना सकते हैं।

ये प्राकृतिक नियम के नियंत्रण हैं जो मनुष्य अनुभव द्वारा सीखता है और जिन्हें वह अपने जीवन के लिए लाभदायक पाता है। प्राकृतिक नियम के सन्दर्भ में थॉमस हॉब्स का मानना है कि, “यह वह नियम है जो विवेक द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य निषिद्ध हैं जो उसके जीवन के लिए विनाशप्रद हैं या जिनसे जीवन की रक्षा के साधनों का हरण होता है जिनके द्वारा उसके लिए उन कार्यों का न करना निषिद्ध है जिनसे जीवन की रक्षा होती है।” परन्तु ऐसे नियमों को कानून की संज्ञा देना सम्भव नहीं है, क्योंकि कानून तो संप्रभु की आज्ञा है। प्राकृतिक नियम मनुष्य को बाध्य करता है कि वह प्राकृतिक अवस्था में आत्मरक्षा के लिए इच्छानुसार कुछ भी करने की मिली हुई अपनी

स्वाभाविक स्वतंत्रता का कुछ अंश त्याग दे जिससे वह शेष स्वतंत्रता का अधिक निश्चित रूप से उपभोग कर सके। इस प्रकार प्राकृतिक नियम पूर्ण स्वेच्छाचारिता तथा अनुत्तरदायित्व के बीच एक कड़ी थी। इसी आधार पर हॉब्स प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम दोनों के मध्य पाये जाने वाले भेद व अन्तर को बताते हुए यह लिखा है कि प्राकृतिक अधिकार अवस्था को निरंतर संघर्ष की स्थिति बना देते हैं जबकि प्राकृतिक नियम पर आचरण करके मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से बच सकते हैं और आत्म-परीक्षण के उद्देश्य से सरलता से प्राप्त कर सकते हैं।

सामाजिक समझौता और राज्य की उत्पत्ति

थॉमस हॉब्स महोदय ने जो प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है वह आशाजनक न होकर बल्कि बड़ा निराशाजनक ही साबित होता है। उसकी मान्यता के अनुसार राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था की इसी दुःखमय स्थिति से हुई है। निराशापूर्ण और दुःखदायी जीवन से लोग ऊब जाते हैं। वे अपनी इस संघर्षमयी, नीच, अव्यवस्थित एवं पाशविक अवस्था को दूर करने की आवश्यकता समझते हैं तथा एकमत होकर समझौता करने के पक्ष में होते हैं। उनका विवेक उन्हें प्राकृतिक विधियों की उपयोगिता बताता है। अतः जीवन की सुरक्षा के लिए और भयंकर प्राकृतिक अवस्था से मुक्त होने के लिए वे एकत्रित होकर जो समझौता करते हैं, उससे राज्य का कल्याण एवं लाभ होता है।

हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में यह लिखा है कि राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आया। राज्य की स्थापना का वर्णन हॉब्स ने लेवियाथन में इस प्रकार किया है, “एक राज्य की स्थापना तब होती है जब अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से यह समझौता करते हैं कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के कार्यों को अपना कार्य समझेंगे जिसे उनके अधिकांश भाग ने अपना प्रतिनिधि चुना है, चाहे उनमें से किसी ने उसके पक्ष में मत दिया हो या विरोध में। इस समझौते का उद्देश्य यह है कि मनुष्य शांतिपूर्वक और दूसरों के विरुद्ध सुरक्षित रहे। इस तरह से जो भी चीज उत्पन्न होती है वह केव रजामंदी से कुछ बढ़कर है। यह समस्त व्यक्तियों का वास्तविक इकाई में एकीकरण है जिसकी सिद्धि प्रत्येक के साथ समझौते द्वारा हुई है।”

यह समझौता इस प्रकार हुआ। हॉब्स का मानना है कि प्रत्येक ने एक सभा

या व्यक्तियों के सम्मुख कहा, “मैं अपने ऊपर शासन करने का अपना अधिकार इस व्यक्ति अथवा इस जनसभा को इस शर्त पर सौंपने की स्वीकृति देता हूँ कि तुम भी अपने सब अधिकार इसको सौंपोगे और इस तरह उसके सभी कार्यों को स्वीकृति दोगे।” इससे आगे इन्होंने यह भी विचार दिया कि इस मर्त्यप्रभु (लेवियाथन) का इस रीति से जन्म होता है। यही वही मर्त्यप्रभु है जिसकी कृपा पर अनश्वर ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शक्ति तथा सुरक्षा निर्भर है।

इस समझौते से सभी लोगों ने अपने सभी अधिकार एक व्यक्ति की सभा को दे दिये परन्तु वह व्यक्ति इस समझौते से सन्तुष्ट नहीं हुआ और वह निरंकुश सत्ता (संप्रभु) बना और समझौते में सम्मिलित सभी व्यक्ति उसकी प्रजा बने। इस संप्रभु को हॉब्स ने लेवियाथन का नाम दिया।

प्रभुसत्ता—हॉब्स ने प्रभुसत्ता सिद्धान्त का भी चित्रण किया जिसपर सामाजिक समझौते सिद्धान्त का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न संप्रभु सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न और निरंकुश है। उसका प्रत्येक आदेश कानून है और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। उसे जनता के जीवन को नियंत्रित करने का असीमित अधिकार प्राप्त है तथा जनता को किसी भी प्रकार से उसे चुनौती देने का अधिकार नहीं प्राप्त है। इस सन्दर्भ में हॉब्स का मानना है कि जनता का एकमात्र कार्य संप्रभु के आदेशों का पालन करना है, चाहे वह आदेश ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध ही क्यों न हो। जनता के लिए उनका पालन करना ही न्यायपूर्ण और वैध है। संप्रभु को जनता की सम्पत्ति छीनने का, यहाँ तक कि उसके प्राण लेने का भी अधिकार है, इसका प्रमुख कारण यह है कि जनता की सम्पत्ति और जीवन उसकी सत्ता से ही सुरक्षित नहीं है। अतः यदि प्रजाजन संप्रभु की आज्ञा का किसी भी रूप में विरोध करते हैं तो उनका यह व्यवहार अनुचित है। यहाँ तक कि एक संप्रभु की स्थापना कर लेने पर उसके स्थान पर दूसरे संप्रभु की स्थापना करना भी संविदा को भंग करना और पुनः प्राकृतिक स्थिति में पहुँच जाना होगा। इस दृष्टि से अत्याचारी शासक की हत्या करना भी हॉब्स को स्वीकार नहीं है।

उन सभी संगठनों व संस्थाओं की हॉब्स आलोचना करता है जो सत्ता के अधिकार को सीमित करने का प्रयास करती है। वह शक्ति के पृथक्करण एवं मिश्रित शासन-व्यवस्था का भी विरोध करता है। उसका मत है कि ऐसी व्यवस्थाएँ अराजकता उत्पन्न करने वाली होती हैं। उसके अनुसार इंग्लैण्ड में उसके समय में होने वाले गृहयुद्ध का यही कारण था, जिसकी वजह से लोग यह सोचते थे कि

सर्वोत्तम सत्ता राजा और संसद में बंटा हुआ है। अतः थॉमस हॉब्स प्रभुसत्ता को सम्पूर्ण अविभाज्य तथा असीम कहता है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता—वैयक्तिक स्वतंत्रता के सन्दर्भ में हॉब्स का मानना है कि व्यक्ति जिन कार्यों को सम्पन्न करने की इच्छा करता है, उन पर बाह्य प्रतिबंधों का अभाव ही स्वतंत्रता है। प्रभुसत्ता की असीम शक्ति का समर्थन करने के बाद हॉब्स ने निम्नलिखित क्षेत्रों में मानव को स्वतंत्रता दी है—

1. क्षेत्र तो आर्थिक समझौते का है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को क्रय-विक्रय करने की पूर्ण स्वतंत्रता है।
2. क्षेत्र में प्रत्येक को अपने निवास स्थान, भोजन और व्यापार चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की है।
3. क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार बच्चों को शिक्षा दिलाने की स्वतंत्रता है। इन क्षेत्रों में व्यक्ति को स्वतंत्रता प्रदान कर अखण्ड प्रभुसत्ता का समर्थक हॉब्स सर्वग्राहिता के आरोप से मुक्त हो गया है।

संप्रभु की अवज्ञा का अधिकार—हॉब्स ने निम्नलिखित क्षेत्रों में व्यक्ति या मानव को संप्रभु की अवज्ञा का अधिकार दिया है—

1. यदि संप्रभु किसी व्यक्ति को दूसरों की हत्या करने का आदेश देता है तो ऐसी आशा को न मानने की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को है।
2. कोई व्यक्ति कुछ अवस्था विशेष में सेना में भर्ती होना अस्वीकृत कर सकता है और डरपोक होने पर प्राण रक्षा के लिए युद्ध क्षेत्र से भाग सकता है।
3. यदि संप्रभु किसी व्यक्ति को ऐसी आज्ञा दे कि वह अपने को मार डाले, अपने अंगों को पीड़ित करे। यदि कोई दूसरा उस पर आक्रमण करे तो प्रतिरोध न करे अथवा भोजन, वायु, चिकित्सा आदि से परहेज करे, तो ऐसी आज्ञा को अस्वीकार करने की स्वतंत्रता प्रत्येक मानव को है।
4. कोई भी व्यक्ति अपने उन दोषों को मानने से इन्कार कर सकता है, जिसके कारण उसकी जान व प्राण जाने की सम्भावना है।

शासन—हॉब्स शासन के तीन भेद बताये हैं जिसमें पहला यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित हो तो राजतंत्र होता है। दूसरा यदि कुछ व्यक्तियों में निहित हो तो कुलीनतंत्र और तीसरा समाज के सब व्यक्तियों में निहित हो तो लोकतंत्र होता है। अतः इन तीनों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार को कोई शासन नहीं होता। प्रभुसत्ता को अविभाज्य मानने के कारण वह मिश्रित संविधान व्यवस्था का घोर

विरोधी है। इन तीनों में हॉब्स राजतंत्र को निम्नलिखित कारणों से अधिक उपयुक्त मानना है—

1. राजतंत्र में यद्यपि अपने कृपापात्रों को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, परंतु लोकतंत्र में यह समस्या सबसे अधिक पायी जाती है, क्योंकि इनमें शासकों की संख्या अधिक होने से उनके कृपापात्र भी बढ़ जाते हैं।
2. राजतंत्र में राजा किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों से किसी स्थान पर गुप्त रूप से मंत्रणा कर सकता है क्योंकि वह अकेला व्यक्ति होता है। अन्य प्रकार के राज्यों में शासकों का एक समुदाय होने से ऐसा होना संभव नहीं है।
3. राजतंत्र में शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा का अभाव होता है हालांकि उत्तराधिकार में नाबालिग या उत्तराधिकारी की दृष्टता मानसिक खराबी के कारण गड़बड़ी हो सकती है पर समुदाय का वर्ग के शासन में स्वार्थों की दौड़ इतनी अधिक होती है कि एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा में राज्य का विनाश हो जाता है।
4. राजतंत्र में राजा तथा राज्य का वैयक्तिक और सार्वजनिक हित एक होता है। राजा के धन और कीर्ति की वृद्धि राज्य की सम्पत्ति और यश को बढ़ाने वाली होती है।
5. राजतंत्र में शासन की स्थिरता और स्थायित्व अधिक होता है। मनुष्य का स्वभाव बड़ा चंचल होता है, यदि कोई व्यक्तियों अथवा लोकतंत्र का शासन होगा तो इसमें अधिक व्यक्तियों के कारण अत्यधिक चपलता और अस्थिरता रहेगी। एक व्यक्ति के हाथ में शासन रहने से अस्थिरता अधिक नहीं बढ़ पाती।

कानून—हॉब्स का मानना है कि सम्प्रभुता का स्वरूप वैधानिक सम्प्रभुता का स्वरूप है, अतः उसका सम्प्रभु कानूनों द्वारा नियंत्रित नहीं है। कानून को परिभाषित करते हुए हॉब्स महोदय ने लिखा है कि, “वास्तविक कानून उस व्यक्ति का आदेश है जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है।” अतः उसकी सम्प्रभुता दूसरों को आदेश देने की शक्ति है। उनका मानना है कि, “कानून सम्प्रभु का आदेश है।” इस प्रकार हॉब्स कानून की विधिशास्त्रीय व्याख्या करता है और राज्यादेशों के अतिरिक्त और किसी को कानून नहीं मानता। वह प्राकृतिक कानून, रीति-रिवाज और दैवी कानून को कानून के रूप में स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसका कहना है कि ये सब इसीलिए समाज में कानून के रूप में मान्य होते हैं क्योंकि उन्हें सम्प्रभु का समर्थन प्राप्त होता है। सम्प्रभुता के समर्थन की अनुपस्थिति में कानून के रूप में इसका कोई स्थान नहीं होता है।

राज्य और चर्च—थॉमस हॉब्स महोदय ने चर्च को राज्य के नियंत्रण में रखने के पक्षधर थे। स्वतंत्र चर्च के होने का अर्थ है राज्य का प्रतिद्वन्द्वी होना जबकि प्रभुत्व पूर्ण राज्य में ऐसा नहीं हो सकता। हॉब्स ने धार्मिक सत्ता को पूर्णतः राजसत्ता के वंशवर्ती माना है और संप्रभु के कानूनों के ऊपर, शक्तिधारक के रूप में, बाइबिल के नियमों को अस्वीकार किया है। उसने घोषित किया था कि, “यदि धार्मिक विधि-निषेधों, धार्मिक पुस्तकों के सिद्धांतों, धर्म तत्वों और चर्च शासन को कोई सत्ता प्राप्त होती है तो वह प्रभु के द्वारा अधिकृत होती है।”

थॉमस हॉब्स महोदय ने सार्वभौम जैसी अवधारणा को स्वीकार करते हुए यह लिखा है कि चर्च राज्य के अंतर्गत अनेक निगमों की भाँति है, जिसका एक प्रधान होता है और वह प्रधान राज्य का संप्रभु है। वह इस धारणा को पूर्णतया भ्रामक मानता है कि चर्च ईश्वर का राज्य है, जिसकी संप्रभुता राज्य की संप्रभुता से पृथक होती है। **हारमोन** का मानना है कि, “विभिन्न संगठनों में से जो कि राज्य के साथ शक्ति-प्रतियोगिता कर सकते हैं, चर्च प्रमुख अपराधी संगठन है।”

हॉब्स महोदय ने लिखा है कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति का भय है। मनुष्य शाश्वत नरक के भय से काँपता है और आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी का फायदा लेती है। अतः राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत हैं उनसे भय करना धर्म है और जो अदृष्ट शक्तियाँ राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं हैं उनसे भय का नाम अंधविश्वास है। हॉब्स के अनुसार धर्म-ग्रंथ की व्यवस्था करने का एक मात्र उचित अधिकार शासक को ही है राजकीय विधि और दैवी विधि में कोई विरोध नहीं हो सकता। दैवी विधि वही है जिसकी संप्रभु व्याख्या करे। इस प्रकार हॉब्स धर्म को पूर्णरूप से कानून एवं सत्ता के अधीन रखने के पक्ष में था।

व्यक्तिवाद—वास्तव में हॉब्स निरंकुशतावाद का पोषक था परन्तु इस वाद को एक सर्वाधिकारी राज्य का सिद्धांत नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसने व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन घोषित किया है और कहा है कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की सुरक्षा है। इस तरह हॉब्स पहला विचारक है जिसने व्यक्ति के जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि सिद्ध किया और यह कहा कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के इस अधिकार की रक्षा करने के लिए हुई है। अतः हॉब्स निरंकुशतावाद की पोषक होने के साथ-साथ आन्तरिक रूप में व्यक्तिवादी भी था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सेबाइन का कथन है कि, “संप्रभु की निरंकुश सत्ता का सिद्धांत

जिसके साथ सामान्यता हॉब्स का नाम जोड़ा जाता है, वास्तव में उसके व्यक्तिवाद का आवश्यक पूरक था।” प्राकृतिक अवस्था में व्याप्त अराजकता की स्थिति जिससे की मनुष्य का जीवन निरंतर कष्टमय बना रहता था, का अंत एक सुदृढ़ और निरंकुश सत्ता के द्वारा ही किया जा सकता है, इसलिए वह पूर्णतया व्यक्ति को राज्य की निरंकुशता के अधीन कर देता है। लेकिन यह अधीनता राज्य के हितों को साधने के लिए नहीं वरन् व्यक्ति के हित-साधन के लिए है। मैक्सी के शब्दों में, “हॉब्स का लेवियाथन केवल संप्रभुता के सिद्धांत का और राज्य को एक साधन के रूप में मानने का ग्रंथ नहीं है, वह व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक है।”

इस प्रकार हॉब्स की सत्ता व राज्य मानव हेतु और उसका निर्माण लोगों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया और जो निरंकुश सत्ता उसके द्वारा उसे प्रदान की गई है उसका उद्देश्य व्यक्तिगत सुरक्षा की प्राप्ति है, क्योंकि हॉब्स यह स्पष्ट कहता है कि अगर संप्रभु सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ हो तो नागरिक उसके प्रति अपनी राजभक्ति और निष्ठा को समाप्त कर उसे सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम नयी सत्ता को सौंप सकते हैं।

हॉब्स का निरंकुशवाद में लोचकता भी थी। लोग कानून के संरक्षण में स्वतंत्रता को व्यवहार में लाते हैं इन्होंने विधियों का उद्देश्य प्रजाजन के संपूर्ण कार्यों पर रोक लगाना नहीं है बल्कि केवल “उनका निर्देशन करना एवं उन्हें इस तरह रखना है कि वे अपनी अनियंत्रित इच्छाओं, जल्दबाजी अथवा अविवेक के कारण स्वयं को ही आघात न पहुँचा लें। विधि उस बाड़े के समान है जिसे यात्रियों को रोकने के लिए नहीं प्रत्युत सन्मार्ग पर रखने के लिए खड़ा किया जाता है।” अतः हॉब्स ने निरंकुश सत्ता का समर्थन मानव के भय हेतु किया है और इसलिए उसके संबंध में यह कहना उचित है कि वह निरंकुशतावादी होते हुए भी पूर्णतः व्यक्तिवादी है। डनिंग ने उसकी इस विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि “उसके सिद्धांत में राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी उसका मूलाधार पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी है।”

हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना—हॉब्स के द्वारा रचित ग्रन्थ ‘लेवियाथन’ के विषय में क्लैरैण्डन ने अपना विचार इस प्रकार प्रस्तुत किया है “मैंने कभी कोई पुस्तक ऐसी नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।” हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की विभिन्न आलोचना हुई जो निम्नलिखित है—

(1) मानव स्वभाव की आलोचना—हॉब्स ने मानव के एकाकी पक्ष का चित्रण किया है, जहाँ मानव स्वार्थी, झगड़ालू है उसमें आसुरी प्रवृत्ति है वहाँ उसमें प्रेम, दया, सहानुभूति, सामाजिकता आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं। यदि मानव सिर्फ झगड़ालू होता है तो वह अब तक लड़-झगड़ कर समाप्त हो गया होता।

(2) प्राकृतिक अवस्था की आलोचना—हॉब्स ने जो प्राकृतिक अवस्था का चित्रण किया है वह यथात न होकर काल्पनिक है। इसका इतिहास में प्रमाण नहीं मिलता है। यदि सर्वोत्तम की विजय का सिद्धांत समाज में प्रचलित रहता तो सिर्फ शक्तिशाली ही जिन्दा रहते। मनुष्य प्राकृतिक रूप से समूह बनाकर रहने वाला प्राणी है वह अकेला जीवित नहीं रह सकता है।

(3) समझौता अतार्किक और असंगत—अशिक्षित लोग ने कैसे इस बात को जाना कि समझौते द्वारा राज्य बनाया जाए तो हमारी समस्याएँ हल हो जायेंगी, जबकि उस समय तक राज्य का नाम भी नहीं था। जंगली मानव का अचानक सामाजिक बनना और उसकी प्रवृत्ति का समझौतावादी होना अतार्किक है। वॉहन ने ठीक लिखा है कि, “जिस प्रकार एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता, उसी प्रकार एक रक्त पिपासु व्यक्ति जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में किया है, शांतिप्रिय श्रमिक नहीं बन सकता।” हॉब्स का मानना है कि मनुष्यों ने अपने सारे अधिकार ‘लेवियाथन’ को प्रदान कर दिये जो समझौते का पक्ष नहीं था। फिर भी उसे असीमित सत्ता सौंपी गयी जो जनता के प्रति उदासीन थी। वह बदले में व्यक्तियों को कुछ भी नहीं देता, यह असंगत लगता है। यह समझौता समझौते की भावना के स्थान पर समर्पण की भावना प्रदर्शित करता है।

(4) समझौता एकपक्षीय नहीं हो सकता—थॉमस हॉब्स ने यह स्पष्ट किया था कि व्यक्तियों ने समझौता करके अपने अधिकार को संप्रभु को सौंप दिये और संप्रभु समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ, गलत है, क्योंकि समझौता सदैव दो पक्षों में होता है।

(5) समझौते का आधार उचित नहीं—हॉब्स ने यह माना कि मानव ने स्वार्थ और अराजकता के भय से समझौता किया। राज्य जैसी उच्च संस्था के लिए ये आधार अनुचित है। राज्य का आधार अनुमति, सद्भावना, सहयोग, सामाजिक हित की भावना स्पष्ट करता है।

(6) राज्य का कार्य पुलिस राज्य तक ही सीमित नहीं—हॉब्स के शब्दों में राज्य के प्रमुख कार्य आंतरिक अशांति और बाह्य आक्रमण से देश को बचाना है तथा राज्य का नैतिक, भौतिक, शिक्षा और संस्कृति के विकास से कोई लेना-देना

नहीं है। इस सन्दर्भ में गूच महोदय ने लिखा है कि 'लेवियाथन' केवल अति मानवीय आकार का पुलिसमैन है जो अपने हाथ में दण्ड लिए है.....उसका राज्य अनिवार्य बुराई है, दबाव का यंत्र है स्वतंत्र विकासोन्मुख सभ्यता का अपरिहार्य साधन नहीं है।

(7) स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन—हॉब्स की निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन अत्यधिक भयंकर है क्योंकि शासक पर कोई नियंत्रण न होने से जनता की स्वतंत्रता जीवन, सम्पत्ति, अधिकार कुछ भी सुरक्षित नहीं रह सकते हैं। यह समझ में नहीं आता कि व्यक्तियों ने स्वयं इसे कैसे स्वीकार कर लिया? हॉब्स की आलोचना करते हुए लॉक महोदय ने यह लिखा है कि, "हॉब्स हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि "मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली बिल्लियों और लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिए शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।"

(8) राज्य तथा सरकार में समता—हॉब्स ने राज्य और सरकार दोनों में कोई भेद स्पष्ट नहीं किया है। उसने राज्य के साथ-साथ सरकार के प्रति विद्रोह को भी अनुचित माना है। विलोबी ने लिखा है कि, "राज्य और सरकार में अंतर न मानना हॉब्स की सबसे बड़ी भूल है।"

(9) जनता द्वारा आलोचना—हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना जनता द्वारा भी किया गया है, क्योंकि इसमें जनता के अधिकारों को संप्रभु की इच्छा पर छोड़ दिया गया था। लॉस्की के शब्दों में, "हॉब्स ने अधिकारों का जो कानूनी दृष्टिकोण पेश किया है, वह राजनीतिक दर्शन के लिए अपर्याप्त है।"

(10) पादरियों द्वारा आलोचना—सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना पादरियों द्वारा भी किया गया, क्योंकि इसमें राज्य को दैवी संस्था स्वीकार न करके समझौते द्वारा निर्मित संस्था माना गया।

11

जॉन लॉक

जॉन लॉक को राजनैतिक उदारवाद का वास्तविक जन्मदाता माना जाता है, क्योंकि उसने अपने दर्शन में स्वतंत्रता को शासन के सर्वोच्च लक्ष्य का स्थान प्रदान किया। उसके द्वारा सामाजिक समझौता सिद्धान्त की सम्पूर्ण ब्यूह रचना मानवीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को ध्यान में रख कर ही की गई। लॉक ने लिखा है प्राकृतिक अवस्था में राज्य की उत्पत्ति से पूर्व व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्राप्त थे, जो राज्य की स्थापना के बाद भी पूर्णतया सुरक्षित रहे। लॉक के अनुसार व्यक्ति के कुछ अधिकार जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार उसके प्राकृतिक अधिकार हैं, जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता और इन अधिकारों की रक्षा करने के लिए ही राज्य की उत्पत्ति हुई है। लॉक ने लिखा है कि यदि राज्य इन अधिकारों की रक्षा करने में असफल होता है या उनका उल्लंघन करता है, तो राज्य के विरुद्ध क्रान्ति की जा सकती है शासक के द्वारा शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके इसलिए लॉक ने शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया। वह कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को बिल्कुल अलग रखना चाहता था, क्योंकि उसका विचार था कि दोनों शक्तियां एक ही स्थान पर केन्द्रित होने की स्वतन्त्रता को खतरा हो सकता है।

इस प्रकार जॉन लॉक एक प्रमुख उदारवादी थे, क्योंकि उसके दर्शन में व्यक्ति उसके महत्त्व हित चिन्तन को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में वाहन लिखा है कि लॉक के राज्यदर्शन में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति

के इर्द-गिर्द घूमती है, प्रत्येक नियम का उद्देश्य केवल व्यक्ति की सर्वोच्चता की रक्षा करना है।

लॉक के इन विचारों का अन्य देशों पर भी काफी प्रभाव पड़ा। अमेरिका में टामस पेन तथा मैडीसन ने भी उदारवादी विचारों का समर्थन तथा प्रतिपादन किया। फ्रांस में रूसो-वाल्तेयर तथा माण्टेस्क्यू ने राज्य के दैवी अधिकारों का खण्डन किया और व्यक्ति के अधिकारों पर विशेष बल दिया। रूसो ने कहा कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है। अमेरिकन 1776 तथा फ्रांसीसी 1789 क्रान्तियों ने भी निरंकुश राजतंत्र की जड़ें हिला दी और स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र की नींव को मजबूत किया।

जीवन वृत्त

प्रख्यात ब्रिटिश शिक्षा शास्त्री जॉन लॉक का नाम इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं। जॉन-लॉक अनुभववादी शिक्षा प्रणाली के सृजनहार माने हैं। वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश शिक्षाशास्त्रियों ने 17वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जॉन-लॉक के शिक्षा संबंधी विचारों का पुरजोर समर्थन किया है। महात्मा गांधी ने भी अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के उपरान्त जॉन-लॉक के अनुभव पर आधारित मतों की पुष्टि की। वास्तविकता तो यह है कि बुनियादी शिक्षा का मुख्य आधार स्व-अनुभूति एवं जीवनगत अनुभव है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा में भी वास्तविक अनुभव की प्रधानता लॉक के सिद्धान्त की सार्थकता को ही प्रमाणित करती है। मॉण्टेसरी डिवी, स्पेंसर आदि के द्वारा भी शिक्षा में अनुभव पर बल दिया गया है।

लॉक जन्म से अँगरेज था। उसका जन्म इंग्लैंड में सन् 1632 ई. में हुआ था। उसके पिता विद्या-व्यसनी थे। वे अध्ययन और चिंतन में अधिक रुचि रखते थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र लॉक विद्वान एवं प्रभावशाली व्यक्ति बने। लॉक की शिक्षा का उचित प्रबंध किया। विद्यालय की शिक्षा उसने वेस्टमिंस्टर विद्यालय में प्राप्त की। बीस वर्ष की आयु में उच्च अध्ययन के लिए वह ऑक्सफोर्ड के क्राइस्टचर्च महाविद्यालय में प्रवेश ले लिया। यहाँ से उसने एम. ए. की उपाधि प्राप्त की। नीतिशास्त्र में पूर्ण ज्ञान हासिल करने के साथ उसने लैटिन व ग्रीक भाषा पर भी अधिकार प्राप्त किया। वहीं पर वे उक्त विषयों के ट्यूटर भी नियुक्त हुए। इसी समय में उन्होंने चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया। इससे उनकी प्रबल ज्ञान-पिपासा के बारे में जानकार हासिल होती है।

जॉन लॉक बहुत लम्बे समय तक ऑक्सफोर्ड से जुड़े रहे। वास्तव में वह ऑक्सफोर्ड में सन् 1667 ई. तक बने रहे। यहाँ के जीवन में वह अपने महाविद्यालय-शिक्षा से लेकर प्राध्यापक पद कार्य करने तक बने रहे। सन् 1666 ई. में उनका अन्तरंग परिचय लॉर्ड एश्ले से हो गया। ये एश्ले महोदय बाद में इंग्लैंड की सरकार में लार्ड चॉसलर पद पर नियुक्त हुए। एश्ले महोदय ने उच्च पद पर आसीन होते ही लॉक को अपना निजी सचिव नियुक्त किया। चिकित्साशास्त्र के शिक्षा ने उनकी बड़ी मदद की। वह एश्ले महोदय का पारिवारिक चिकित्सक भी हो गए। यहाँ का जीवन उनके लिए अनुभव तथा सुख का था। इस परिवार में रहकर उन्हें शिक्षण का जो अमूल्य अनुभव मिला, उसके आधार पर ही अपने शिक्षा सिद्धान्तों का विकास करने में उसे आशातीत सफलता मिली। उन्होंने एश्ले के किशोर पुत्र व बाद में शिशु पौत्र के अध्यापक के रूप में भी बहुत दिनों तक कार्य किया। इससे उसे शिक्षण का प्रत्यक्ष तथा प्रभावकारी अनुभव प्राप्त हुआ।

उक्त पदों पर निरन्तर कार्य करते हुए लॉक रोग के आगोश में आ गए। अपनी चिकित्सा के लिए वह फ्रांस चला गया। वहाँ वह चार वर्षों तक रहा। यहाँ पर भी उनका अध्ययन चलता रहा। यहाँ से लौटने के बाद वह फिर एश्ले महोदय के पास आ गया, लेकिन 1685 ई. में एश्ले का सत्ता से पतन हो गया। वे भागकर हॉलैंड चले गए। लॉक भी उनके पीछे हॉलैंड जा पहुँचे। चार वर्षों तक विदेश प्रवास के बाद इंग्लैंड में सन् 1688 ई. में क्रांति हुई और लॉक फिर इंग्लैंड लौट आए। यहाँ उन्हें बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। वे अनेक उच्च पदों पर अपने जीवन के अंतिम समय तक काम करते रहे। हॉलैंड प्रवास के चार वर्षों से भी कम समय में लॉक ने कई रचनाओं का सृजन किया। सृजनात्मक दृष्टि से लॉक के जीवन का यह स्वर्णकाल कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तकों में धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सहनशीलता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने अपनी पुस्तकों के द्वारा राजा के संबंध में ईश्वरवादी मान्यता का खंडन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने संसद के राजा को राजा से श्रेष्ठ घोषित किया। राजनीति में सहनशीलता एवं स्थिरता का उन्होंने जीवन और आचार की पवित्रता पर उन्होंने अधिक बल दिया। शिक्षा के बारे में अपने विचार जाहिर करते हुए उन्होंने स्व-अनुभव पर सबसे अधिक बल दिया। इस तरह उन्होंने राजनीति, समाजनीति दर्शन एवं शिक्षाशास्त्री सभी पर अपने गहरे और प्रभावकारी विचार प्रस्तुत किए।

इंग्लैंड में उच्चतम प्रतिष्ठा के पद पर आसीन रहते हुए जॉन लॉक तत्कालीन इंग्लैंड का सर्वश्रेष्ठ विचारक दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री थे। वह अपने इस रूप में आज भी पूज्य हैं।

लॉक की मुख्य रचनाएँ

1. लोक शासन (पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन)।
2. सहनशीलता पर पत्र (लेटर ऑन टॉलरेंस)।
3. अवबोध का आचरण (कॉन्डक्ट ऑफ द अण्डरस्टैंडिंग)।
4. अध्ययन (ऑफ स्टडी)।
5. शिक्षा संबंधी कतिपय विचार (सम थॉट्स कन्सर्निंग एजुकेशन)।
6. भद्र पुरुष के लिए अध्ययन संबंधी कुछ विचार (सम थॉट्स कन्सर्निंग रीडिंग एण्ड स्टडी फॉर ए जेंटिलमैन)।
7. युवजन के लिए आचार-संहिता (इंस्ट्रक्शन्स फॉर द कन्डक्ट ऑफ द यंग जेंटिलमैन)।

जॉन लॉक के विचार

दार्शनिक विचार & उनके दार्शनिक विचार 'ऐसेज कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' में स्पष्ट हैं। यह पुस्तक आधुनिक प्रयोग सिद्धवाद का आधार है। 'बिना विचारों के ज्ञान असंभव है, परंतु विचार न सत्य है न असत्य, वे केवल आकृति रूप हैं। सत्य अथवा असत्य विचार का दृढ़तापूर्वक स्वीकार अथवा अस्वीकार करना निषिद्ध है। विचार के पूर्व मानव मस्तिष्क कोरे कागज के समान है जिसपर अनुभव समस्त विचारों को लिखता है।'

वे ज्ञान को चार प्रकार का बताते हैं—

1. विश्लेषणात्मक जहाँ हम विचारों की भिन्नता तथा समानता का पता लगाते हैं। जैसे काला सफेद नहीं है।
2. गणित संबंधी - जैसे दो त्रिकोण जो अनुरूप हैं और जो समानांतर रेखाओं के बीच हैं वे परस्पर समान होते हैं।
3. भौतिक विज्ञान के आधार पर - जहाँ हम यह निश्चय करते हैं कि एक गुण का दूसरे गुण के साथ सहअस्तित्व है अथवा नहीं। जैसे आग ठंडी नहीं है।
4. आत्मा और परमात्मा का ज्ञान वास्तविक है।

धार्मिक विचार & उनके धार्मिक विचार उनके चार पत्रों 'लेटर्स कंसर्निंग टालरेंशन' द्वारा व्यक्त हैं। वे धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करते थे, यदि इसके द्वारा शिवम् का विकास होता हो, किंतु वे नास्तिकवाद के समर्थक न थे।

सामाजिक एवं राजनीतिक विचार & उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार उनकी प्रख्यात पुस्तक 'टू ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट' (1690) में व्यक्त किए गए हैं।

उनके समय में प्रजातंत्र एवं सहनशीलता के सिद्धांत राजा के दैवी अधिकारों से टकरा रहे थे। राज्य संविदा का परिणाम था। मनुष्य के प्राकृतिक अवस्था से राज्य तथा समाज की व्यवस्था में आने से नैसर्गिक अधिकारों का अपहरण नहीं हुआ। इन नैसर्गिक अधिकारों में संपत्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार भी सम्मिलित है। जनसमुदाय को सार्वजनिक भलाई के लिए किसी भी प्रकार से, स्वशासन करने का अधिकार है। सरकार को किसी के उन धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है जो समाज के अनुकूल हैं। ये विचार उनके राजनीतिक दर्शन की जड़ हैं। समाज संविदा पर आधारित है और संविदा की शर्तों में, परिस्थिति के अनुसार जनता की सर्वोच्च इच्छा द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है। समाज के शासकों की सत्ता निरंकुश नहीं है अपितु वह एक धरोहर है। शासक उसका अधिकारी तभी तक है जब तक कि वह अपने उत्तरदायित्व को निभाता है। विद्रोह करने की स्वाधीनता के अधिकार का लॉक ने समर्थन किया जो अमरीका, भारत तथा अन्य उपनिवेशों के स्वतंत्रता संग्राम का प्रेरक रहा। इस प्रकार उनका प्रशासन के सिद्धांतों का विचार आज तक सुदृढ़ और प्रजातंत्र की आधारशिला बना हुआ है।

जॉन लॉक & उदारवाद की आत्मा

सत्रहवीं सदी के समझौतावादी विचारक जॉन लॉक की विचारधारा में उदारवाद के दोनों ही रूपों पुरातन उदारवाद और नवीन उदारवाद के दर्शन हैं। उदारवाद के समर्थकों में निसन्देह वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। लॉक को उदारवाद की आत्मा कहा जा सकता है क्योंकि उसने अपने दर्शन में स्वतन्त्रता को शासन के सर्वोच्च लक्ष्य का स्थान प्रदान किया है। शासन को व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हुए भी लॉक इस बात को कभी नहीं भूला है कि शासकीय शक्ति की मर्यादाएं निर्धारित की जानी चाहिए ताकि इस शक्ति का प्रयोग मानवीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध न हो सके। उसके द्वारा सामाजिक समझौता सिद्धान्त की सम्पूर्ण ब्यूह रचना मानवीय स्वतन्त्रता के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही की गयी है। डनिंग के शब्दों में, हॉब्स और पूफेण्डोर्फ के द्वारा सामाजिक समझौते के आधार पर राजनीतिक संघ के निर्माण की पद्धति शासकीय सत्ता की असीमितता का प्रतिपादन करने के लिए अपनायी गयी है, लेकिन लॉक इस पद्धति के आधार पर शासकीय सत्ता को सीमित करने में ही प्रयत्नशील रहा है।

लॉक की धारणा है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्राप्त थे और राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद भी उनके ये अधिकार पूर्णतया सुरक्षित रहे। प्रो. डनिंग के शब्दों में, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सम्प्रभु

समाज के अधिकारों को ठीक वैसे ही सीमित करते हैं, जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में ये अधिकार अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को सीमित करते थे। शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके, इसलिए लॉक ने शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भी अस्थिर कर दिया है। वह व्यवस्थापिका और कार्यपालिका विभागों को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहता था, क्योंकि उसका विचार था कि दोनों शक्तियों के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

लॉक इस दृष्टि से एक प्रमुख उदारवादी है कि लॉक के दर्शन में व्यक्ति उसके महत्त्व और हित-चिन्तन को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो. वाहन का कथन है कि लॉक की प्रणालियों में प्रत्येक चीज का आधार व्यक्ति है, प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की प्रभुता को सुरक्षित रखना है।

राजनीतिक उदारवाद को उसकी एक बहुत बड़ी देन धार्मिक-सहिष्णुता का सिद्धान्त है। उसका विचार है कि व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। व्यक्ति को छूट होनी चाहिए कि वह जो धर्म चाहे, माने और चाहे जिस सम्प्रदाय का सदस्य रहे। वस्तुतः लॉक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति इतना अधिक जागरूक है कि उसके द्वारा व्यक्तियों को कुशासन के विरुद्ध विद्रोह का स्पष्ट अधिकार प्रदान किया गया है। मानवीय स्वतन्त्रता के रक्षक को उदारवाद की आत्मा का नाम ठीक ही दिया गया है।

लॉक का मूल्यांकन

लॉक का राजनीति से बहुत ही गहरा संबंध था। लॉर्ड एश्ले का निजी सचिव रहते हुए उन्होंने राजनीति का बहुत ही करीब से अध्ययन किया था। अतः राजनीति के प्रति उसका विचार बहुत ही कठोर था। उसने पाठ्यक्रम में राजनीति को सम्मिलित करने का विचार किया। इसके पीछे उसका उद्देश्य था बच्चों में प्रशासन एवं विधान के प्रति जागरूकता का विकास करना। वहाँ बच्चों को कुशल प्रबुद्ध नागरिक बनाने के लिए राजनीति को पाठ्यक्रम को एक विशेष अंग बनाने को वह पक्षपाती थे।

अंत में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि लॉक प्रधान रूप से एक उत्तम श्रेणी का दार्शनिक था। उसने अपने दार्शनिक विचारों को क्रियात्मक रूप देने के लिए शिक्षा के स्वरूप को निर्धारित करने का सफल प्रयत्न किया। राजनीति का उन्हें बहुत ही विशद् ज्ञान था। चिकित्सा विज्ञान का भी उन्हें विशेष रूप से अध्ययन किया था। इस तरह लॉक एक महान् दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री था, जिसने जीवन को पूर्ण विविधताओं में स्पष्ट किया था।

12

रूसो

जीवन परिचय

यह विश्व के महान दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारकों में से एक है। इसका पूरा नाम जीन जेक्स रूसो है। इसका जन्म 25 जून, 1712 ई. को यूरोप के जिनेवा नगर में हुआ था। अभी बालक रूसो ने दुनिया को भर आँखों से देखा भी नहीं था कि सर से माँ का ममता भरा आँचल अचानक ही उठ गया। इस स्थिति में बालक रूसो का लालन-पालन उसकी बुआ ने किया। वैसे तो पिता भी जीवित था, लेकिन वह क्रोधी व अकर्मण्य था। वह हमेशा अपने ही गोरखधंधे में फँसा रहता था। उसे बालक रूसो की देखभाल करने की फुरसत बिलकुल भी नहीं थी।

स्वस्थ सामाजिक परिवेश न मिलने के कारण रूसो की वृत्ति बिगड़ती गयी। इसी बीच उसे गंदे और अश्लील साहित्य पढ़ने की बुरी लत पड़ गई। इनको पढ़ने से रूसो के व्यवहार में अनेक दोषों ने प्रवेश कर लिया। झूठ बोलना तथा चोरी करना उसके लिए साधारण बात हो गई। सच्चाई यह थी कि ऐसे कार्यों को करने में उसे खुशी मिलने लगी। लेकिन कुमार्ग में भी जैसे कभी-कभी नई सुबह की किरणें प्रस्फुटित हो जाती हैं, उसी तरह अश्लील कथा-साहित्य के अध्ययन-क्रम में दो-चार सद्ग्रंथों को पढ़ने का भी सुअवसर मिला। ये ग्रंथ उसके दादा द्वारा संगृहीत थे। इनमें प्रमुख थीं—‘महापुरुषों के जीवन चरित्र’ तथा ‘ईसाई धर्म एवं साम्राज्य का इतिहास’। ये पुस्तकें रूसो को जीवनपर्यन्त प्रभावित करती रहीं।

माता का देहान्त और पिता के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से बालक रूसो को समय से प्रारंभिक शिक्षा नहीं मिल सकी। लेकिन रूसो ने स्वाध्याय के माध्यम से अपना अध्ययन जारी रखा। अपने दादा द्वारा जमा करके रखी गई धार्मिक प्राचीन और लैटिन साहित्य का रूसो ने कम ही उम्र में अध्ययन कर लिया। लेकिन थोड़े ही दिनों में उसका मन प्रचलित दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति से विद्रोह कर उठा तथा दो वर्षों के बाद लगातार चलने वाली शिक्षा का सूत्र बीच में टूट गया।

जब रूसो आठ वर्ष का था तब उसे अपने मामा के साथ रहने का अवसर मिला था। गाँव का नाम 'बोसी' था। वैसे रूसो वहाँ के विद्यालय में भी जाता था, लेकिन उस गाँव के प्राकृतिक वातावरण ने उसके मन-प्राणों को आकर्षित कर लिया। प्रकृति में उसे ममतामयी माँ के प्रेम का दर्शन होता था। उसके परेशान तथा दुःखी मन को प्रकृति की गोद में बहुत सुकून मिलने लगा। बोसी गाँव में ही एक बार झूठे आरोप में दण्ड मिला। उसका मन विक्षोभ हो उठा। यहीं से वह घोर प्रकृतिवादी हो गया। उसको विश्वास हो गया कि नियमबद्धता, दण्ड, उपदेश तथा बाह्यआडम्बर मनुष्य को प्रकृति से दूर ले जाते हैं व परिणामस्वरूप मनुष्य के स्वाभाविक पवित्र मन में बुराई पैदा हो जाती है एवं वह कृत्रिम तथा छली हो जाता है।

रूसो बोसी से विक्षोभित होकर पुनः जिनेवा वापस आ गया। यहाँ आने पर उसके जीवन में नियमितता एवं व्यवस्थित कार्यक्रम की कमी ही रही। निरुद्देश्य जीवन-क्रम को लेकर चलनेवाला रूसो स्वभावतः ही अशांत हो गया। पढ़ना-लिखना छूट गया, बुरी आदतों ने दामन पकड़ लिया तथा सामाजिक दोषों ने उसे मानसिक रूप से उद्विग्न कर दिया। इसी निरुद्देश्यता के बीच उसने एक काश्तकार के यहाँ नौकरी कर ली। मालिक का व्यवहार बहुत ही कठोर व अमानवीय था। फलतः रूसो और भी पतन की ओर बढ़ता गया। कुछ दुश्चरित्र व्यक्तियों की कुसंगति में भी वह पड़ गए। आखिर में परेशान होकर उन्होंने नौकरी भी छोड़ दी तथा प्रायः तीन वर्षों तक सेवाय प्रांत में निरुद्देश्य घूमता रहा। अपने इस घुमक्कड़ी जीवन में वह प्रकृति से सदा ही ममता, प्रेरणा व सहानुभूति पाते रहे। इसी क्रम में वह साधारण ग्रामीण जीवन के संपर्क में भी आये। ग्रामीण जीवन की सरलता, पवित्रता व निश्छलता ने उसके मन को बहुत ही प्रभावित किया। नगर के कृत्रिम जीवन के प्रति उसके मन में और भी ज्यादा नफरत भर गई।

हालांकि रूसो के जीवन में नकारात्मक दोषों ने अपना स्थान ग्रहण कर लिया था, लेकिन उन्नीस वर्ष की आयु में उन्होंने एक दुश्चरित्र तथा बदनाम लड़की 'वारेन्स' के साथ विवाह कर लिया। वारेन्स बहुत ज्यादा सुंदर थी और नवयुवक रूसो

को उसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। रूसो वारेन्स के साथ सेवाय में रहा और संगीत, दर्शन, समाजशास्त्र तथा अन्य विषयों का अध्ययन करता रहा। पत्नी झगड़ा लू थी, इसलिए कुछ ही वर्षों में उससे तलाक लेकर वह पेरिस चला गया। यहाँ भी वह एक दुश्चरित्र तथा बदनाम लड़की थेरेसा के जाल में फँस गया। जिम्मेदारी का सबसे पहले अनुभव उसको यहीं हुआ। जीविकोपार्जन की चिंता बढ़ी। फलतः अनेक छोटी-छोटी नौकरियाँ छोड़ता रहा। अब तक संगीत सिखाने तथा गीत-रचना करने में उनकी प्रसिद्धि पेरिस में फैल गया। इस कार्य की उन्होंने अपने जीविकोपार्जन का साधन भी बनाया।

रूसो ने सोलह से छत्तीस की आयु अवारों की तरह घूमकर बितायी। इसी समय में उनके अध्ययन एवं प्रकृति-निरीक्षण का कार्य भी चलता रहा। आखिर में वह लेखन-कार्य में लग गए। समाज-सुधार का कार्य भी उन्होंने अपने हाथ में लिया। उनका निबंध 'द प्रोग्रेस ऑफ आर्ट्स एण्ड सायन्स' (1750 ई.) को पुरस्कृत किया गया। इसके बाद में तो रूसो की जीवन-धारा ही बदल गई। उनके कई क्रांतिकारी निबंध व ग्रंथ प्रकाशित हुए। इसी क्रम में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशित होते ही रूसो शासन का क्रोध का कारण बन गया और अपनी सुरक्षा के लिए पेरिस छोड़कर जर्मनी चले गए। वैसे भी ह्यूम के आमंत्रण पर वह इंग्लैंड भी गया। लेकिन कुछ ही दिनों बाद उससे नहीं पटने के कारण 1770 ई. में पेरिस लौट आया। 'एमील' शिक्षादर्शन पर उनकी अनुपम पुस्तक है।

अपने अंतिम समय में यह महामानव एक बार फिर दुःख भरी स्थिति में पहुँच गया। वह संगीत की सहायता से अपनी रोटी कमाता रहा। आखिरी दिन बड़े दुःख में कटे। दलित प्रताड़ित एवं दुःखी मानवता को जागरण का नव-संदेश देनेवाला क्रांतिदूत रूसो एक सामान्य व्यक्ति की तरह 1778 ई. में इस संसार से सदा के लिए विदा हो गया।

आज भी मानव समाज और विशेषकर शिक्षा-जगत् रूसो के प्रकाशपूर्ण विचारों से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

रूसो की प्रमुख रचनाएँ

रूसो की प्रमुख रचनाएँ निम्नवत हैं—

1. प्रोग्रेस ऑफ आर्ट्स एण्ड सायन्स,
2. सोशल इनइक्विलिटी,

3. सोशल कॉन्ट्रैक्ट,
4. एमील।

रूसो के उपरोक्त जीवन यात्रा से यह स्पष्ट हो चुका है कि उसका जीवन-काल अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर उत्तरार्ध तक फैला हुआ था। यह समय यूरोप और विशेषकर फ्रांस के समाज-जीवन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर पूरी अठारहवीं शताब्दी तक सभी यूरोप कृत्रिमताओं, अंधविश्वासों, अत्याचारों, घोर गरीबी, गलत परंपराओं तथा चारित्रिक पतन का खेल का मैदान बना हुआ था। मानवीय मूल्य तथा सामाजिक जागरण का हमेशा खत्म मानवता घोर पतन के गर्त में पड़ी कराह रही थी।

यूरोप में धार्मिक पोगापंथी एवं वितंडावादी परम्पराएं प्रबल थी। गिरजाघर और पादरी धर्म के सभी अधिकार ठेकेदार को मिलने लगे थे। धर्म के सिद्धान्त गौण पड़ गए थे व उनकी जगह बाह्यआडम्बर, रूढ़िवादी तथा भोंडी मान्यताओं ने ले लिया था। राजाओं एवं धनियों को धर्म-नेताओं ने सभी तरह के बुरे कर्मों को करने की छूट दे रखी थी व गरीब एवं श्रमजीवी वर्ग के लोगों को अपने चंगुल में फँसाना उनका रोजाना का कर्तव्य हो गया था। गिरजाघर सभी अत्याचार, अनैतिक कर्म तथा व्यभिचार के अड्डे हो गए थे। राजा धनीवर्ग तथा पादरी दुर्व्यसनी, भ्रष्टाचारी, विलासी अत्याचारी बनते जा रहे थे। स्वभावतः ही दलित वर्ग एवं बुद्धिजीवी-वर्ग में इस स्थिति के विरुद्ध बगावत की अग्नि सुलगने लगी थी।

इतना ही नहीं राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र की स्थिति दिन प्रतिदिन गिरती जा रही थी। यूरोपीय देशों में निरंकुश राजतंत्र का बोलबाला था। राजा ईश्वर का एकास्वरूप माना जाता था। वह निरंकुश, अत्याचारी, स्वेच्छाचारी तथा आरामतलब हो गया था। अपने फायदे के लिए कर लगाना तथा अत्याचार करना उनका रोजाना का कार्य हो गया था। दूसरी ओर सामान्य जनता की दशा दिन-प्रतिदिन और भी दयनीय होती जा रही थी। समाज स्पष्टतः दो वर्गों में बँट गया था। धनी, जो शोषक थे और गरीब जो शोषित थे। एक तरफ भोग-विलासिता का हिमालय खड़ा था और दूसरी ओर सामान्य जनता भूख एवं दरिद्रता के प्रशांत सागर में डूबती और तैरती जा रही थी। समाज छिन्न-भिन्न एवं दुःखी हो गया था। सामाजिक विद्रोह की अग्नि सुलगने लगी थी।

शैक्षणिक क्षेत्र में पूर्ण अराजकता तथा निरंकुशता व्याप्त थी। विद्यालय तो बच्चों के कसाईखाने थे। वहाँ बच्चों को निर्दयी रूप से शारीरिक दंड दिए जाते थे। उन्हें असहनीय यातनाएँ दी जाती थीं। मनोवैज्ञानिक व्यवहार की बात तो स्वप्नवत्

थी। शिक्षक डिक्टेटर था तथा उसके वाक्य ब्रह्मवाक्य थे। शिक्षण-पद्धति विद्यालय-संगठन व पाठ्यक्रम सभी दोषपूर्ण तथा अनुपयोगी थे। आर्थिक, वैचारिक एवं स्थिति भी बहुत खराब थी।

सामान्य रूप से यूरोपीय समाज की अन्दरूनी स्थिति तत्कालीन समय में काफी दयनीय स्थिति में थी—

1. शोषण तथा उत्पीड़न अपनी चरम-सीमा पर था।
2. निरंकुश राजतंत्र के भार से समाज कराह रहा था।
3. गरीबी तथा भुखमरी समाज को खाए जा रही थी।
4. मजदूर-वर्ग कर्ज के बोझ से दबता चला जा रहा था।
5. मध्यवर्ग की जनता कर तथा कर्ज दोनों के बोझ से टूटती जा रही थी।
6. विचार-अभिव्यक्ति व भाषण की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया।
7. गिरजाघरों का धार्मिक आधिपत्य समाज पर था तथा वे सभी प्रकार के भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए थे।
8. पादरी का पद धन देकर खरीदा जा सकता था जिसे अमीर वर्ग के व्यक्ति ही खरीद सकते थे। अतः स्वाभाविक रूप से वे अमीरों का पक्ष लेते थे और गरीबों का शोषण करते थे।

स्वभावतः ही समाज व्यवस्था व मानवीय जीवन-क्रम के विरुद्ध जनता में आवाज सुनाई पड़ने लगी। सबसे पहले कुलीन तथा बुद्धिजीवियों ने इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाना शुरू किया। बौद्धिक विरोध में सबसे पहले प्रखर स्वर था वाल्टेयर का। उसने वस्तुतः वैचारिक क्रांति का मूलमंत्र दिया। रूसो उक्त दयनीय एवं दमघोंटू स्थिति का प्रत्यक्षदर्शी तथा भुक्तभोगी था। अतः उसने वैचारिक क्रांति को क्रियात्मक रूप दिया। रूसो ने क्रांति को निडर बनकर नेतृत्व प्रदान किया। रूसो के स्वर में जितना असर था, उसकी कलम में उतनी प्रखर अग्नि थी और उसके विचार में अप्रतिम बिजली थी। वस्तुतः रूसो की कलम और विचार दोनों ने मिलकर दलित एवं प्रताड़ित जनता पर निर्भीक प्रभाव डालना शुरू कर दिया। यद्यपि रूसो की मृत्यु फ्रांस की राज्यक्रांति के कुछ वर्ष पूर्व ही हो गई, फिर भी सर्वविदित है कि उसकी नींव में रूसो की प्रशक्त आत्मा मुखर थी।

रूसो का जीवन-दर्शन

रूसो की प्रसिद्धि प्रकृतिवादी सिद्धान्तों के कारण है। समाज की तत्कालीन परिस्थितियों ने उसके हृदय और मन को गहरी चोट पहुँचाई थी। इसीलिए प्रकृति उसके

दर्शन का केन्द्र बन गई। अपनी 'एमील' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में शिक्षा संबंधी अपने विचारों की अभिव्यक्ति देते हुए उसने कहा भी है—“प्रकृति के हाथों से प्राप्त होने वाली समस्त वस्तुएँ अच्छी हैं, लेकिन मानव के हाथ में पड़कर सभी वस्तु पतित हो जाती है।” समाज ने रूसो को हमेशा ठुकराया, प्रताड़ित किया, उसकी प्रतिभा को कभी नहीं पहचाना। फलतः वह वैचारिक रूप से व्यक्तिवादी हो गया और यही कारण था कि समाज से दूर प्रकृति की गोद में उसने बालक 'एमिल' के शिक्षा की व्यवस्था की। वैसे समाज की नव-संरचना, धर्म-सुधार तथा क्रांतिनिष्ठ राजनीति का वह पोषक तथा दृढ़ समर्थक था। उसके जीवन-दर्शन के मुख्य तत्त्वों की नीचे व्याख्या की जा रही है—

(1) **धर्म-दर्शन** रूसो का मानवीय मूल्यों में अटूट विश्वास था। अतः उनकी धार्मिक विचारधारा का महल मानव एवं वास्तविक धर्म के आधार पर खड़ा है। यही उसका प्राकृतिक धर्म था। इसका संबंध मानव के हृदय व स्वाभाविक भावनाओं से है। उसकी निगाह में धार्मिक आडम्बर, ढोंग खोखला है। वह मनुष्य से अलग ईश्वर को नहीं मानता था। वास्तविक रूप से ईश्वर का ही अंश तो मानव है। रूसो के प्राकृतिक धर्म में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, बुद्धि-पक्ष की नहीं। उनके विचार से आदिमानव में हृदय-पक्ष की प्रधानता थी, उनका बौद्धिक विकास उतना नहीं था। फलतः वह अधिक पवित्र, अधिक सदाचारी तथा अधिक सभ्य था।

(2) **राजनीतिक दर्शन** रूसो के राजनीतिक दर्शन ने फ्रांस की क्रान्ति में महती भूमिका निभाई थी। रूसो इस क्रान्ति का अग्रदूत माना जाता है। रूसो ने आधुनिक युग में सबसे ज्यादा जोरदार शब्दों में अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट किए। ऐसे राजनीतिक व सामाजिक विचार उनकी प्रसिद्ध '**सोशल कांट्रैक्ट**' में अंकित हैं। वह राजा को प्रजा का हित-साधक व सेवक मानता था। कर्तव्यच्युत राजा को पदच्युत करने के जन-अधिकार को उसने प्रशक्त वाणी दी। वास्तविक रूसो मानवीय स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक था। वह 'प्राकृतिक राज्य' की स्थापना में ही मानव-कल्याण का दर्शन करता था। इस राज्य के अन्तर्गत स्वाभाविक विकास सहयोग एवं स्वतंत्रता स्वतः ही प्राप्त होती है। वह व्यक्ति को समाज के अधीन रखने का पक्षपाती था, लेकिन उसके कड़े नियंत्रण में नहीं। सच तो यह है कि रूसो के राजनीति-दर्शन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य समाज-सहयोग गणतंत्र एवं स्वाभाविक विकास के सहारे 'प्राकृतिक राज्य' की स्थापना की कल्पना की गई है।

(3) **प्रकृतिवादी** प्रकृतिवादी दर्शन का प्रतिपादक रूसो अपने अंदर कटु अनुभव तथा अपार विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। अपनी शैशवावस्था से लेकर अपनी प्रौढ़ावस्था तक रूसो को पारिवारिक दुर्व्यवहार तथा सामाजिक कुरीतियों

का शिकार बनना पड़ा था। रूसो को कई सामाजिक-राजनीतिक विरोधी परिस्थितियों में गुजरना पड़ा था। इसके अलावा समाज में फैला हुआ भ्रष्टाचार, पाप, असमानता तथा गलित परंपराओं के नफरत भरे रूप को भी रूसो ने देखा, परखा तथा भोगा था। मानवीय स्वतंत्रता एवं मूल्यों की उस समय हमेशा निन्दा हो रही थी। पाप-कर्मियों, सामन्तों तथा निरंकुश राजाओं का ही समाज में बोलबाला था। विद्यालय में दया न करने वाले शिक्षकों द्वारा बच्चों की दण्ड व्यवस्था ने तो रूसो के हृदय को झकझोर कर रख दिया। फलस्वरूप रूसो के मन-प्राणों में समाज तथा समाज-व्यवस्था के विरुद्ध बगावत की आग भड़क उठी। स्वाभाविक रूप से उसे शांत, मोहक, संगतमय तथा ममतामय प्रकृति की गोद में अनन्त शांति मिली। फलतः वह महान प्रकृतिवादी विचारक बन गया। रूसो का नारा था “प्रकृति की ओर लौट चलो। प्रकृति सबसे बड़ी पोषिका तथा अध्यापिका है। समाज तो मानव को अपवित्र तथा कलंकित बना देता है।”

(4) समाज-दर्शन रूसो ने फ्रांस के शहरी और ग्रामीण समुदाय को काफी करीब से देखा। रूसो ने समाज को जिस रूप में अनुभव किया उसे अपनी किताब सोशल कान्ट्रैक्ट (सामाजिक संविदा) में प्रखर तरीके से उतार दिया। रूसो ने यह उचित ही कहा कि जनता राज्य और राजा की शक्ति का एक अनुपम साधन है, सामन्त और पादरी तो शोषक हैं। प्रकृतिवादी रूसो ने समाज में असमानता, भ्रष्टाचार तथा कारण कृत्रिम आधुनिक सभ्यता तथा धनी समुदाय को बतलाया है। वस्तुतः प्रकृतिवादी ने ही पश्चिमी राष्ट्रों के बीच सर्वप्रथम सामाजिक समानता, आर्थिक समता, मानवीय स्वतंत्रता व सहयोग के मारे की आवाज को बुलन्द किया। रूसो का समाज-दर्शन समाजवादी था। वह मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों का बहुत बड़ा अधिवक्ता था।

प्रकृतिवाद के प्रमुख सिद्धांत

रूसो के प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का वर्णन इस प्रकार है—

(1) वास्तविक एवं पूर्ण मानव का निर्माण ही साध्य रूसो प्राकृतिक विकास में अटूट विश्वास रखता था। वह इसकी मदद से वास्तविक एवं पूर्ण मानव निर्माण करना चाहता था। उसकी दृष्टि में प्रकृति स्वयं मानव तथा भौतिक वस्तुएँ मानव को पूरा एवं सच्चे विकास के सशक्त साधन हैं। रूसो प्राकृतिक विकास को मानव के बौद्धिक शारीरिक एवं नैतिक विकास के लिए जरूरी आधार मानते थे।

(2) मानवीय विकास एवं प्रगति के लिए स्वअनुभव का आधार परमावश्यक रूसो ने स्पष्ट रूप से कहा कि प्रत्यक्ष अनुभव की कमी में मानव द्वारा प्राप्त ज्ञान वस्तुतः अधूरा एवं निरर्थक है। पुस्तकों एवं व्याख्यानों द्वारा ज्ञान न तो विश्वसनीय होता है और न ही स्थायी। अतः ज्ञान को स्थायित्व प्रदान करने के लिए स्व-अनुभव का आधार बहुत ही जरूरी है। वास्तविक ज्ञान और सत्य की खोज के लिए केवल स्वानुभव आवश्यक है। विज्ञान तथा तकनीकी विषयों में तो यह सिद्धांत अक्षरशः सत्य उतरता है।

(3) प्रकृति की ओर लौट चलो रूसो के प्रकृतिवाद का मुख्य मंत्र है यह प्रसिद्ध नारा—“प्रकृति की ओर लौट चलो।” इस नारे का अर्थ है कि प्रकृति सर्वसंपन्न तथा सम्यक् है। प्रकृति की गोद में वास्तविक सुख का अनुभव हो सकता है। प्रकृति में असमानता, पापकर्म, परतंत्रता व दुराचरण की हमेशा कमी रही है। यहाँ सर्वसम्पन्नता है, इसलिए कमी व गरीबी वहाँ देखने को नहीं मिलती। भ्रष्टाचारी धार्मिक ठेकेदारी तथा निरंकुश राजसत्ता का वहाँ नामोनिशान नहीं है। इसलिए ईश्वर प्रदत्त वातावरण (प्रकृति) में सच्चे सुख का उपभोग मनुष्य कर सकता है। सच्चाई तो यह है कि मानव प्रकृतिस्थ होकर ही प्राप्त करता है। इस तरह रूसो का यह सिद्धांत नवीन बनावटी सभ्यता एवं समाज-व्यवस्था का कट्टर विरोधी है।

(4) दकियानूस सामाजिक परंपराओं का प्रशस्त विरोध रूसो ने फ्रांस की सामाजिक रूढ़िवादिता को सिर्फ देखा ही नहीं था, बल्कि जीवन में उसके कठोर दंश का अनुभव भी किया था। दकियानूस सामाजिक परंपराओं के प्रहार को उसने जीवनपर्यंत भोगा था। इसलिए उनकी कुरूपता एवं वीभत्सता से वह पूरी तरह परिचित था। उसने कोटि-कोटि मानव को सामाजिक रूढ़िवादिता के निर्मम प्रहार से तड़प-तड़प कर प्राण देते देखा था। रूसो का हृदय हाहाकार कर उठा और उसकी बुलंद आवाज सामाजिक रूढ़िवादिता के विरुद्ध फ्रांस के आकाश में गूँज उठी। फ्रांस की राज्यक्रांति इसी विरोध की देन थी।

(5) मानव का स्वाभाविक विकास सर्वोपरि जैसे प्रकृति में स्वाभाविक वातावरण पाकर पेड़-पौधे सुविकसित होते हैं। उसी प्रकार मानव के सम्यक् विकास के लिए स्वाभाविक परिवेश होना जरूरी है। बालक की जिज्ञासा की शांति यदि प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा हो तो उसका स्वाभाविक विकास संभव हो सकेगा। अतः रूसो ने मानव के नियंत्रित विकास की भर्त्सना की तथा स्वाभाविक पूर्ण विकास को आवश्यक बताया।

रूसो ने प्रकृति का वर्णन व्यापक अर्थों में किया है। उसकी 'प्रकृति' शुद्ध प्रकृति, सामाजिक वातावरण तथा मानवीय क्रिया-कलाप सभी को अपने साथ लेकर चलती है। मानव द्वारा निर्मित क्रिया औद्योगिक परिवेश भी प्रकृति ही है। इस तरह रूसो की विशाल प्रकृति का हमें दर्शन करने का अवसर मिलता है। स्पष्ट है कि उसने मूलतः प्रकृति को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है जो निम्नलिखित हैं—

(1) मनोवैज्ञानिक प्रकृति—यह प्रकृति स्वयं शिक्षा ग्रहण करने वाले मनुष्य से संबंधित होती है। रूसो ने शिक्षा ग्रहण करने वाले मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्तियों, रुचियों तथा योग्यताओं के अनुसार ही शिक्षण-व्यवस्था को जरूरी बताया। इस तरह शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का समावेश स्पष्ट है।

(2) सामाजिक प्रकृति—प्रकृति के इस विराट रूप में रूसो ने मानव, सामाजिक संबंध, भाषा, आचरण, आदि को मुख्य स्थान दिया है। अन्दर भी रूसो ने ढोंगी बाह्यआडम्बर युक्त सामाजिक वातावरण की उसने बुराई की तथा स्वस्थ सामाजिक वातावरण में शिक्षा प्राप्त करने को श्रेष्ठ बताया।

(3) शुद्ध प्रकृति—यह शुद्ध उद्भिज प्रकृति का रूप है। इसके अन्तर्गत पेड़, पौधे, नदी, समुद्र, आकाश, वर्षा, पहाड़, जंगल, फल, फूल, वायु, चाँद, सूरज तारे आदि आते हैं। रूसो प्रकृति प्रेमी था और प्राकृतिक माध्यम से ही बच्चों को शिक्षा दिए जाने का पक्षधर था।

13

मॉण्टेस्क्यू

परिचय

मॉण्टेस्क्यू को फ्रांस में रूसो के समान ही महान दार्शनिक के रूप में देखा जाता है। उसका काल 18वीं शताब्दी से जुड़ा है। मॉण्टेस्क्यू को बोदों के सही उत्तराधिकारी के रूप में देखा जाता है। मॉण्टेस्क्यू को आधुनिक राजनीति में शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत का जन्मदाता माना जाता है। मॉण्टेस्क्यू इतिहासकार तथा दार्शनिक विचारक के रूप में प्रसिद्ध है। फ्रांस की राज्य क्रांति को रूसो के विचारों के अलावा मॉण्टेस्क्यू के विचारों से भी प्रेरणा मिली थी। प्रो. डनिंग ने मॉण्टेस्क्यू के बारे में सही ही कहा है—“मॉण्टेस्क्यू सही अर्थ में फ्रांस का एक महान विद्वान था और इसने जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया तो इसने अपने इस व्यक्तित्व के लिए समय की सही मांग के साथ एकाकार किया।” यद्यपि उसने समाज एवं शासन पर विस्तार से व्यावहारिक अध्ययन किया, तथापि उसकी अधिकांश धारणाएं ऐसी थीं जिनके लिए उसने प्रमाण एकत्र करने का प्रयत्न नहीं किया। इसी प्रकार सेबाइन ने राजनीतिक चिंतक तथा साहित्यकार के रूप में मॉण्टेस्क्यू का मूल्यांकन इस प्रकार किया है—“उसने एक ऐसे राजनीतिक दर्शन का निरूपण किया जो व्यापक से व्यापक परिस्थितियों पर लागू हो सकता था, लेकिन उसका सम्पूर्ण साहित्य फ्रांस की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर लिखा गया।”

मांटेस्क्यू का जन्म 1689 में एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उसका जन्म स्थान ला ब्रेदे फ्रांस के बोर्डो नगर के पास स्थित था। यह स्थान उसकी माँ को दहेज के रूप में हासिल हुआ था। मांटेस्क्यू के बचपन का नाम चार्ल्स लुई डी सेकंड था। सात वर्ष की आयु में उसकी माता का देहान्त हो गया था। अतः उसकी दहेज की सम्पत्ति मांटेस्क्यू को मिली। 11 वर्ष की अवस्था में उसे ज्यूली के एक विद्यालय में भेजा गया, जहाँ वह 1711 तक अध्ययन करता रहा। तत्पश्चात् उसने बोर्डो के विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन किया। 1715 में उसकी शादी हुई। उसकी पत्नी भी विशाल सम्पत्ति दहेज के रूप में लाई। यद्यपि यह प्रेम विवाह नहीं था तथापि दम्पति का वैवाहिक जीवन बहुत सफल रहा। 1716 में उसके चाचा की मृत्यु होने पर उसे और अधिक सम्पत्ति मिली। उसका चाचा बोर्डो के न्यायालय का अध्यक्ष था। उस समय यह पद व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में माना जाता था। उसके चाचा ने इस शर्त पर अपनी सम्पत्ति तथा पद चार्ल्स लुई डी सेकंड को हस्तान्तरित की कि वह अपना नाम मांटेस्क्यू रखे। अतः 1716 में उसका नाम मांटेस्क्यू हो गया। यद्यपि मांटेस्क्यू पर्याप्त धनी हो चुका था और बोर्डो के न्यायालय का अध्यक्ष भी था तथापि उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा उसकी अध्ययन के प्रति अभिरुचि इतनी अधिक थी कि वह अपना अधिकांश समय अध्ययन कार्य में ही लगता था।

मांटेस्क्यू ने यूरोप की तत्कालीन राज्य व्यवस्था का अध्ययन किया। इसके लिए 1728 में उसने यूरोप महाद्वीप का दौरा किया। उसने इटली, हंगरी, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रेलिया और इंग्लैण्ड शामिल थे। मांटेस्क्यू ने इन देशों की शासन व्यवस्था का अध्ययन किया। इंग्लैंड में उसने लगभग दो वर्ष ठहरकर वहाँ की राज्य-व्यवस्था को देखा और यह पता लगाने का प्रयास किया कि वहाँ की सरकार में ऐसी कौन सी चीज है जिसके कारण वहाँ का नागरिक अपने आप को अत्यंत स्वतंत्र और सुरक्षित अनुभव करता है।

फ्रांस लौटकर उसने इतिहास का अध्ययन कर रोमन साम्राज्य की राज्य व्यवस्था की सफलता और असफलता के कारणों का पता लगाया। अपने लम्बे भ्रमण, संस्थाओं व विभिन्न राज्य प्रणालियों व परम्पराओं पर अत्यंत रुचि के साथ शोध करते रहने के परिणामस्वरूप उसने अपने ग्रंथ 'स्पिरिट ऑफ दी लॉज' की रचना की। 18 वीं शताब्दी की यह सर्वश्रेष्ठ गद्य रचना मानी जाती है। मैक्सी ने इसके संबंध में लिखा है कि "यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि राजनीतिक विज्ञान की उन पुस्तकों में जो कभी भी लिखी गई हैं, स्पिरिट ऑफ लॉज सबसे अधिक

पठनीय ग्रंथ है।” प्रो. डनिंग ने लिखा है कि “मॉण्टेस्क्यू के ग्रंथ ‘स्पिरिट ऑफ दी लॉज’ में इतने अधिक विषयों पर विचार किया गया है कि यह विशिष्ट रूप से राजनीतिक रचना न रहकर समाज विज्ञानों की रचना बन गई है। प्रो. टी. जौन्स का मत है कि अनेक कमियों के होते हुए भी ‘स्पिरिट ऑफ दी लॉज’ मॉण्टेस्क्यू की विद्वता और पाण्डित्य का सही मायने में स्मारक है।” कालान्तर में वह बोर्डों में साइन्स अकादमी का सदस्य बन गया। 10 फरवरी, 1755 में 66 वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया।

उसका जीवन सीधा-सादा और एक घटना विहीन जीवन था। अतः अपनी कृतियों के द्वारा ही वह विख्यात है। उसके देहान्त पर बड़ी ही सुन्दर टिप्पणी है कि “यदि हम उसकी जीवन गाथा में से उसकी साहित्यिक कृतियों को निकाल दें और उसकी रचनाओं से अलग उसके चरित्र को लें तो वह यहां समाप्त हो जाता है और उसके बारे में यह कहा जा सकता है, जैसा कि कुछ राजाओं के बारे में ठीक कहा गया है कि उसने जन्म लिया, वह जीवित रहा और मर गया।”

राजनीतिक विचार

मॉण्टेस्क्यू को राजनीतिक चिंतक के रूप में राजनीतिक मुद्दों के समाजशास्त्रीय अध्ययन का श्रेय दिया जाता है।

मॉण्टेस्क्यू की कानून तथा शासन से संबंधित अवधारणा समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर आधारित है। उसने इस बारे में इस बात पर बल दिया कि शासन तथा कानून की संरचना तथा कार्य प्रणाली उन परिस्थितियों पर निर्भर करती है जिनके अंतर्गत कोई जनसमूह निवास करता है। यह परिस्थितियां उस जनसमूह की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, मानसिक चरित्र, सामाजिक परम्पराएं आदि हैं, जो उसके राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती हैं।

इसलिए राजनीतिक समस्याओं के हल के लिए उन पर पड़ने वाले विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों का विश्लेषण किया जाना चाहिए तथा उसी अध्ययन के आधार पर राजनीतिशास्त्र के नियमों का निर्धारण होना चाहिए। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू ने राजनीतिशास्त्र को समाजशास्त्र का एक नया आयाम प्रदान किया और उसे अध्ययन की एक नई दिशा और पद्धति प्रदान की। जॉन्स के शब्दों में, “मॉण्टेस्क्यू का विशेष महत्त्व राजनीतिक सिद्धांतों में नयी देन के कारण इतना नहीं है जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन के पद्धतिशास्त्र का विकास करने में है।”

कानून & माटेस्क्यू के पहले कानूने के बारे में कई प्रकार के मत वहाँ प्रचलित थे। कुछ विद्वान प्लेटो और अरस्तू की तरह कानून को कववेक बुद्धि का आदेश मानते थे, तो कुछ लेखक जैसे बोदाँ और हॉब्स उसे उच्चतर शक्ति का आदेश मानते थे। माँटेस्क्यू ने कानून के आशय के सम्बंध में इन दोनों विचारों को अस्वीकार कर दिया और उसके स्थान पर कानून की अपनी अलग परिभाषा प्रस्तुत की। उसके अनुसार, “अपने सर्वाधिक सामान्य अर्थ में कानून वस्तुओं की प्रकृति से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बंध में है।”

धरती पर एक प्राणी व्यवस्था के दायरे में सभी जीव-जंतुओं के अपने-अपने कानून होते हैं। ईश्वर का अपना कानून, भौतिक विश्व का अपना कानून, मानवोत्तर विश्व के अपने कानून, पशुओं के अपने कानून तथा मनुष्य का अपना कानून।

कानून के भेद & माँटेस्क्यू ने कानूनों के दो भेद किये हैं—

(1) **प्राकृतिक कानून** & माँटेस्क्यू ने प्राकृतिक कानून के रूप में उन नियमों को देखा जो समाज का निर्माण होने से पहले मनुष्य के स्वभाव में कायम होते थे। माँटेस्क्यू ने प्राकृतिक कानून के मूल में इस तथ्य को देखा। उसके अनुसार मानव निर्मित नियमों से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होता था।

इसलिए मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि वह आवेगों में बहकर ईश्वर के साथ अपने संबंधों को भुला दे। अतः उसे इनका स्मरण करने हेतु धर्म के कानून हैं। उसी के शब्दों में, “ऐसा प्राणी प्रत्येक क्षण अपने रचयिता को विस्मृत कर सकता है। अतः धर्म के कानूनों द्वारा ईश्वर ने मनुष्य को अपने कर्तव्य की याद दिलाई है। ऐसा प्राणी स्वयं अपने आपको भूल सकता है। दर्शनशास्त्र आचार के नियमों द्वारा उसे ऐसा करने से रोकता है। उसे समाज में रहने के लिए बनाया गया है। किन्तु वह अपने साथियों को भूल सकता है। इसीलिए विधि-निर्माताओं ने नागरिक तथा राजनीतिक कानून बनाकर उसे अपने कर्तव्यपालन के लिए आरूढ़ किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जहां प्रकृति-जगत एक ही प्रकार के कानून से अनुशासित है जिन्हें कि प्राकृतिक कानून कहा जा सकता है। वहां मनुष्य दो प्रकार के कानूनों के अधीन है—ईश्वर निर्मित कानूनों और स्वनिर्मित कानूनों के।”

मनुष्य के कार्य, व्यवहार को प्राकृतिक स्थिति में इस प्रकार की स्थितियाँ नियंत्रित करती थीं।

1. शान्ति तथा सुरक्षा की चाह।
2. मानव की अपनी भौतिक आवश्यकताओं को तृप्त करने की तृष्णा।

3. एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने की प्रवृत्ति, तथा
4. एक संगठित समाज बनाकर जीवन व्यतीत करने की इच्छा।

मांटेस्क्यू ने प्राकृतिक स्थिति का इस प्रकार चित्रण करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया कि समाज तथा राजनीतिक संगठन निर्मित करने के लिए मानव कोई संविदा नहीं करते, जैसा कि हॉब्स और लॉक ने दर्शाया था, बल्कि राजनीतिक समाज नैसर्गिक है जो प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य की सामाजिकता तथा संगठित समाज में जीवन व्यतीत करने के प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। अतः समाज की स्थापना हो जाने पर जब मनुष्य उसमें प्रवेश करता है तो वह प्राकृतिक स्थिति की समानता की भावना को खो देता है। परंतु समाज-निर्माण के बाद भी मनुष्य की झगड़ालू प्रवृत्ति के कारण मानव-मानव के मध्य तथा विविध समूहों के मध्य मानवों के आचरण को नियमित करने की क्षमता प्राकृतिक कानून स्वयं अपने में नहीं पाता। अतएव समाज के इन सम्बन्धों के नियमन के लिए विध्यात्मक कानून की आवश्यकता पड़ती है।

(2) मानव निर्मित कानून—मांटेस्क्यू के मतानुसार मनुष्य परस्पर दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे और इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। मानवीय आचरण केवल प्राकृतिक नियमों से अनुशासित नहीं रह सका। तब इस स्थिति में प्राकृतिक नियमों की पूर्ति मानव निर्मित कानूनों द्वारा करनी पड़ी।

मांटेस्क्यू ने मानवीय कानूनों को यद्यपि प्राकृतिक कानूनों के समान ही देख है, लेकिन इसमें कई प्रकार के अंतरों का उल्लेख भी उसने किया। इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1. मानव-कृत कानून “विधायक द्वारा बनाये हुए विशिष्ट और सुनिश्चित संस्थान होते हैं।”
2. ये कानून सार्वभौम नहीं होते और न ही यह आवश्यक है कि वे अविकारी हों।
3. ये कानून परिवर्तनशील होते हैं। इन पर समाज के स्वरूप, जलवायु, धर्म, नैतिक नियमों आदि का प्रभाव पड़ता है।
4. समाज में होने वाले परिवर्तनों और विकास से मानव सम्बंधी कानून प्रभावित होते हैं। देश काल और समाज-विशेष का चरित्र उसके स्वरूप में परिवर्तन लाते रहते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मांटेस्क्यू ने समाज विशेष के कानून को बाहर

से थोपे गये कानून के रूप में नहीं देखा। उसकी दृष्टि में तो यह बहुत जटिल, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बंधों का समूह है जो एक समाज में विभिन्न घटकों में परस्पर पाये जाते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज है जो समाज को उसका विशिष्ट और अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।

मानव निर्मित कानूनों के प्रकार—मानव के विवेक तथा बुद्धि की अपूर्णता तथा सीमितता के कारण सामाजिक जीवन में मनुष्य के संघर्ष तीन प्रकार के होते हैं, जिनके फलस्वरूप तीन प्रकार के विध्यात्मक कानूनों का सृजन होता है—

(1) अंतर्राष्ट्रीय कानून—जब अनेक समाजों की स्थापना हो जाती है तो समाज अपने अपने लाभ की आकांक्षा से एक-दूसरे के साथ संघर्ष करने लगते हैं। अतः इन विभिन्न समाजों (राज्यों) के पारस्परिक सम्बंधों का नियमन करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय कानून की सृष्टि होती है।

(2) राजनीतिक कानून—राजनीतिक समाज का नियमन तथा संचालन करने के लिए शासन की आवश्यकता पड़ती है। राज्य में शासक या शासितों के मध्य भी संघर्ष करने लगते हैं। अतः इन विभिन्न समाजों (राज्यों) के पारस्परिक सम्बंधों का नियमन करने के लिए राजनीतिक कानूनों की रचना आवश्यक होती है।

(3) नागरिक कानून—समाज में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य भी संघर्ष होता है। अतः व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बंधों का नियमन करने के लिए नागरिक कानून का निर्माण किया जाता है। इन कानूनों को मॉण्टेस्क्यू विध्यात्मक कानून की श्रेणी में रखता है। यह कानून प्राकृतिक कानून पर आधारित होना चाहिए, क्योंकि यह मानव तथा उसके विवेक पर लागू होता है।

मॉण्टेस्क्यू के द्वारा बनाये गये अंतर्राष्ट्रीय कानून सभी देशों के लिए प्रासंगिक है। मॉण्टेस्क्यू ने राजनीतिक कानून को किसी देश, राष्ट्र के निर्दिष्ट जनसमूह के कानून के रूप में देखा है। इसमें स्थानीय जीवन स्थितियों का समावेश होता है। अपने अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को मॉण्टेस्क्यू ने वैश्विक संदर्भ में बनाया।

ये कानून राज्य की शासन व्यवस्था, भौगोलिक परिस्थितियों, जनता की राजनीतिक चेतना धार्मिक व सामाजिक परम्पराओं तथा संस्थाओं के अनुसार होने चाहिए। **मॉण्टेस्क्यू** के शब्दों में, “कानून प्रत्येक देश की जलवायु, उसकी मिट्टी के गुण, उसकी स्थिति और विस्तार, उसके निवासियों के प्रमुख पेशों—खेतिहर, शिकारी या गड़रियों से सम्बंधित होने चाहिए। उनका स्वतंत्रता की मात्रा से जो कि संविधान के अंतर्गत हो, निवासियों के धर्म, उनके झुकाव, धन, संख्या, वाणिज्य, आचरण के ढंग और प्रथाओं से सम्बंध होने चाहिए। संक्षेप में, उनका एक-दूसरे से सम्बंध है,

उनकी सम्पत्ति से, विधायक के इरादे से और चीजों की उस व्यवस्था से जिन पर वे आधारित हैं, इन तमाम बातों के प्रकाश में उन पर विचार किया जाना चाहिए।”

मॉण्टेस्क्यू के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उपयुक्त तत्वों और उनके पारस्परिक संबंधों का कानून पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना था ताकि ऐसी शासन व्यवस्था को स्थापित किया जा सके, जिसके कानून वहां के निवासियों के चरित्र के अनुकूल हों, क्योंकि उसकी मान्यता के अनुसार ऐसी शासन व्यवस्था ही उनके लिए उपयुक्त हो सकती है।

शासन के स्वरूप का वर्गीकरण—मॉण्टेस्क्यू ने शासन के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया है। उसने शासन के बुनियादी सिद्धांतों का वर्णन करने के अलावा उसका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—वह शासन के तीन मौलिक रूप बताता है—**गणतंत्र**, **राजतंत्र** और **निरंकुश**। वह गणतंत्र को पुनः दो भागों में विभाजित करता है। वग गणतंत्र को पुनः दो भागों में विभाजित करता है, **लोकतंत्र** और **कुलीनतंत्र**। इसके बारे में उसका मानना है—

“गणतंत्र वह राज्य होता है जिसमें सर्वोच्च शक्ति सभी नागरिकों अथवा उनके एक भाग में निहित होती है। समस्त में होने पर वह लोकतंत्र होता है और एक भाग में होने पर वह कुलीनतंत्र। राजतंत्रात्मक राज्य वह होता है जिसमें एक ही व्यक्ति कुछ निश्चित कानूनों के अनुसार शासन का संचालन करता है तथा निरंकुशतंत्र वह शासन होता है जिसमें एक व्यक्ति बिना किसी कानून के स्वेच्छाचारी ढंग से शासन का संचालन करता है।”

मॉण्टेस्क्यू का यह वर्गीकरण सर्वोच्च सत्ता रखने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर होने के साथ-साथ शासन के इन विभिन्न स्वरूपों में पाये जाने वाले मौलिक सिद्धांतों की भिन्नता पर भी आधारित है। स्वरूप से उसका तात्पर्य शासन के संगठन से है तथा सिद्धांत से उसका तात्पर्य उन मानवीय भावनाओं से है जिनके कारण कोई सामाजिक पद्धति गतिशील होती है।

गणतंत्र—मॉण्टेस्क्यू ने प्रत्येक शासन पद्धति के मूल में कुछ मौलिक सिद्धांतों के समावेश का उल्लेख किया है। गणतंत्र में समस्त नागरिक सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते हैं। अतः उस शासन प्रणाली का मौलिक सिद्धांत ‘सद्गुण या शील’ होता है जिसका तात्पर्य जनता में देश-प्रेम, समानता तथा जनहित के अनुसार कार्य करने की भावना से है। सद्गुण के समाप्त होते ही लोगों में अभिलाषा जाग्रत होती है और अभिलाषा लालच को पैदा करती है। सारा समुदाय तब लालची हो कर भ्रष्ट हो जाता है। प्रत्येक नागरिक की स्थिति तब उस प्रकार की हो जाती है जिस प्रकार

से अपने स्वामी के चंगुल से भागे हुए दास की। इस परिवर्तित दशा में लोग नियमों को बंधन मानने लगते हैं और सावधानी को डरपोकता का नाम देते हैं। सद्गुण के अतिरिक्त कानून की मान्यता और शक्ति एक-दूसरे सिद्धांत हैं जिन पर गणतंत्र आधारित है।

कुलीनतंत्र कुलीनतंत्र के लिए भी जिसमें शासन-सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में रहती है, सद्गुण का यह सिद्धांत आवश्यक है लेकिन वह इतनी व्यापक मात्रा में आवश्यक नहीं है और इसलिए वह वहां संयम का स्वरूप ग्रहण कर लेता है अर्थात् कुलीनों को चाहिए कि वे जनहित के अनुसार अपने को संयमित रखें।

राजतंत्र मांटेस्क्यू ने शासन तत्व के रूप में सिद्धांत को राजतंत्र के मौलिक सिद्धांत के रूप में देखा। इसलिए सम्मान की इस भावना से प्रेरित होकर इसमें राजा तथा उसके सहायक अपने गौरव को बनाये रखने के लिए राज्य का उसी तरह संचालन करते हैं जैसे सद्गुण की भावना से प्रेरित होकर प्रजातंत्र का संचालन किया जाता है। राजतंत्र का संबंध एक शाही घराने से होता है और राजघराने के लिए उपाधियां आवश्यक होती हैं। अभिलाषा गणतंत्र के लिए जहां भ्रष्टाचार का कारण होती है वहां राजतंत्र के लिए उत्साह का स्रोत होती है। सम्मान की भावना सारे राज्य को संचालित करती है और उसकी विभिन्न शक्तियों को संगठित करती है। उपाधि के साथ कानून का सम्मान तो दूसरा गुण है ही क्योंकि बिना कानून की मर्यादा राजतंत्र निरंकुश हो जाता है।

निरंकुश तंत्र निरंकुश तंत्र का बुनियादी आधार भय पर आधारित है। राजा के प्रचण्ड प्रकोप और शक्ति से आतंकित होकर जनता उसकी आज्ञा का पालन करती है।

मांटेस्क्यू द्वारा किये गये शासनों के वर्गीकरण को अग्रांकित तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है—

मांटेस्क्यू ने विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था उनके सैद्धांतिक आधार की व्याख्या करने के बाद उससे संबंधित कानून की व्याख्या प्रस्तुत की। उनका मत है कि शासन में स्थिरता के लिए यह बात आवश्यक है कि विधि-निर्माताओं के द्वारा ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए जो उसके आधारभूत मौलिक तत्व के अनुकूल हो। गणतंत्र के कानूनों का उद्देश्य समानता की स्थिति को बनाये रखना होना चाहिये। राजतंत्र में कानूनों का उद्देश्य सामंतों और कुलीनों की प्रभुता और सम्मान को बनाये रखना होना चाहिए तथा निरंकुशतंत्र में क्योंकि उसका आधार कोई कानून नहीं होता, अतः उसमें शासन को इस ढंग से शासक द्वारा संचालित

किया जाना चाहिए जिससे कि जनता में सदैव उसके प्रति आज्ञाकारिता और दायित्व की भावना बनी रहे।

मांटेस्क्यू ने किसी भी शासन व्यवस्था के स्वरूप को निरपेक्ष रूप से आदर्श व्यवस्था के रूप में नहीं देखा। उसका मानना था कोई भी ऐसी एक शासन प्रणाली नहीं है जो सार्वभौमिक रूप से अच्छी मानी जा सके। उसका मत है कि इस संबंध में निर्णय तो ऐतिहासिक और सापेक्षिक आधार पर ही किया जा सकता है जिसका तात्पर्य यह है कि विशेष परिस्थितियों में विशेष सिद्धांतों का पालन करने वाली शासन प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है। अर्थात् परिस्थितियां ही शासन प्रणाली के आदर्श रूप के सम्बंध में अंतिम निर्णय करती है। परिस्थितियों में परिवर्तन ही शासन प्रणाली में परिवर्तन का द्योतक है। उदाहरण के लिए, लोकतंत्र का मौलिक सिद्धांत समानता है। लेकिन अगर वह लुप्त हो जाता है तो लोकतंत्र का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। दूसरी तरफ कुलीनतन्त्र का मौलिक नियम संयम है। अगर शासक वर्ग संयम छोड़ देता है और अपने स्वार्थों की पूर्ति में ही लग जाता है तो उसका पतन निश्चित है। राज्य तथा शासन के बारे में मांटेस्क्यू के विचार मौलिक हैं। वह यूनानी विचारकों की तरह शासन में परिवर्तन और अरस्तू तथा बोदों के समान क्रांति के सिद्धांत में विश्वास नहीं करता है। उसके राजनीतिक विचार इन दोनों से पृथक है।

मांटेस्क्यू ने धर्म और देश के भौगोलिक आकार को भी शासन प्रणाली के स्वरूप पर प्रभाव डालने वाले तत्व के रूप में देखा है। शासन के विभिन्न स्वरूपों और धर्म का सम्बन्ध बताते हुए वह कहता है कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म और गणतंत्र, रोमन कैथोलिक धर्म और राजतंत्र तथा इस्लाम और निरंकुश तंत्र एक-दूसरे के लिए उपयुक्त हैं इसी तरह राज्य के भौगोलिक आकार और उसके शासन के स्वरूप के बारे में यही बात कही जा सकती है छोटे राज्य गणतंत्र के लिए तथा विशाल राज्य निरंकुशतंत्र के लिए सर्वथा उपयुक्त माने जा सकते हैं।

प्रत्येक शासन का स्वरूप वहाँ के भौतिक परिवेश पर आधारित होता है। यह सभी देशों में भिन्न-भिन्न होता है। कानूनों में भी इसीलिए विविधता होती है। उसके शब्दों में, “यदि यह सत्य है कि मनुष्य का स्वभाव और उसकी मानसिक प्रवृत्तियां भिन्न-भिन्न जलवायु में एकदम भिन्न होती हैं तो कानून को भी भावनाओं तथा स्वभाव की विविधता के अनुरूप ही होना चाहिए।” जो कानून एवं राजनीतिक संस्थान ठंडे प्रदेशों के निवासियों के अनुकूल हो सकते हैं, उनका गर्म प्रदेशों के निवासियों के लिए उपयुक्त होना अधिकांशतः सम्भव नहीं है।

मांटेस्क्यू ने गणराज्य, राजतंत्र तथा निरंकुशतंत्र को प्रकाश, गोधूली एवं अंधकार के रूप में देखा और कहा कि गणतंत्र 'प्रकाश' इसलिए है कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर जोर दिया जाता है। गणतन्त्रीय शासन व्यावहारिक नहीं है। क्योंकि आधुनिक विशाल राज्यों में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। यह केवल यूनान के नगर-राज्यों या कम क्षेत्र वाले राज्यों में ही सम्भव था। मांटेस्क्यू राजतंत्र को आधुनिक समय में सबसे उपयुक्त शासन मानता था, क्योंकि इस शासन का उपयोग आधुनिक बड़े राज्यों में भली-भांति हो सकता है, इसके अतिरिक्त वह फ्रांसीसी राजतंत्र से प्रेम करता था। राजतंत्र के समर्थन का एक बड़ा कारण यह भी था कि मांटेस्क्यू यथार्थवादी था और यह जानता था कि राजतंत्र की जड़ों को उखाड़ फेंकना सरल कार्य नहीं है। मांटेस्क्यू निरंकुशतंत्र का कट्टर विरोधी था। उसने निरंकुशतंत्र को धन, वाणिज्य उद्योग इन सबके मूल में देखा और कहा कि इस शासन तंत्र में मनुष्य की स्थिति दास की तरह रहती है।

14

एडमण्ड बर्क

आधुनिक काल के महान विचारकों में एडमण्ड बर्क का स्थान उल्लेखनीय है। उसे एक महान वक्ता, प्रबुद्ध चिंतक और उदारवादी अनुदारवाद के प्रवर्तक के रूप में देखा जाता है। उसके बारे में सेबाइन ने सही लिखा है—“दर्शन की भारी भरकम किन्तु भव्य अट्टालिका, जो हीगल के आदर्शवाद में परिणति को पहुंची और जिसने 18 वीं शताब्दी में प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण किया, बर्क की महत्त्वपूर्ण देन है। 18 वीं शताब्दी का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने राजनीतिक परम्पराओं को धर्म की आस्था से ग्रहण किया तथा उसे एक ऐसी देववाणी माना जिसे राजमर्मज्ञों को अवश्य ही परामर्श करना चाहिए।” इसी तरह से मैक्सी ने उसके बारे में लिखा है—“यद्यपि बर्क विशेषतः उल्लेखनीय मौलिक और क्रमबद्ध विचारक नहीं था तथापि वह महान् था।

परिचय

एडमण्ड बर्क का जन्म आयरलैण्ड के डबलिन नगर में 12 जनवरी, 1729 में हुआ था। उसकी माँ कैथोलिक मतावलम्बी थी लेकिन पिता प्रोटेस्टैंट मत के अनुयायी थे। बर्क के जीवन पर उसकी माता के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। अपने माता-पिता से उसे सहिष्णुता और सुधारवादी गुण मिले। ट्रिनिटी कॉलेज से ग्रेजुएट होने के बाद उसे वकालत पढ़ने के लिए उसके पिता ने 1750 में लंदन भेजा। किन्तु बर्क की रुचि कानून में न होकर साहित्य में थी। अतः उसने कानून छोड़कर साहित्य

का अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। इससे पिता ने नाराज होकर बर्क की आर्थिक सहायता बंद कर दी, जिससे वह लेखन और पत्रकारिता से अपनी जीविका चलाने लगा।

एडमण्ड बर्क के दो निबंध सन् 1750 में प्रकाशित हुए इनका नाम 'A Vindication of Natural Society.' तथा 'Philosophical Inquiry in to the Origin of Our Ideas on the Sublime and Beautiful.' है। इसके बाद वह एक अच्छा निबंध लेखक माना जाने लगा। इसके पश्चात् उसने राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं का संक्षिप्त विवरण देने वाले 'Annual Register' नामक शब्दकोश का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इससे उसे आजीविका और साहित्यिक प्रसिद्धि दोनों मिलीं तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उसका सम्बंध स्थापित हो गया।

इस सम्पर्क के कारण 1759 में बर्क आयरलैंड सम्बन्धी मामलों में मंत्री विलियम हेमिल्टन का सहायक और 1765 में ब्रिटेन के तत्कालीन मंत्री लॉर्ड राकिंगम का निजी सचिव बना। यद्यपि इस पद पर वह बहुत थोड़े समय के लिए ही रहा, परंतु इससे उसे अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ करने का अवसर मिला। 1765 में ही वह ब्रिटिश लोकसभा का सदस्य चुना गया और अगले 30 वर्षों तक ह्विग पार्टी का प्रभावशाली संसद सदस्य और नेता बना रहा। 1794 में वृद्धावस्था और घरेलू परिस्थितियों के कारण उसने संसद की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। उसके जीवन के शेष तीन वर्ष शांतिपूर्वक व्यतीत हुए। वह फ्रांसीसी राज्य क्रांति की घटना से काफी प्रभावित रहा। 8 जुलाई, 1797 को उसकी मृत्यु हो गई।

बर्क के राजनीतिक विचार

सेबाइन ने बर्क के राजनीतिक चिंतन के बारे में लिखा है कि, “वस्तुतः बर्क का अपना कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। उससके अपने विचार विभिन्न भाषणों और पम्फलेटों में बिखरे मिलते हैं। इन विचारों को उसने कुछ विशिष्ट घटनाओं के प्रसंग में व्यक्त किया था। तथापि, इन विचारों में एक संगति है। यह संगति इस बात का परिचय देती है कि बर्क की निष्ठा बड़ी प्रबल थी और उसके कुछ निश्चित नैतिक विश्वास थे। बर्क के दर्शन का आधार सिर्फ यह था कि उसने अपने समय की कुछ प्रमुख घटनाओं में भाग लिया था और इनके बारे में उसके अपने कुछ विचार थे।” बर्क के राजनीतिक विचारों का परिचय निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत दिया जा सकता है—

(1) राज्य के संविदा-सिद्धांत का खण्डन बर्क ने राज्य या समाज की उत्पत्ति के बारे में अपने ऐतिहासिक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि इसकी उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटना या संविदा के द्वारा नहीं हुई बल्कि यह क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य एक सावयव के रूप में विकास करते हुए अपने वर्तमान स्तर को प्राप्त कर सका है। इसकी जड़ें सुदूर भूत में गहराई तक समायी हैं और इसकी शाखाएं दूरगामी भविष्य तक फैली हुई हैं। बर्क की मान्यता है कि राज्य की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है। जिस प्रकार मानव शरीर का विकास होता है, अतः राज्य का सम्बंध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से है। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। इसलिए वह बहुत प्राचीन काल से समाज और राज्य में संगठित होकर रहा है। बर्क राज्य और समाज में विभाजक रेखा नहीं खींचता है। उसकी धारणा है कि व्यक्ति समाज में ही अपने दायित्वों का निर्वाह करता है। बर्क के शब्दों में, “समाज अथवा राज्य एक साझेदारी है जो सभी विज्ञानों में सभी कलाओं में, प्रत्येक सद्गुण में और समस्त पूर्णत्व में होती है। इस प्रकार की साझेदारी के लक्ष्यों की प्राप्ति एक तो क्या अनेक पीढ़ियों में भी नहीं की जा सकती है, अतः राज्य की केवल जीवित व्यक्तियों के बीच ही नहीं, बल्कि मृतकों और आगे आने वालों के बीच भी एक साझेदारी हो जाती है।”

(2) राज्य का सावयविक स्वरूप बर्क का मानना है कि प्राचीन काल से राज्य और व्यक्ति या समाज और व्यक्ति का संबंध चला आ रहा है। समाज अथवा राज्य एक शाश्वत संस्था है तथा अपनी समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएं समाज के सदस्य के नाते ही प्राप्त करता है। सेबाइन के शब्दों में, समाज की सदस्यता का अर्थ है कि, “मनुष्य संस्कृति के समस्त कोषों तक पहुंच जाये। यही सभ्यता और बर्बरता के मध्य का अंतर है। यह कोई भार नहीं है बल्कि मानव-युक्ति का खुला द्वार है।”

बर्क संविदा सिद्धांत के कुछ पहलुओं से भी सहमत है लेकिन इस सिद्धांत के पक्ष में उसने कोई ठोस तर्क प्रस्तुत नहीं किए। इसलिए यह महत्वहीन हो गया। बर्क के शब्दों में, “समाज वास्तव में एक समझौता है। सामाजिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए किये जाने वाले छोटे मोटे समझौतों को इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। लेकिन, राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी को समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे लोग अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लेते हैं और जब दोनों पक्षों में से कोई समझौता चाहता है तो भंग कर देते हैं। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए।”

इस बारे में गैटिल ने लिखा, “बर्क को राज्य को कृत्रिम ढांचा मानने वाले और सामाजिक संविदा के सिद्धांत से तनिक भी सहानुभूति नहीं है। उसका मत है कि राज्य जीव के सदृश विकासशील है और उसकी जड़ें गहराई से अतीत में फैली हुई हैं।”

मुरे का भी मत है कि “बर्क का आधारभूत विश्वास है कि राज्य मानवकृत यंत्र नहीं है वरन् अत्यधिक जटिल सावयव है। जिसके स्वरूप को निश्चित करने में व्यक्तियों के प्रयत्नों ने निःसंदेह रूप से सहायता की है, पर जिसके विकास और लक्ष्य को कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं समझ सकता है। बर्क का यह भी विश्वास है कि यदि व्यक्ति राज्य के स्वरूप में कोई परिवर्तन चाहते हैं तो उनको ऐसा बहुत संयम से और बहुत सोच-समझकर करना चाहिए क्योंकि उनके कार्यों के परिणामों की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।”

इस प्रकार बर्क संविदा के विचारों को नाममात्र के लिए ही ऊपरी तौर पर मानता है, अन्यथा वास्तव में तो उसका खंडन ही करता है।

अधिकार बर्क ने मनुष्य का स्वभाव से राजनीतिक माना है। उसका कहना है कि व्यक्ति राज्य के रहकर अपना जीवनयापन नहीं कर सकता है। इस स्थिति में उसके सभी अधिकार राज्य द्वारा सीमित होते हैं। बर्क की मान्यता है कि हम ऐसे किन्हीं प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते जो राज्य के क्षेत्र से बाहर हों। अधिकार वे ही वैध हैं जो राज्य से प्राप्त होते हैं।

बर्क का मानना है कि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार और सभ्य समाज के अधिकार दोनों प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि प्राकृतिक अधिकारों का आधार राज्य का अभाव माना जाता था। वह इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि राज्य के निर्माण से पूर्व मनुष्य को जो प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे उन्हें राज्य की रचना द्वारा आगे बनाये रखने की स्वीकृति प्रदान की गयी। प्राकृतिक अधिकार राज्य विरोधी हैं जिन्हें पूर्ण स्वीकृति देने का अर्थ अराजकता और अव्यवस्था को अभिमन्त्रित करना है। राजकीय कानूनों पर निर्भर रहने वाले अधिकार ही वैध हैं।

(1) नागरिक अधिकार बर्क की मान्यता है कि नागरिक अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से मिलने चाहिए। राज्य को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति इन अधिकारों का उपयोग कर सके।

(2) राजनीतिक अधिकार बर्क का विचार है कि राजनीतिक अधिकार बहुत प्रभावशाली और महत्वपूर्ण होते हैं। अतः ये कुछ व्यक्तियों को ही दिये जाने

चाहिए। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में राजनीतिक अधिकार देने से समाज और राज्य को बहुत हानि हो सकती है।

बर्क ने अधिकार के बारे में कहा कि इसमें समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन तथा संशोधन होते रहे हैं जिससे अधिकार उपयोगी और समयानुकूल बने रहें।

स्वतंत्रता बर्क ने स्वतंत्रता को उदत्त चेतना के रूप में देखा है लेकिन उसने व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अपेक्षा सामाजिक स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व दिया है। बर्क के अनुसार सामाजिक स्वतंत्रता वह स्थिति है जिसमें एक व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समूह की स्वतंत्रता किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्ति समूह की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप न करती हो। इस प्रकार स्वतंत्रता न्याय का दूसरा नाम है जिसे विवेकपूर्ण कानूनों द्वारा जाना जाता है और ऐतिहासिक आधार पर निर्मित सामाजिक संस्थाओं को सुरक्षित किया जाता है। बर्क यह मानता है कि स्वतंत्रता प्रकृति की नहीं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों की देन है।

बर्क के इस आशय को स्पष्ट करते हुए मैक्सी ने लिखा है कि, “स्वतंत्रता को सामाजिक बंधन को कमजोर बनाकर नहीं पाया जा सकता वरन् उसे सुदृढ़ बनाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य को राज्य के विरुद्ध खड़ा करके नहीं वरन् राज्य और मनुष्य के बीच समन्वय स्थापित करके ही ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है जो कि समाज के कल्याण के अनुकूल हो।”

समानता यद्यपि समानता की धारणा में बर्क का विश्वास नहीं रहा। उसके मतानुसार समानता के आधार पर स्वतंत्रता का उपभोग करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नहीं है बल्कि वह अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार स्वतंत्रता का उपभोग करता है। बर्क के दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने को शासित करने का अधिकारी नहीं है। उसका मत है कि समाज निर्माण में सभी की समान सहमति हो सकती है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जिन लोगों ने सहमति दी थी, वे सभी समान हैं, क्योंकि समान रूप से सहमति देने के बाद भी प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। एक मूर्ख श्रमिक की सहमति का मूल्य उतना ही है, जितना की एक अनुभवी, विद्वान तथा सम्पत्तिशाली व्यक्ति का—बर्क ने इस प्रकार की सोच को बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य के रूप में नहीं देखा है।

बर्क के शब्दों में, “हमें एक ऐसे स्वाभाविक सामाजिक अनुशासन में रहना होगा जिसमें ज्यादा बुद्धिमान, ज्यादा निपुण और ज्यादा धनी व्यक्ति समाज का संचालन करते हैं और वे अपने इस संचालन के द्वारा कमजोर, कम निपुण और कम ऐश्वर्यवान व्यक्तियों की रक्षा करते हैं।”

शासन बर्क लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का समर्थन नहीं करता था उसका मानना था कि जो राज्य लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति को अपनाते हैं उनमें बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों का क्रूरतापूर्वक दमन करते हैं। बर्क की मान्यता है कि जन-साधारण में इतनी योग्यता तथा क्षमता नहीं होती कि वे शासन का संचालन ठीक प्रकार से कर सकें। बर्क के शब्दों में, “एक नाई या चर्बी बेचने वाले का पेशा किसी भी व्यक्ति को सम्माननीय नहीं लगता, इनसे और अधिक निकृष्ट दासत्व पेशे वालों का तो कहना ही क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य सबको दबाये, बल्कि ऐसे व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से शासन करने लगे तो राज्य स्वयं का शोषक हो जायेगा।” बर्क के विचारों को इस आधार पर अलोकतन्त्रीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अनुसार शासन का उद्देश्य किसी विशेष वर्ग का हित न होकर समस्त जनता का हित है। उसका शासन जनता द्वारा न होकर जनता के लिए (Not by the people but for the people) है। परंतु उसकी विचारधारा में लोग प्रभुसत्ता जैसी धारणा का अभाव है।

कुलीनतन्त्रीय शासन पद्धति का समर्थन उसने कहा कि इस कुलीन वर्ग की योग्यता का निर्धारण सम्पत्ति तथा जन्म पर आधारित होना चाहिए। इसमें सिर्फ योग्यता का होना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक योग्यता सम्पत्ति की योग्यता द्वारा संतुलित नहीं होगी, तब तक वह हानिकारक ही सिद्ध होगी। बर्क की यह मान्यता है कि सम्पत्ति का प्राकृतिक गुण असमानता है और राज्य को इस प्रकृति को बनाये रखना चाहिए। यदि सम्पत्तिहीन, परंतु योग्य व्यक्ति सरकार में आयेंगे तो वे सम्पत्तिशाली व्यक्तियों से द्वेष रखेंगे और उनकी सम्पत्ति को छीनने का प्रयास करेंगे। इससे उत्पन्न अव्यवस्था समाज के हित में नहीं होगी। बर्क यह मानता है कि सम्पत्तिहीन व्यक्ति सम्पत्तिशालियों पर निर्भर रहें यह स्वाभाविक नियम है। सम्पत्ति के समान वितरण से भी समाज को कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए बर्क शासन सत्ता सम्पत्तिशाली योग्य व्यक्तियों के हाथ में रखने के पक्ष में है। वंशानुगत आधार पर कुलीनतंत्र का समर्थन बर्क राज्य के स्थायित्व के लिए आवश्यक मानता है।

संविधान बर्क ने संविधान तथा समाज की परम्परा को धर्म भावना से देखा है क्योंकि उनमें सामुदायिक बुद्धि और सभ्यता निहित है। ब्रिटिश संविधान के बारे में यह लॉक के इस मत से सहमत था कि यह संविधान क्राउन, लॉर्ड सभा और कॉमन सभा का संतुलन है। इस बारे में बर्क ने लिखा है— हमारा संविधान एक प्रयोगसिद्ध संविधान है। यह एक ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह चिरकाल से हमारे मस्तिष्क में रहा है। आपका राजा, आपके लार्ड, न्यायधीश, छोटे-बड़े जूरी सभी परम्परागत हैं। चिर भोगाधिकार समस्त अधिकारों में महत्वपूर्ण

हैं।संविधान ऐसी चीजों से मिलकर बनता है जो पसंद से हजार गुना बेहतर होती हैं, वह कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावों, प्रवृत्तियों और जनता की नैतिक, नागरिक तथा सामाजिक आदतों के फलस्वरूप निर्मित होता है। ये सारी चीजें लम्बे समय से ही अपने विचार व्यक्त कर पाती हैं।”

संवैधानिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को किसी रूप में अवरुद्ध करने का विरोध किया है। इसलिए उसने जार्ज तृतीय द्वारा संवैधानिक परम्पराओं के उल्लंघन का विरोध करते हुए कहा कि “हमारा संविधान एक ऐसे सूक्ष्म संतुलन पर खड़ा हुआ है जिसके चारों ओर ढालू चट्टानें हैं और अगाध सागर है। यदि हम इसे एक ओर कुछ अधिक झुकने के खतरे से बचाते हैं तो इसके दूसरी ओर झुक जाने का खतरा पैदा हो जाता है। हमारी जैसी जटिल शासन-व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन करना ऐसी कठिनाइयों से परिपूर्ण है। जिनमें कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्णय करने को और कोई दूरदर्शी व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने को और कोई ईमानदार व्यक्ति उसका वचन देने को एकदम तैयार नहीं हो सकता।”

इस बारे में मूरे ने लिखा है, “ इन शब्दों में बर्क ने अपने इस मौलिक विश्वास को प्रस्तुत किया है कि राज्य कोई मानव-कृत यंत्र न होकर एक अति जटिल सावयव है। जिसके स्वरूप को निर्धारित करने में व्यक्तियों के प्रयत्नों ने निश्चय ही सहायता पहुंचायी है किन्तु जिसके विकास एवं लक्ष्य को कोई व्यक्ति पूर्णतः नहीं समझ सकता।”

इसलिए बर्क ने परम्परागत और प्रयोग सिद्ध अधिकार का समर्थन किया है। इसका प्रादुर्भाव किसी क्षणिक आवेश से न होकर लम्बे इतिहास के विकास का परिणाम होता है।

प्रतिनिधित्व प्रतिनिधित्व के बारे में बर्क ने लोकप्रिय प्रतिनिधित्व की जगह पर वास्तविक प्रतिनिधित्व की चर्चा की है। उसका मानना था कि प्रतिनिधित्व का यह आशय कभी नहीं होता कि जनता के अधिकांश भाग को प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार हासिल हो। क्योंकि नागरिकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता तथा देश के परिपक्व लोकमत में बहुमत का कोई महत्त्व नहीं होता। बर्क का मत है कि वास्तविक प्रतिनिधित्व वह है जिनमें हितों की समानता हो तथा उन लोगों में जो जनता के बीच में, जनता के नाम पर कार्य करते हैं, भावों एवं इच्छाओं की एकानुभूति हो। इससे स्पष्ट होता है कि बर्क के लिए प्रतिनिधित्व की दृष्टि से संस्था का कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि उसके संसदीय शासन का विचार बहुमत पर आधारित शासन का विचार नहीं था। बल्कि सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित अल्पमत के शासन का विचार था। बर्क ने ब्रिस्टल में दिये अपने भाषण में कहा

कि—“जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र एवं साम्राज्य के हितों के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपने विवेक का स्वतंत्रता पूर्वक उपयोग करे, चाहे वह उसके निर्वाचकों की इच्छा के प्रतिकूल ही क्यों न हो।”

राजनीतिक दल बर्क के अनुसार किसी भी देश की संसदीय शासन प्रणाली में राजनीति दलों का महत्त्व अपरिहार्य है। बर्क ने दलीय सरकार का उद्देश्य सम्पूर्ण राष्ट्र का कल्याण बताया। उसने राजनीतिक दल की परिभाषा इन शब्दों में दी, “दल उन व्यक्तियों का समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयत्नों में किसी विशिष्ट सिद्धांत पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं।”

बर्क ने राजनीतिक दलों के सदस्यों को एक इकाई के रूप में कार्य करने की बात का उल्लेख किया है तथा कहा है कि उन्हें ऐसे किसी गठबंधन एवं नेतृत्व को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो दलीय सिद्धांतों के विपरीत हो। दल के प्रति अपने निष्ठा के मार्ग को व्यक्तिगत विचारों के आड़े नहीं आने देना चाहिए। बर्क की धारणा थी कि व्यवस्थापिका के सदस्य अपने संगठित प्रयासों से ही राष्ट्रीय हितों की वृद्धि कर सकते हैं। यदि समान विचार वाले व्यक्ति परस्पर मिल जाते हैं तो राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रभावपूर्ण ढंग से विचार कर सकते हैं। बर्क की स्पष्ट घोषणा थी कि दलों का निर्माण स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाना घातक होगा। इस बारे में यह आवश्यक है कि सामान्य सिद्धांतों के आधार पर उन सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप देने के लिए ही दलों का गठन किया जाये।

क्रांति फ्रांसीसी क्रांति के बारे में बर्क के द्वारा लिखित पुस्तक ‘रिफ्लैक्शन्स ऑन द रेवोल्यूशन इन फ्रांस 1970’ में उसके क्रांति संबंधी विचार संगृहीत हैं। इसमें उसने फ्रांसीसी क्रांति का घोर विरोध किया। बर्क को क्रांतिकारी विरोधी विचारों के कारण प्रतिक्रियावादी भी समझा जाता था।

फ्रांसीसी क्रांति को उसने एक विनाशकारी घटना के रूप में देखा। उसके अनुसार इससे सर्वत्र अराजकता तथा अमानवीयता फैल गई थी। इस क्रांति की वजह से पुरानी संस्कृति का पतन हुआ। इसका उद्देश्य निर्माण न करके विध्वंस करना था। चर्च के साथ ही क्रांतिकारियों ने छेड़-छाड़ की थी इसलिए यह अनीश्वरवाद की ओर बढ़ रही थी। बर्क का कोमल हृदय इस क्रांति की घटनाओं से कांप उठा और उसने क्रांतिकारियों को आक्रमणकारी हिंसक, दस्यु, दुष्ट और आचरणहीन तक कह दिया। बर्क का मानना था कि फ्रांसीसी क्रांतिकारी जिस नये समाज के निर्माण की बात कर रहे थे, वह झूठ, भ्रम एवं फरेब पर आधारित अवधारणा थी। वस्तुतः वे क्रांतिकारी अपने कुकृत्यों को छिपाने के लिए ऐसा कर रहे थे।

15

जेरमी बेंथम

जेरेमी बेंथम को उपयोगितावाद का प्रवर्तक माना जाता है। वह व्यक्तिवाद का समर्थक, उच्च कोटि का सुधारवादी विधिवेत्ता के रूप में भी प्रसिद्ध है। बेंथम एक यथार्थवादी विचारक था। उसने सुखवाद का मनोवैज्ञानिक विवेचन करके इसे राज्य के कार्यों में लागू कराने का प्रयास किया। उपयोगितावाद को बेंथम ने एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। आधुनिक काल की लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के अंतर्गत सामाजिक सुधार, न्याय व्यवस्था में सुधार, जनसाधारण तथा पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में सुधार के लिए बेंथम ने विचार प्रस्तुत किए। उसके बारे में प्रो. डायसी ने कहा है कि वह विधि का प्रथम और महानतम दार्शनिक था। उसके देहान्त के बाद लंदन टाइम्स में प्रकाशित यह तथ्य समीचीन है—“मरणोपरान्त भी एक उदार निरंकुश की तरह ब्रिटेन की राजनीतिक गतिविधियों को वह प्रभावित करता रहा है।”

परिचय

जेरेमी बेंथम का जन्म 1748 में लंदन के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उसके पिता जर्भियाह बेंथम एक वकील थे। बेंथम बचपन से ही विचारशील था। छोटी उम्र में ही उसने लैटिन भाषा का ज्ञान प्राप्त किया और धीरे-धीरे ग्रीक तथा फ्रेंच भाषाएं भी सीख लीं। उसके पिता उसे वकील बनाना चाहते थे। प्रारंभ में बेंथम की शिक्षा वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में हुई और फिर उसे क्वीन्स कॉलेज ऑक्सफोर्ड में भेजा गया। वहीं से उसने 15 वर्ष की आयु में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

बेंथम ने 1763 में लिंकन्स इन में कानून का अध्ययन प्रारंभ किया और 1772 में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वकालत करना आरंभ कर दिया, किंतु वकालत में उसकी रुचि नहीं थी। अतः बेंथम ने वकालत छोड़कर कानूनशास्त्र तथा कानूनी दर्शन की ओर अपना ध्यान लगाया जिससे वह कानूनी पद्धति की त्रुटियों का पता लगाकर उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दे सके। 23 वर्ष की अवस्था में बेंथम ने प्रीस्टले के एक ग्रंथ *Essay on the Fast Principles of Government* को पढ़ा, “किसी सरकार का मूल्यांकन उसके नागरिकों के बहुमत की प्रसन्नता पर ही किया जा सकता है” (*The happiness of the majority of its members is the standard by which a state should be judged.*)। इस लेख को पढ़कर बेंथम बहुत प्रभावित हुआ। इसी पुस्तक के एक पृष्ठ पर ह्योसन की पुस्तिका *System of Moral and Philosophy* से लिया गया ‘अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख’ (*The greatest happiness of the greatest number*) का वाक्यांश मिला। बेंथम ने लिखा है कि, “इस पुस्तिका से तथा इस पृष्ठ से मैंने इस वाक्यांश को ग्रहण किया।इसे देखते ही आंतरिक आनंद से जैसे ही चिल्ला पड़ा, जैसे द्रवस्थिति विज्ञान के मौलिक सिद्धांत का पता लगने पर आर्कीमिडीज ‘योरेका’ (मैंने पा लिया) कहते हुए चिल्लाया था। तभी से उसका विश्वास हो गया कि राज्य का प्रमुख कार्य अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख की व्यवस्था करना है। बेंथम दो सालों तक भारत, मैक्सिको, चिली, अमेरिका, यूरोपीय महाद्वीप देशों का परिभ्रमण करता रहा। इसका उद्देश्य विधि संहिता को बनाना तथा उसका संकलन करना था।

बेंथम की चर्चित किताब *'Principles a Moral and Lagislation'* का प्रकाशन सन् 1789 में हुआ। इससे वह अलौकिक बुद्धि सम्पन्न विधान निर्माता समझा जाने लगा जिससे विदेशों में विधान निर्माण और कानून सुधार के लिए उसके विचारों को आमंत्रित किया जाने लगा। विदेशों में फैले उसके प्रभाव का वर्णन करते हुए हैजलिट ने कहा है कि, “उसका नाम इंग्लैंड में बहुत कम व्यक्ति जानते हैं, यूरोप में इसे अधिक व्यक्ति जानते हैं, किन्तु चिली के मैदानों और मैक्सिको की खानों में उसका नाम सबसे अधिक व्यक्ति जानते हैं।” उसकी कृतियों और सेवाओं से प्रभावित होकर 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा द्वारा उसे ‘फ्रांसीसी नागरिक’ की उपाधि से सम्मानित किया गया। महान् अर्थशास्त्री रिकार्डो उसका अनुयायी था और मिल रिकार्डो का आध्यात्मिक पिता था, इस प्रकार रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र था।

बेंथम का लेखन कार्य से नियमित जुड़ाव रहा। 1788 में उसकी भेंट जेनेवा वासी *Miss Dumont* से हुई जिसने उसकी रचनाओं का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। उसे 1821 में बोरिंग नामक युवक का सहयोग मिला, जिसने बेंथम के कुछ

ग्रंथों को 11 खण्डों में प्रकाशित किया। फिर भी बेंथम के बहुत से लेखों का संग्रह अभी भी अप्रकाशित ही है। 1827 में उसने लंदन विश्वविद्यालय के मूल में यूनिवर्सिटी कॉलेज की स्थापना इस उद्देश्य से की थी कि वह ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के दूषित वातावरण से मुक्त रहे। चर्च के प्रभाव को दूर रखने के लिए यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन को यूनिवर्सिटी में बदल दिया गया। बेंथम का अनुकरण करते हुए ग्रेट ब्रिटेन के अन्य नगरों मानचेस्टर, लीड्स, बरमिंघम, लिवरपूल, रीडिंग, शेफील्ड, ब्रीस्टल तथा स्वानासी में कालेज स्थापित किये गये जहां विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

जेरमी बेंथम उपयोगितावाद के अलावा सुधारवाद का भी समर्थक था। उसके विचारों को यूरोप और अन्य देशों में सम्मान मिला। बेंथम सारी जिंदगी अविवाहित रहा। उसका देहान्त 84 साल की उम्र में 6 जून 1832 को हुआ।

बेंथम के राजनीतिक विचार

राज्य तथा उसकी प्रकृति बेंथम के उपयोगितावाद संबंधी विचारों से राज्य के बारे में उसकी धारणा की जानकारी मिलती है। इस आधार पर वह राज्य का लक्ष्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' घोषित करता है। इसका अर्थ है कि राज्य व्यक्ति के सुख का साधन है, स्वयं वह साध्य नहीं है। बेंथम प्लेटो और अरस्तू की तरह इस बात से सहमत नहीं था कि राज्य का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन की स्थापना करना है।

इस बारे में बेंथम ने लिखा है कि, "अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों के व्यक्तिगत सुखों का योग मात्र है। इसमें समस्त समाज का सामूहिक हित इसमें सम्मिलित नहीं है।" अर्थात् बेंथम के लिए व्यक्ति के व्यक्तित्व के अतिरिक्त आदर्शवादियों की तरह राज्य का न तो अपना कोई निजी अस्तित्व है और न व्यक्तित्व। वह व्यक्तिवादी धारणा का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि 'राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं।'

बेंथम ने राजनीतिक समाज को इस प्रकार परिभाषित किया है—“जब कुछ संख्या में व्यक्ति (जिन्हें हम प्रजाजन कह सकते हैं) स्वभावतः किसी जाने हुए तथा निश्चित प्रकार के व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह (जिन्हें हम शासक अथवा शासक वर्ग कह सकते हैं) के आदेशों का पालन करते हैं तो हम उन सबको (प्रजा या शासक) सामूहिक रूप से राजनीतिक समाज की संज्ञा दे सकते हैं।”

इस प्रकार बेंथम की इस परिभाषा से यह पता चलता है कि मनुष्यों को

राजनीतिक समाज के अंतर्गत बांधकर रखने वाला एक मात्र सूत्र शासकों का आदेश है और लोग सामूहिक कल्याण की दृष्टि से राज्य में अपने आप ही नहीं बंधते हैं। बेंथम ने कहा है कि सामूहिक कल्याण नाम की कोई वस्तु नहीं है, विभिन्न व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् हित के योग का नाम ही सामाजिक हित है। उसने राज्य में कोई आध्यात्मिक गुण अथवा इसे दैवी संस्था या सामाजिक अवयव मानने से मना कर दिया। उसका विचार था कि विभिन्न लोग अपने आनंदों की प्राप्ति के लिए राज्य के आदेश से इकट्ठे बंध जाते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक-समझौता सिद्धांत का खंडन बेंथम से पूर्व राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धांत प्रचलित था। हॉब्स, लॉक और रूसो इसके संस्थापक और प्रबल समर्थक थे। सामाजिक समझौते के अनुसार तत्कालीन लोगों ने अपने बहुत से अधिकार राज्य को प्रदान कर दिये। उस समझौते की शर्तों के अनुसार ही हम राज्य के आदेशों का पालन करते हैं। बेंथम का राज्य के सामाजिक समझौता सिद्धांत में कोई विश्वास नहीं था। उसका मत था कि, “मेरे लिए आज्ञा पालन जरूरी है, इसलिए नहीं कि मेरे प्रपितामह ने जॉर्ज तृतीय के प्रपितामह से कोई समझौता किया था, वरन् इसलिए कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है।” इसलिए बेंथम ने कहा कि राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिए करते हैं कि ऐसा करना उसके लिए लाभदायक और उपयोगी है।

राज्य के उद्देश्य तथा कार्य बेंथम के समकालीन राजनीतिक दार्शनिकों का यह विचार था कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। फ्रांस की क्रांति के समय मानव अधिकारों की घोषणा में कहा गया था कि, “प्रत्येक राजनीतिक समुदाय का उद्देश्य मनुष्य के प्राकृतिक तथा अलंघनीय अधिकारों का संरक्षण करना है। ये अधिकार हैं—स्वतंत्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा तथा अत्याचार का विरोध करना। ये अधिकार मनुष्य को प्रकृति द्वारा मिले हुए हैं।” किसी भी सरकार के लिए इस बात पर काफी बल दिया कि राज्य का वही उद्देश्य है जो कि मनुष्य के जीवन में सुख अर्थात् उपयोगिता को अधिक से अधिक बढ़ाये। **बेंथम** ने एक स्थान पर लिखा है कि, “दंड तथा पुरस्कार के द्वारा समाज के सुख की वृद्धि करना ही सरकार का मुख्य उद्देश्य है।” बेंथम ने इस बात पर बहुल बल दिया कि जो सरकार लोगों के अधिक से अधिक सुख की वृद्धि नहीं करती, उसे सत्तारूढ़ रहने का कोई अधिकार नहीं है।

जेरेमी बेंथम ने जनता के जीवन के लिए चार चीजों को अनिवार्य समावेश किया है—आजीविका, प्रचुरता, समानता और सुरक्षा। राज्य को इन्हीं की वृद्धि करनी चाहिए। बेंथम स्वतंत्रता को इनमें सम्मिलित नहीं करता क्योंकि वह स्वतंत्रता को

सुरक्षा की एक शाखा मानता है। उसका मत है कि लोगों को वहीं तक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए जहां तक इससे सुख में वृद्धि हो। लोगों की सुरक्षा खतरे में डालकर उनको स्वतंत्रता प्रदान नहीं की जा सकती है। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख है न कि अधिकतम स्वतंत्रता।

राज्य के कार्य के बारे में बेंथम का दृष्टिकोण निषेधात्मक है। इस बारे में उसने कहा है कि राज्य का व्यक्ति के कार्यों में जहां तक भी संभव हो सके, हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसके शब्दों में, “हर कानून बुराई है क्योंकि हर कानून से स्वतंत्रता का अतिक्रमण होता है, इसलिए सरकार को दो बुराइयों में से किसी एक को चुनना होगा। इस प्रकार का चुनाव करते समय कानून बनाने वाले का क्या उद्देश्य होना चाहिए? उसे अपने को दो चीजों के सम्बंध में संतुष्ट कर लेना चाहिए, प्रथम, वे चीजें जिन्हें वह रोकना चाहता है, हर हालत में बुरी हैं। दूसरे, ये बुराइयां उन बुराइयों से बड़ी हैं जिन्हें वह इनके दूर करने के प्रयोग में लाना चाहता है।” बेंथम के अनुसार राज्य को व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को भली-भांति जानता है। इसलिए सभी व्यक्ति अपने साधनों के अनुरूप सुख प्राप्त कर सकते हैं।

कानून बेंथम के काल में कई दार्शनिक प्राकृतिक कानून की धारणा में भी विश्वास रखते हैं। बेंथम ने इस धारणा का खंडन करते हुए कहा कि प्राकृतिक कानून नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्रकृति किसी कानून को नहीं बनाती है। उस समय ईश्वरीय इच्छा पर भी बल दिया जाता था जबकि बेंथम ने इसे भी अस्वीकार करते हुए कहा कि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से अपनी इच्छा को प्रकट नहीं करता है इसलिए ईश्वरीय इच्छा का भी हमें ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए कानून साधारण व्यक्ति की इच्छा न होकर विशिष्ट व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा ही है।

कानून के क्षेत्र में इसे लागू करने की वकालत करते हुए बेंथम ने कहा है कि अधिकतम लोगों का हित ही एक ऐसा सिद्धांत, जिसके अनुसार सही कानूनों का निर्माण किया जा सकता है, क्योंकि मानव प्रकृति के अनुकूल होने के कारण ऐसे कानून ही सार्वभौम और कालातीत हो सकते हैं और किसी भी समय किसी भी देश में उनको उपयोगी ढंग से लागू किया जा सकता है। बेंथम कानून के संदर्भ में परम्पराओं और रीति-रिवाजों को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता। उसका मत था कि कोई वस्तु या कानून इसलिए उपयोगी और अच्छा नहीं माना जा सकता कि वह परम्पराओं पर आधारित है या प्राचीन समय में समाज में मान्य है। कानून के संबंध

में अपने इन विचारों के कारण ही उसने इंग्लैंड में कानून सुधार के लिए बहुत बड़े आंदोलन को जन्म दिया, क्योंकि इंग्लैंड में अधिकांश कानून 'कॉमन लॉ' पर आधारित थे, जो कि पूर्णतः परम्पराओं पर आधारित था। बेंथम की उपयोगितावादी मान्यता के अनुसार उसे उचित नहीं समझा जा सकता था।

कानून सुधार बेंथम के काल में जो कानून प्रचलित थे उनकी भाषा काफी कठिन थी। सामान्य पढ़े-लिखे व्यक्ति उन कानूनों को नहीं समझा पाते थे। उसके समय में कानून अव्यवस्थित थे। उसका सुझाव था कि पुराने तथा अनावश्यक कानूनों को रद्द कर दिया जाये तथा समस्त कानूनों को संगृहीत कर उनकी संहिता बना दी जाये। कानून की भाषा सरल हो जिससे साधारण व्यक्ति उसे समझ सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने स्वयं ही कानूनों की अंतर्राष्ट्रीय, दीवानी, फौजदारी और सवैधानिक संहिताएं तैयार कीं और विधिशास्त्र को राजनीति से पृथक करने का कार्य प्रारम्भ किया। कानून सुधार के क्षेत्र में बेंथम द्वारा किये गये सुधारों की ओर संकेत करते हुए हेनरी मेन ने कहा कि "हम बेंथम से लेकर आज तक होने वाले ऐसे किसी वैज्ञानिक सुधार को नहीं जानते जिस पर प्रभाव न पड़ा हो।

बेंथम ने कानून के पारंपरिक दृष्टिकोण को उग्र विरोध किया। वह चाहता था कि उनका निर्माण अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धांत के अनुसार किया जाए, क्योंकि उसकी मान्यता थी कि, 'अधिकतम सुख का सिद्धांत एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन देता है जिसके द्वारा वह 'विवेक तथा विधि के हाथों सुख के वस्त्र' बना सकता है।

बेंथम के अनुसार अच्छे कानून की कसौटी उपयोगिता है, क्योंकि उसके अनुसार कानून का सर्वप्रमुख कार्य, 'सर्वहित की भावना को इस प्रकार अनुशासित करना है जिससे वह अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अधिकतम सुख प्राप्ति में योग दे सके।' बेंथम ने कानून की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हुए इस प्रकार के मापदंड को प्रस्तुत किया है।

(1) सुरक्षा पहला मापदंड यह है कि कानून राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा प्रदान करता है या नहीं।

(2) पर्याप्तता कानून से नागरिक को अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती हैं या नहीं।

(3) समानता कानून से प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नहीं।

(4) **आजीविका** राज्य के द्वारा आजीविका के लिए परिस्थितियाँ कायम की जा सकती हैं। इसमें जो जिसके पास है उसी के पास रहे, यह अवधारणा शामिल है। अतः आजीविका के संदर्भ में कानून लोगों को श्रम तथा श्रम के फलस्वरूप सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

बेंथम ने कानून के चार प्रकारों का वर्णन किया है—

1. अंतर्राष्ट्रीय कानून,
2. संवैधानिक कानून,
3. नागरिक कानून,
4. फौजदारी कानून।

सम्प्रभुता बेंथम ने उसे व्यक्ति अथवा समूह को संप्रभु के रूप में देखा जिसकी इच्छा का पालन जनता स्वभाव से करती है। इस दृष्टि से बेंथम राज्य को सम्प्रभु मानता है क्योंकि उसकी इच्छा का सभी व्यक्ति पालन करते हैं राज्य की सम्प्रभुता को बेंथम असीमित मानता है। लेकिन वह उपयोगिता के आधार पर उस पर प्रतिबंध भी लगाता है। उसके मतानुसार सम्प्रभुता पर जनता के हितों और स्वार्थों पर प्रतिबंध लगाता है। उसके अनुसार यदि, “विशाल जनमत किसी विधि का विरोध करता है तो सम्प्रभु का कर्तव्य है कि वह उसे कानून का रूप कदापि प्रदान न करे।”

बेंथम ने व्यक्ति को संप्रभु की आज्ञा का पालन और कानूनों का अनुसरण उसी सीमा तक करने को कहा है जहाँ तक उससे उसकी उपयोगिता लक्ष्य सिद्ध हो अर्थात् यथेष्ट लाभ प्राप्त हो। इसलिए साधारणतः बेंथम जनता को सम्प्रभु के आदेशों का पालन कर्तव्य के रूप में करने के लिए कहता है परंतु वह यह भी मानता है कि यदि सम्प्रभु के आदेश की अवज्ञा करना उसके आदेश पालन करने की तुलना में अधिक उपयोगी और आनंददायक हो तो जनता का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह सम्प्रभु का विरोध करे। बेंथम के शब्दों में, “अवज्ञा की उपयोगिता आज्ञापालन से अधिक हो तो ऐसे सम्प्रभु की अवज्ञा प्रत्येक नागरिक का नैतिक अधिकार और कर्तव्य है।”

इस प्रकार बेंथम ने उपयोगिता के आधार पर जनता को संप्रभु के विरोध का अधिकार दिया है। बेंथम की यह मान्यता है कि राज्य से बड़ी कोई शक्ति नहीं जो उसे किसी अधिकार को मानने के लिए विवश करे। बेंथम के शब्दों में, “सर्वोच्च प्रशासक की सत्ता, जिसे तब तक अनंत नहीं कहा जा सकता जब तक कि परम्पराओं द्वारा स्पष्ट रूप से सीमित न कर दी गयी हो, मेरे विचार में अवश्य ही अनिश्चित मान ली जानी चाहिए।”

बेंथम ने सम्प्रभु को असीमित तथा अनिश्चित अधिकार देते हुए भी उस पर प्रतियोगिता का प्रतिबंध लगाकर उसे सीमित करने का प्रयत्न किया है।

अधिकार&प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत में बेंथम का विश्वास नहीं था। इसका कारण उसका उपयोगितावादी दृष्टिकोण था। वह उन्हें पूर्णतः मूर्खतापूर्ण तथा अप्राकृतिक उच्चता के आसन पर बैठी अलंकारिक मूर्खता का द्योतक” मानता है। बेंथम प्राकृतिक शब्द को एक भ्रामक और उलझन में डालने वाला समझता है। इसलिए वह प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन करते हुए कहता है कि इनका समाज और व्यक्तियों के लिए कोई महत्त्व नहीं है। बेंथम यह मानता है कि अधिकारों का अस्तित्व और उनकी सार्थकता समाज में ही सम्भव है, क्योंकि समाज ही उनका निर्माता है और उनके निर्माण का उद्देश्य सुखमय जीवन की प्राप्ति है। बेंथम अधिकारों की परिभाषा करते हुआ कहता है कि “अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं, जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।” उसने सभी अधिकारों को सामाजिक उपयोगिता पर आधारित माना है।

समानता और स्वतंत्रता के प्राकृतिक अधिकारों से बेंथम ने असहमति प्रकट किया है। इसका विचार है कि, “पूर्ण स्वतंत्रता पूर्ण रूप से असंभव है। पूर्ण स्वतंत्रता प्रत्येक सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है। क्या सब मनुष्य स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होते हैं? क्या वे स्वतंत्र रहते हैं? एक भी आदमी ऐसा नहीं है। इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।”

बेंथम के द्वारा दो प्रकार के अधिकारों का वर्णन किया गया है—

(1) कानूनी अधिकार&कानूनी अधिकारों का सम्बंध मनुष्य के बाह्य आचरण से होता है।

(2) नैतिक अधिकार& नैतिक अधिकारों का सम्बंध मनुष्य के आंतरिक आचरण से होता है।

बेंथम ने निम्नलिखित अधिकारों का उल्लेख किया है—

(1) सम्पत्ति का अधिकार&सम्पत्ति के अधिकार को बेंथम सुरक्षा के आदर्श से जोड़ता है जिसे बनाये रखना कानून का दायित्व है। उसके अनुसार व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसे बिना क्षतिपूर्ति के नहीं छीना जा सकता।

(2) समानता का अधिकार&बेंथम यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के समान इस दृष्टि से है कि प्रत्येक व्यक्ति का महत्त्व दूसरे व्यक्ति के बराबर होता है।

(3) अवज्ञा का अधिकार&बेंथम प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के कानूनों की

अवज्ञा का अधिकार उस स्थिति में देता है जबकि वह अवज्ञा को आज्ञापालन से अधिक हितकारी समझे।

इस तरह प्राकृतिक अधिकारों का विरोध करते हुए बेंथम ने अधिकारों के आधार के रूप में उपयोगिता को देखा है। वह अधिकार के मूल में कानून को देखता है न कि प्रकृति को।

शासन प्रणाली शुरू में बेंथम ने किसी विशिष्ट अधिकार की शासन प्रणाली में किसी प्रकार की रुचि का प्रदर्शन नहीं किया। इस बारे में उसका मानना था कि शासन प्रणाली कैसी भी हो, राज्य का वास्तविक उद्देश्य (अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित) पूरा होना चाहिए परंतु बाद में उसने अपना विचार बदल दिया उसने अनुभव किया कि मनुष्य में स्वार्थ की प्रधानता होती है। इस आधार पर उसने निष्कर्ष निकाला कि कभी किसी शासक वर्ग के सदस्य, कोई राजा कोई वंशानुगत अभिजात वर्ग, कोई पादरी वर्ग अथवा न्यायाधीश ऐसा नहीं हुआ जिसमें मन में अपनी शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाने के अतिरिक्त और कोई इच्छा रही हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए अधिक से अधिक सार्वजनिक अहित करने से नहीं चूकता, जब तक कि उसे ऐसा करने से रोका न जाये।

बेंथम ने राजतंत्र को अच्छी प्रणाली की शासन व्यवस्था के रूप में नहीं देखा क्योंकि इसमें शक्ति राजा के हाथ में होती है और वह अपनी शक्ति से किसी अनुचित उद्देश्य के लिए प्रयोग कर सकता है साथ ही उससे अधिक से अधिक व्यक्तियों का कल्याण संभव नहीं है। यद्यपि कुलीनतंत्र में सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में पायी जाती है परंतु इसमें गणतंत्र की अपेक्षा ईमानदारी कम पायी जाती है और राजतंत्र की तुलना में शक्ति कम पायी जाती है। बेंथम गणतंत्र के पक्ष में था क्योंकि इस प्रकार की सरकार कार्य-कुशलता बचत और जनता की सम्प्रभुता में सहायक होती है। बेंथम के शब्दों में, “यह दुर्गुणी दुनिया गणतंत्रों में ढाल दिये जाने पर ठीक हो सकती है।” लोकतंत्र को अच्छी सरकार मानने का उसका कारण यह था कि कानून बनाने की शक्ति बहुत अधिक लोगों के हाथों में होती है, इसलिए इसमें अधिकतम व्यक्तियों का हित संभव है। लोकतंत्र के सम्बंध में उसके सुझाव थे कि संसद के चुनाव व्यस्क मताधिकार के आधार पर प्रतिवर्ष कराये जायें, मतदान गुप्त हो और जनता का सरकार पर अधिक नियंत्रण हो। राज्य कर्मचारियों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर हो और उनकी शक्तियों का दुरुपयोग करने से रोका जाये।

न्याय प्रणाली में सुधार बेंथम अपने काल की न्याय प्रणाली का आलोचक था। उसने उसमें सुधार के कई सुझाव प्रस्तुत किये। उसका विचार था कि न्याय

प्रणाली में सुधार हो जिससे न्याय साधारण व्यक्ति तक पहुंच सके। उस समय इंग्लैंड की न्याय व्यवस्था बहुत कठोर थी। 1801 में 12 वर्ष की आयु में एक बच्चे को चम्मच चुराने के अपराध में फांसी पर लटका दिया गया था। उस समय इंग्लैंड में 200 से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। न्यायालय में लम्बी-लम्बी बहसें होती थीं। कानूनी दांव-पेंच चलते थे। वकील बहुत फीस लेते थे। इसलिए बेंथम ने वकीलों की बहुत आलोचना की। उसका मत था कि “जिस देश में न्याय बेचा जाता था, बहुत महंगा बेचा जाता है और वह जो व्यक्ति इसका दाम नहीं चुका सकता न्याय से वंचित रह जाता है।”

लेकिन न्याय को व्यावसायिक रूप ग्रहण करते देखकर बेंथम न्यायाधीशों और वकीलों का मजाक उड़ाया करता और उन्हें ‘जज एण्ड को.’ (न्यायाधीशों और वकीलों की व्यावसायिक कम्पनी) कहा करता था। उसका मत था कि जज उन व्यक्तियों से भी अधिक दुष्ट होते थे, जिन्हें भयंकर अपराधी कहकर उनको मृत्युदंड दे दिया जाता था। बेंथम का मत था कि इंग्लैंड में कानून जजों के लाभ के लिए ही बनाये जाते हैं। जजों के सम्बंध में उनका कहना था कि, “ये लोग क्रियाहीन और शक्तिहीन जाति के हैं। जो सब अपमानों को सह लेते हैं तथा किसी भी बात पर झुक जाते हैं। इनकी बुद्धि न्याय और अन्याय के भेद को समझने में असमर्थ और दोनों के प्रति उदासीन है। ये लोग बुद्धि शुन्य, अल्पदृष्टि, दुराग्रही और आलसी है। ये झूठे, भय से कांप जाने वाले, विवेक एवं सार्वजनिक उपयोगिता की आवाज के प्रति बहरे, शक्ति के आगे नतमस्तक और साधारण से स्वार्थ के पीछे नैतिकता का परित्याग करने वाले हैं।” वकीलों के संबंध में उनकी धारणा थी कि, “ये आलसी, न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारे पर नाचने वाले होते हैं।”

बेंथम ने न्यायिक क्षेत्र में सुधार के कई सुझाव प्रस्तुत किए। इनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

1. कानूनों को सरल, सुबोध तथा स्पष्ट बनाया जाना चाहिए।
2. वकीलों को अपने व्यवसाय तथा व्यवहार में सदाचार का प्रदर्शन करना चाहिए।
3. जूरी प्रथा समाप्त की जानी चाहिए जिससे जज में उत्तरदायित्व की भावना पैदा हो। डेविडसन के शब्दों में, “बेंथम न्यायालयों के सारे पदों पर नया उत्तरदायित्व रखने का समर्थक था और इस विषय में वह ‘ट्रिब्यूनल’ की अपेक्षा एक ही न्यायाधीश रखने के पक्ष में था। उसकी मान्यता थी कि किसी

मामले पर तीन न्यायाधीशों का निर्णय करना तीनों के ही उत्तरदायित्व में कमी करना है।”

4. विवाचक द्वारा न्याय-प्राप्ति के कार्य को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।
5. न्यायालयों में अपनाई जाने वाली प्राविधिक पद्धति का अंत किया जाना चाहिए। प्रो. सेबाइन के शब्दों में, “प्राविधिक पद्धति का अभिप्राय यह है कि विधि के परम्परागत वर्गीकरण और प्राविधिक प्रक्रियाओं, प्रथागत शब्दावली, आदेशों और उपक्रमों को शिरोधार्य किया जाए।”
6. उसने दंड विधान का भेदभाव से परे रखने का परामर्श दिया।
7. दण्ड का लक्ष्य बदले की भावना न होकर अपराध में सुधार लाना होना चाहिए।
8. बेंथम ने जेल की काल कोठरियों को सुधारगृह में बदलने का सुझाव दिया। वह गोलाकार कारावास जैसी जेलों का समर्थन करता है जिसके अंतर्गत जेलन अपनी केबिन में बैठकर अपने चारों ओर से बन्दियों की कोठरियों में बन्दियों की गतिविधियों को देख सकता है तथा उन्हें सुधारने का प्रयास कर सकता है। सेबाइन ने बेंथम के सुधारों के बारे में लिखा है कि बेंथम का न्यायशास्त्र विषयक कार्य उसका सबसे महान कार्य था। यह 19 वीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से था। न्यायशास्त्र को बेंथम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने संबंध में उल्लिखित दृष्टिकोण को विधि की समस्त शाखाओं, दीवानी तथा फौजदारी विधि, प्रक्रियागत विधि और न्याय-व्यवस्था के संगठन पर लागू किया।”

दंड सुधार बेंथम के काल में दण्ड व्यवस्था का स्वरूप कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी मृत्युदंड दिया जाता था। उसने उपयोगिता के सिद्धांत के अनुसार इस क्षेत्र में भी सुधार का बहुत प्रयत्न किया। उसके शब्दों में, “सभी प्रकार का दण्ड अपने आप में बुराई है। यदि उपयोगिता सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए दंड देना आवश्यक हो तो उसका वहीं तक प्रयोग करना चाहिए जहां तक कि वह उससे भी बड़ी बुराई को दूर करने में समर्थ हो सके।”

बेंथम ने दंड देने के कुछ सुनिश्चित नियमों को सामने रखा—

1. दंड की मात्रा अपराध से होने वाले लाभ अथवा हानि के अनुसार कम या अधिक हो।
2. दंड सम होना चाहिए जिससे इसके द्वारा अनावश्यक दुःख न हो।
3. दंड उदाहरण स्वरूप हो जिससे अपराधियों तथा अन्य लोगों को भविष्य के लिए शिक्षा मिले।
4. दंड उसी प्रकार के अपराधों में दिये गये अन्य दंड के समान हो।

5. दंड में कष्ट की मात्रा अनावश्यक न हो, उतना ही कष्ट दिया जाये जितना कि अपराधी को सबक सिखाने तथा भविष्य में अपराध के विषय में हतोत्साहित करने के लिए पर्याप्त हो।
6. दंड न्यायोचित हो अर्थात् जनता उसे उचित माने।
7. दंड सदैव ऐसा हो कि भूल का पता लगने पर उसे रद्द किया जा सके तथा घटाया-बढ़ाया जा सके।
8. अपराधी को इस बात के लिए बाध्य किया जाये कि वह हानि पहुंचाने वाले व्यक्ति की हानि की पूर्ति करे।
9. दंड इस प्रकार का हो कि जो अपराधी को भविष्य में अपराध करने के अयोग्य बना दे, आदि।

बेंथम ने बहुत जरूरी दशा में जब समाज की सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो मृत्यु दंड को लागू करने की वकालत की। उसका यह भी सुझाव था कि दंड जहां तक हो सके सार्वजनिक रूप से दिया जाये। इस बारे में उसकी समझ थी कि अपराधी को दंड पाते हुए देखकर लोग भयभीत होंगे तथा अपराध से दूर रहेंगे।

बेंथम ने दण्ड निर्धारण की प्रक्रिया में कई बातों का ध्यान रखने का निर्देश दिया जैसे—इस बात का ध्यान रखा जाये कि अपराधी छोटा है या बड़ा, उसने किन परिस्थितियों में अपराध किया है, अपराधी का उद्देश्य क्या था तथा पीड़ित व्यक्ति को कितनी हानि पहुंची है। बेंथम के शब्दों में, “सभी प्रकार के दंड स्वयं में एक बुराई है। यदि उपयोगिता के हित में इसको प्रयोग में लाया जाए तो यह तभी लाया जाए जब इसके द्वारा किसी बुराई का निराकरण होता हो।”

जेल सुधार—बेंथम के समय में जेलों की दशा काफी खराब थी। उनमें अंधेरा रहता था और गंदे तहखाने बने हुए थे। कैदियों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। उनको खराब खाना दिया जाता था। छोटे-बड़े, नये-पुराने साधारण और घोर अपराधी बन जाते थे।

बेंथम ने जेलों की इन दुःपरिस्थितियों में सुधार की चर्चा की। इसके लिए उसने एक योजना प्रस्तुत की। उसने एक गोलाकार जेल बनाने का सुझाव दिया। जिसे अंग्रेजी में पेन ऑप्टिकॉन कहा जाता था। Pan अर्थात् सर्व और Opticon अर्थात् दृष्टा अर्थात् सर्वदृष्टा जेल। इसमें एक गोलाकार जेल होती, जिसमें कैदियों के कमरे होते, जिनकी छत शीशे की होती और बीच में एक मीनार होती, जिसमें ऊपर निरीक्षक का शीशे का कमरा होता, जिसमें से बैठा हुआ निरीक्षक सभी जेलियों को शीशे की छत से देखता रहता और जिस कैदी को सुधारने की जैसी उपचार की

आवश्यकता होती उसके लिए वैसी व्यवस्था कर दी जाती। अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बेंथम ऐसी किसी जेल का निरीक्षक बनना चाहता था लेकिन वह निरीक्षक नहीं बन पाया।

बेंथम का विश्वास था कि जेल में अधिकारियों को कैदियों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए ताकि उनके जीवन में सुधार आ सके। उसका मत था कि कैदियों को कोई काम सिखाया जाये जिससे वे जेल से बाहर आकर अपनी आजीविका कमा सकें। बेंथम का यह भी विचार था कि कैदियों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाये और उनका चरित्र उन्नत किया जाये। जेल से छूटने के बाद कैदियों को तुरंत काम दिलाने की व्यवस्था हो जिससे वे पुनः अपराध करना शुरू न कर दें।

शिक्षा सुधार शिक्षा भी एक अन्य ऐसा क्षेत्र है जिसमें बेंथम ने सुधार की योजना प्रस्तुत की इस बारे में उसका विचार था कि, “शिक्षा का आरंभ उस विधा से करो जो उपयोगी हो, जो बालक के भावी जीवन में सहायक हो।” उसका यह भी मत था कि शिक्षा का प्रारंभ सरलता से जटिलता की ओर होना चाहिए। वह यह भी चाहता था कि राज्य निर्धन बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करे। बेंथम का यह भी विचार था कि राज्य को इस प्रकार का प्रत्येक प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि निर्धन बालकों का स्तर ऊंचा हो सके और उनको इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाया जा सके जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी हो। उसने विज्ञान और अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा पर बहुत बल दिया। बेंथम के ये सुधारवादी विचार यद्यपि उस समय के शासकों को अच्छे नहीं लगे लेकिन बाद में इनके अनुरूप सुधार किये गये।

चर्च बेंथम ने चर्च की भी आलोचना की। वह चर्च के पादरियों को उन्नति का विरोधी मानता था। उसके शब्दों में, “पादरी उन लोगों का वर्ग है जो स्वभावतः अतीत की प्रशंसा वर्तमान पीढ़ी को दबाने और उत्साहीन बनाने के दृढ़ उद्देश्य किया करते हैं।”

बेंथम लॉर्ड सभा में पादरियों को प्रतिनिधित्व देने का विरोधी था। बेंथम धर्म का विरोध करते हुए कहता था कि धर्म से समाज को हानि पहुंचती है क्योंकि यह नास्तिकों और आस्तिकों के बीच घृणा उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार बेंथम ने अपनी सुधार योजनाओं में तत्कालीन इंग्लैंड में व्याप्त अनेक बुराइयों को दूर करने के सुझाव दिये, परंतु तत्कालीन सरकार ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। जेरेमी बेंथम के विचारों के अनुरूप, उसके देहांत के बाद इंग्लैंड के अलावा सभी देशों की सरकारों के द्वारा सुधार कार्य किये गये।

16

जॉन स्टुअर्ट मिल

परिचय

जॉन स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद के अंतिम विचारक के रूप में देखा जाता है। उसका योगदान उपयोगितावादी दर्शन को एक नई दिशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण है। मिल राजनीतिक दार्शनिक के रूप में बहुत प्रतिष्ठित नहीं है लेकिन उसकी पुस्तक ऑन लिबर्टी को बौद्धिक दृष्टि से काफी प्रतिष्ठा मिली। यद्यपि उसके विचारों में विरोधाभासों का समावेश है। इसके बावजूद उसका प्रभाव आधुनिक विश्व पर दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों ने उसे महान् दार्शनिक, स्वतंत्रता का पुजारी, व्यक्तिवाद का सिरमौर, महान न्यायविद् तथा अर्थशास्त्री कहा तो कुछ लोगों ने उसे प्रक्रियावादी, बुर्जुआ तथा लंगड़ा समाजवादी कह डाला। बाउले के शब्दों में, “..... और यदि लेखकों की योग्यता का निर्णय इस बात से होता है कि उनका नीति पर क्या प्रभाव पड़ा तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊँचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में उसे अपने युग में एक अवतार समझा जाता था।” यद्यपि मिल ने किसी नवीन विचारधारा को जन्म नहीं दिया फिर भी राजनीतिक विचारों के इतिहास में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

जीवन परिचय—जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 20 मई, 1806 को लंदन में हुआ था। उसके पिता जेम्स मिल बेंथम के आजीवन शिष्य रहे। छात्रावस्था में वह एक मेधावी छात्र था। तीन वर्ष की आयु में जे. एस. मिल ने ग्रीक भाषा का तथा 8 वर्ष

की आयु में लैटिन भाषा का अध्ययन किया। 11 वर्ष की आयु में मिल ने दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन किया और होमर, प्लेटो, हीरोडोटस, थ्यूसीडाइड्स, अरिस्टोफेस, डिमान्सथेनीज तथा अरस्तू के तर्कवाद का अध्ययन किया। 11 वर्ष की अवस्था में ही उसने लिवी और डायोनीसियास की पुस्तक का गहन अध्ययन किया। उसने तर्कशास्त्र का भी बहुत अध्ययन किया। उसने फ्रांस जाकर फ्रेंच भाषा, गणित, रसायनशास्त्र तथा वनस्पति विज्ञान का अध्ययन किया। 15 वर्ष की अवस्था में इंग्लैण्ड वापस लौटकर उसने “मनोविज्ञान तथा विधिशास्त्र का गहन अध्ययन किया। 17 वर्ष की अवस्था में उसने उपयोगितावादी समाज की स्थापना की। 32 वर्ष से कम से आयु में ही वह 'London and Westminster Magazine' का सम्पादक बन गया था। जब उसकी उम्र 36 साल थी वह ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकरी करने लगा। वह बाद में इस कंपनी का निरीक्षक बन गया। सन् 1858 तक वह कार्यरत रहा।

मिल के विचारों पर दो बड़ी घटनाओं ने प्रभाव डाला—

वह अपने जीवन में बीस वर्ष की उम्र में तीव्र मानसिक अवसाद का भी शिकार हुआ। ऐसा उसके द्वारा बेंथम की पुस्तक ‘साक्षी की युक्तियुक्तता’ के संपादन के दौरान हुआ। इसमें उसने कड़ी मेहनत की, जिससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और तीव्र मानसिक अवसाद का शिकार हो गया। इस स्थिति में उसे बेंथम के सुखवाद के उस विरोधाभास की अनुभूति हुई कि “प्रसन्नता के पीछे भागो और वह तुम्हें नहीं मिलेगी, किंतु अन्य वस्तुओं की शोध करो और तुम्हारी साँसों में बस जायेगी।” उसने यह भी अनुभव किया कि अब तक उसने अपने आपको व्यर्थ की भावनाओं से कोरा रखा। अतः भविष्य में उसे अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को महत्त्व प्रदान करना चाहिए और उन्हें अपने नैतिक और दार्शनिक चिंतन का आधार बनाना चाहिए।

मिल अब वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज तथा गेटे की रचनाओं की ओर आकर्षित हुआ और उनके अध्ययन से सत्य की एक ऐसी झाँकी उसे मिली जो कि बेंथम की दृष्टि से कभी नहीं आयी थी। इससे मिल को मानसिक अवसाद से मुक्ति मिली और उसके विचारों में तथा मानसिक चिंतन में एक महान क्रांति आ गई। **डेविडसन** ने इसके बारे में लिखा है “उसके अंदर एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ, जिसमें अधिक गहरी सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव-प्राणी की आवश्यकताओं को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं की तृप्ति के महत्त्व को भी अनुभव किया था।”

जॉन स्टुअर्ट मिल का 1830 में अपने पड़ोस की एक सुंदर मेधावी युवती हेरियट टेलर से परिचय हुआ। वह एक दवा विक्रेता जॉन टेलर की पत्नी थी। श्रीमती टेलर के साथ मिल की घनिष्टता बढ़ती गई और 21 वर्ष तक दोनों में निष्काम प्रेम संबंध रहा। 1851 में जॉन टेलर की मृत्यु के उपरांत मिल ने श्रीमती टेलर से शादी कर ली। उसने अपनी पुस्तक ऑन लिबर्टी को पत्नी के साथ मिलकर कई बार संशोधित और परिष्कृत किया। 1858 में दक्षिणी फ्रांस के एविग्नॉन में उसकी पत्नी की मृत्यु होने पर उसने वह पुस्तक अपनी पत्नी को समर्पित करते हुए लिखा कि, “मेरे लेखों में जो भी सर्वोत्तम है उसकी प्रेरक है तथा आंशिक रूप से उसकी लेखिका भी, जो मेरा मित्र और पत्नी है, जिसकी सत्य तथा सद् की उत्कृष्ट भावना मेरी सबसे प्रबल प्रेरणा रही है और उसकी प्रशंसा मेरा पुरस्कार था।”

जॉन स्टुअर्ट मिल ब्रिटिश कॉमन सभा का सदस्य रहा। उस समय उस की उम्र 59 वर्ष थी। उसने इस काल में किसानों की स्थिति, महिला मताधिकार, आयरलैण्ड की समस्या, बौद्धिक कार्यकर्ताओं की स्थिति आदि पर अविस्मरणीय विचार रखे। संसद में मिल के संबंध में प्रधानमंत्री ग्लैडस्टोन ने कहा था कि, “जब मिल का भाषण होता था तो मुझे सदैव ही यह अनुभूति होती थी कि मैं किसी संत का प्रवचन सुन रहा हूँ।” 1873 में उसका देहांत हो गया।

मिल के राज्य पर विचार

राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धांत का मिल ने बेंथम के समान ही विरोध किया है लेकिन इस बारे में मिल इस बात को नहीं मानता था कि राज्य का आधार उसकी सुखवादी उपयोगिता में निहित है। मिल भौतिकता के साथ-साथ मानवों की चेतना, भावना और संवेग आदि को महत्त्वपूर्ण मानता है। मिल की यह भी मान्यता है कि राज्य की उत्पत्ति का आधार मानवों की आवश्यकताएँ हैं। मिल न तो राज्य को पूर्णतः एक प्राकृतिक समुदाय मानता है और न मानव के विवेक द्वारा निर्मित संस्था। वह इन दोनों विचारधाराओं के मध्य का मार्ग अपनाता है। इसलिए वह राज्य का ऐतिहासिक विकास के सिद्धांत को भी स्वीकार करता है और साथ ही समय-समय पर मानवों द्वारा उसमें लाये जाने वाले परिवर्तनों की सत्यता को भी स्वीकार करता है।

राज्य के बारे में मिल की अवधारणा इस केवल एक पुलिस या सैन्य तंत्र के रूप में प्रस्तुत नहीं करती है। उसने मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अधिक कार्य देकर उसके सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करता है। वह राज्य का कार्य

नैतिकता में वृद्धि करने वाला मानता है जिससे ऐसे नागरिकों का निर्माण हो सके जो समाज सेवा की भावना से कार्य करने में तत्पर हों। राज्य के कार्यों के संबंध में मिल व्यक्तिवादी मान्यता को स्वीकार करते हुए उसे कम से कम कार्य सौंपने के पक्ष में है। अन्य व्यक्तिवादी के समान वह भी राज्य को बाहरी आक्रमणों से रक्षा, आंतरिक शांति व्यवस्था और न्याय ये तीन कार्य ही देने के पक्ष में है। मिल की मान्यता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र में विस्तार होने से व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित हो जायेगी। इसलिए व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णरूप से विकसित नहीं हो सकेगा। मिल व्यक्ति को साध्य मानता है और राज्य को व्यक्ति के सुख की अभिवृद्धि करने तथा उसे पूर्णता देने का साधन मानता है।

शासन—इस बारे में जॉन स्टुअर्ट मिल का विचार है कि, “यह जरूरी नहीं है कि सबसे अच्छी सरकार की पद्धति वही हो जो बहुत अधिक कुशल हो अपितु वह प्रणाली है जो नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा देती हो और उनको अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान कराती हो। अच्छी सरकार का यह लक्षण है कि यह जनता के सदाचार और बुद्धि का विकास करे। सरकार न केवल व्यवस्था को ही बनाये रखती है अपितु इसके कार्यों का मनुष्य के मन पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। अच्छी सरकार की सबसे बड़ी कसौटी केवल उसकी प्रशासकीय क्षमता नहीं है अपितु यह है कि यह शासितों में सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से अच्छे गुण कहाँ तक उत्पन्न कराती है?”

जॉन स्टुअर्ट मिल प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र में विश्वास प्रकट किया है। प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र का अर्थ है कि समस्त जनता या उसमें से अधिकांश संख्या समय-समय पर चुने हुए अपने प्रतिनिधियों द्वारा अंतिम रूप में नियंत्रक शक्ति का प्रयोग करते हैं जो कि प्रत्येक संविधान में कहीं न कहीं रहनी चाहिए। उसने इस अंतिम शक्ति को पूर्ण में देखा है।

मिल प्रतिनिधियात्मक प्रणाली को आदर्श मानता है क्योंकि इसमें जनता के प्रतिनिधि शासन का संचालन करते हैं। उसके अनुसार इस प्रणाली की सफलता मुख्यतः तीन बातों पर आधारित है—

1. जनता इस शासन प्रणाली को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे।
2. जनता इसको सफल बनाने के लिए त्याग के लिए तैयार रहे।
3. जनता विदेशी आक्रमणकारी तथा युद्धों से इसकी रक्षा करे।

मिल की यह भी मान्यता है कि प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र उन्नत देशों में अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है। मिल ने अपने ग्रंथ में प्रतिनिधियात्मक शासन

की समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है। जहाँ एक ओर वह यह मानता है कि प्रतिनिध्यात्मक शासन में समाज के योग्य तथा विवेकशील सदस्यों की सेवाएँ शासन के कार्यकलापों में प्रत्यक्ष रूप से तथा अधिक प्रभावशाली ढंग से प्राप्त की जा सकती हैं, जो कि अन्य शासन प्रणालियों में संभव नहीं हैं, वहीं दूसरी ओर मिल इस बात को स्वीकार नहीं करता कि समस्त जन-समूहों के लिए यह प्रणाली सर्वोत्तम सिद्ध होगी।

मिल ने बहुमत के आधार पर संचालित शासन के अल्पमतों को बहुमतों के उत्पीड़न से बचाने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व सिद्धांत का समर्थन किया, ताकि संसद में अल्पमतों को प्राप्त जनसमर्थन के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। मिल ने इंग्लैण्ड में इस प्रणाली को लागू करने में अनेक कमियाँ अनुभव कीं, इसको दूर करने के लिए उसने इस सुझावों को प्रस्तुत किया।

(1) अल्पसंख्यकों की समस्या—मिल के काल में इंग्लैण्ड में प्रतिनिध्यात्मक शासन स्थापित था। मिल ने यह अनुभव किया कि इस प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली में शासन सत्ता पर बहुमत प्राप्त वर्ग का अधिकार हो जाता था और परिणामस्वरूप अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा होती थी। मिल इसे बहुसंख्यकों का अत्याचारी शासन कहा करता था। उसकी मान्यता थी कि शासन संस्थाओं में जब तक अल्पसंख्यक वर्ग का समुचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित नहीं हो जाता, तब तक यह स्थिति बनी रहेगी। अतः मिल ने समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन किया। इसके अनुसार संसद में बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक वर्गों का अपनी संख्यात्मक स्थिति के अनुसार प्रतिनिधित्व होना चाहिए। यद्यपि शासन सत्ता पर बहुसंख्यकों का नियंत्रण रहेगा तथापि अल्पसंख्यकों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त रहने से उन्हें शासन संबंधी मामलों में अपना मत व्यक्त करने का समुचित मौका मिलेगा और असमानता की स्थिति नहीं रहेगी।

(2) मताधिकार—अपनी पुस्तक रिप्रजेंटेटिव गवर्नमेंट में लिखा है कि, “क्योंकि किसी भी सरकार का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह अपने नागरिकों का बौद्धिक तथा नैतिक विकास करने में सहायक हो, इसलिए एक अच्छी और बुद्धिमान सरकार को इस बात का पूर्ण प्रयास करना चाहिए कि सामाजिक जीवन का संचालन पर उसके सबसे अधिक बुद्धिमान सदस्यों की बुद्धि तथा सदाचार का प्रभाव पड़े।” इसी को ध्यान में रखकर वह मताधिकार के लिए कुछ योग्यताओं को आवश्यक मानता है—

(i) **शैक्षिक योग्यता**—मताधिकार के बारे में मिल का मानना था कि मतदाता को कम से कम पढ़ना-लिखना तथा गणित का सामान्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए। जो अपने मत का मूल्य नहीं समझता वह अपने मताधिकार का प्रयोग क्या करेगा। उसके शब्दों में, “मैं इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता हूँ कि ऐसे व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त हो जो लिखना-पढ़ना और सामान्य गणित भी न जानता हो।”

मिल ने मतदाताओं में इस क्षमता लाने के लिए एक ऐसी शिक्षा योजना बनाने पर जोर दिया जिसमें कि सभी मतदाता इस योग्यता को प्राप्त कर सकें। उसके शब्दों में, “यद्यपि मतदान का कार्य शिक्षा की योग्यता पर निर्भर नहीं है तथापि यह न्याय-संगत है कि साधारण शिक्षा प्राप्त कर सके के साधन प्रत्येक निर्धन व्यक्ति की पहुँच में होने चाहिए। ये साधन या तो निःशुल्क हों अथवा इतने कम मूल्य पर प्राप्त होने चाहिए कि किसी भी निर्धन से निर्धन व्यक्ति को ये उसकी आय में ही सुलभ हो सकें। यदि यह व्यवस्था हो जाये तो जनता अनपढ़ व्यक्ति को मताधिकार देने की ठीक इसी प्रकार सोचे भी नहीं जिस तरह मूक बालक को मताधिकार देने की बात सोची नहीं जा सकती।

(ii) **सम्पत्ति की योग्यता**—मिल ने मताधिकार का आधार संपत्ति को बनाकर राज्य को इस प्रक्रिया के द्वारा कर वसूलने का अधिकार दिया। इस बारे में उसने लिखा है—“यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जो सभा लोगों पर टैक्स लगाती है, वह केवल उन्हीं लोगों की बनी हुई होनी चाहिए, जो इन करों का भार सहन करेंगे। जो लोग कर नहीं देते और अपने मतदान द्वारा अन्य नागरिकों का धन कम करते हैं, उनका अपव्ययी होना स्वाभाविक है, उनके मितव्ययी होने का प्रश्न ही नहीं उठता तथा इस प्रकार के व्यक्तियों के हाथ में मतदान की शक्ति देना मौलिक सिद्धांतों का हनन तथा स्वतंत्रता का विरोध होगा तथा शक्ति का हानिकारक उपयोग होगा।”

खुला मतदान—लोकतंत्र की वर्तमान प्रणाली में एक व्यक्ति एक वोट का सिद्धांत प्रचलित है। गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, विद्वान-मूर्ख सबके वोट का समान महत्त्व होता है। मिल इसको स्वीकार नहीं करता। उसका विश्वास है कि इस व्यवस्था से शासन में अच्छे लोग नहीं आ सकते। अतः शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों से अधिक वोट देने का अधिकार होना चाहिए।

मतदान की वर्तमान व्यवस्था में एक व्यक्ति केवल उसी क्षेत्र में मतदान कर सकता है जहाँ की मतदाता सूची में उसका नाम हो। मिल इस व्यवस्था को भी अनुचित मानता है। उसके शब्दों में, “किसी भी प्रणाली में जिसके द्वारा सर्वसाधारण को मतदान का अधिकार प्राप्त है, यह महत्त्वपूर्ण एवं विद्वतापूर्ण बात होगी कि सारे

विश्वविद्यालयों के समस्त ग्रेजुएटों, हाईस्कूलों के अच्छे अंक प्राप्त कर उतीर्ण लोगों, सारे बुद्धिजीवी व्यक्तियों के किसी भी मत क्षेत्र में अपना मत प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो तथा साधारण नागरिक होने के नाते उन्हें अपने निवास स्थान के मत क्षेत्र में एक मतदान करने का अधिकार मिलना चाहिए।

स्त्रियों को मताधिकार—मिल ने पुरुषों के समान महिलाओं के लिए मताधिकार का समर्थन किया। उस समय इंग्लैण्ड में महिलाओं को मताधिकार हासिल नहीं था। मिल के शब्दों में, “स्त्रियों और पुरुषों के सामाजिक अधिकारों में भिन्नता बाहरी परिस्थितियों के कारण है। अतः इसे हटा देना चाहिए। ये भिन्नताएँ मौलिक और अनिवार्य नहीं हैं। ये भिन्नताएँ पुरुषों द्वारा स्त्रियों का एक ही दिशा में (घर की चारदीवारी में बंद रखना) प्रयोग किये जाने के कारण उत्पन्न हो गयी हैं। इसके लिए उसने महिलाओं को राजनीति तथा सामाजिक स्वतंत्रता से मुक्त करना जरूरी बताया।

मिल के अनुसार किसी भी राष्ट्र की आधी शक्ति को घरों में बंद करके एवं उसे मताधिकार से वंचित करके कोई भी सरकार जनतंत्रीय होने का दावा कैसे कर सकती है? यह तो प्रकृति के विरुद्ध अन्याय है। कुछ व्यक्तियों का मत था कि स्त्री दुर्बल है, यदि उसे राजनीति से अलग रखा जाये तो अच्छा है। इस पर मिल ने कहा कि, “नारी और पुरुष में कोई अंतर है भी तो पुरुष की अपेक्षा नारी को मत देने का अधिकार की आवश्यकता अधिक है। क्योंकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना में निर्बल होने के कारण उसे रक्षा के लिए कानून और समाज पर निर्भर रहना पड़ता है।

महिलाओं के लिए मिल ने निम्नलिखित अधिकारों की वकालत की है—

1. पुरुषों के समान महिलाओं को मताधिकार दिया जाए।
2. सार्वजनिक पद प्राप्त करने के अवसर पुरुषों की तरह महिलाओं को भी प्राप्त हों।
3. महिलाओं के साथ महिला होने के नाते किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए।
4. महिलाओं को शिक्षा संबंधी सुविधायें दी जाएँ।
5. रोजगार के क्षेत्र में महिलाओं के अवसर जुटाये जाएँ।
6. विवाह संबंधी मामलों में महिलाओं को स्वतंत्रता होनी चाहिए।
7. महिलाओं को महिला होने के नाते वह सभी सुख-सुविधायें, मान-सम्मान आदि प्राप्त हों जो उन्हें प्राप्त होते हैं।

संसद की भूमिका—मिल संसद को प्रशासनिक कार्य की किसी संस्था के रूप में नहीं देखता है। उसके अनुसार प्रशासनिक कार्य की जटिलता अलग होती है और संसद का कार्य शासन को नियंत्रित करना है, उसके कार्यकलापों पर ध्यान देना है और उसकी कमियों को उजागर करना है। शासन संचालन का भार थोड़े से योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियों पर छोड़ देना चाहिए जो सिविल सेवा के कर्मचारियों के सहयोग से शासन कार्य करें। संसद का कार्य विधि निर्माण करना तथा जनमत के अनुसार शासन की नीतियाँ निर्मित करना है। यह कार्य संसद के सभी सदस्यों के द्वारा नहीं किया जायेगा। इसे मंत्रिमंडल सम्पन्न करेगा।

वह निर्वाचित संसद के अप्रत्यक्ष नियंत्रण के द्वारा प्रशासन के कार्य संचालन का पक्षधर है।

1. प्रतिनिधि शासन व्यक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे जिससे व्यक्ति सत्य का शोध कर उसके अनुकूल अपने विचारों का निर्माण कर सके।
2. शासन ऐसे कानूनों का निर्माण करे जिनसे व्यक्तियों के चारित्रिक विकास के योग्य वातावरण बन सके।
3. राज्य कम से कम कानून बनाये क्योंकि कानून व्यक्तियों पर प्रतिबंध लगाते हैं।
4. संसद का कार्य है—वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा शासन को जनमत से अवगत रखना।
5. वह प्रशासन पर निर्वाचित संसद का अप्रत्यक्ष नियंत्रण रखना चाहता है।
6. मिल के अनुसार संसद को उसके विशाल आकार तथा जटिल विधि-निर्माण पद्धति के कारण विधि-निर्माण का कार्य संसद को न सौंपकर एक 'विधि आयोग' द्वारा किया जाना चाहिए, जिसमें विधि विशेषज्ञों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस आयोग द्वारा तैयार कानून के प्रारूप को संसद स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है, परंतु उनमें संशोधन नहीं कर सकती।
7. मिल द्वितीय सदन के पक्ष में है जिसकी रचना जनसंख्या के प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के स्थान पर हित प्रतिनिधित्व के स्थान पर हित प्रतिनिधित्व के स्थान पर की जाए। उसमें उन हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना चाहता है जो निम्न सदन में सही प्रतिनिधित्व प्राप्त करने में असफल रहते हैं।
8. मिल संसद सदस्यों को वेतन-भत्ते देने के पक्ष में नहीं था क्योंकि वेतन-भत्ते

से सेवाभावी व्यक्तियों के स्थान पर धूर्त भाषणबाज आकर्षित होंगे।

मिल के निर्वाचन संबंधी विचारों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

1. मिल मताधिकार सभी को न देकर केवल निश्चित सीमा तक पढ़े-लिखे लोगों को ही देने के पक्ष में है।
2. मताधिकार देते समय लिंग भेद नहीं किया जाना चाहिए।
3. निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं बहुल मतदान के आधार पर होना चाहिए।
4. विद्वान व्यक्ति को मूर्ख से अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाँच मत देने का अधिकार उचित है।
5. मिल गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान का समर्थक है।
6. मिल के अनुसार यदि कोई योग्य व्यक्ति या लेखक या सामाजिक कार्यकर्ता किसी राजनीतिक दल का सदस्य न हो, लेकिन अगर वह एक ही क्षेत्र से चुनाव लड़ने में असमर्थ हो तो उसका चुनाव पूरे राज्य में होना चाहिए और यदि राज्यभर के मतों की संख्या प्रतिनिधित्व की आवश्यक संख्या के बराबर हो तो उसका चुनाव कर लेना चाहिए।
7. मिल द्वितीय सदन का समर्थक है जो निम्न सदन का कार्यभार हल्का करेगा और उसकी निरंकुशता पर प्रतिबंध भी।
8. मतदाताओं के लिए यह जरूरी है कि शिक्षित होने के अलावा उनमें सम्पत्ति की योग्यता भी हो।

17

हरबर्ट स्पेन्सर

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म इंग्लैंड के सामान्य परिवार में हुआ था। आर्थिक पृष्ठ भूमि कमजोर होने के कारण वे विद्यालयीय शिक्षा नहीं ग्रहण कर सके। इसे वातावरण में भी उन्होंने समाज के जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया उसके लिए उन्होंने सामाजिक विचारों की स्थापना के क्षेत्र में संस्थापक की संज्ञा प्रदान की गई। अभाव ग्रस्त व्यतीत करते हुए भी वे सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों के विशेषज्ञ थे। जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा रसायन शास्त्र पर उनकी बहुत अच्छी पकड़ थी। उन्होंने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को इन कुछ प्राकृतिक विज्ञानों के संदर्भ में बाँधा है। उनके जीवन का एक और पहलू बड़ा दिलचस्प है। प्रायः वे बीमार रहते थे उनका स्वभाव पूरी तरह से झक्की था। लिखने का मन करता, तब खूब लिखते थे तथा मन हुआ तो आलस में ही समय निकाल देते थे। अगस्ट कॉम्ट की तरह इनका जीवन भी पूरी तरह से उतार-चढ़ाव भरा था। शायद उन्होंने सरपट मैदान तो देखा ही नहीं।

उद्दिकासवादी सिद्धान्त स्पेन्सर की विशेष उपलब्धि है। देखा जाय तो यूरोप का 19 वही शताब्दी का इतिहास समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र हेतु उद्दिकासवादी सिद्धान्त का था। वास्तविकता यह है कि इस युग में विज्ञान का बोलबाला था तथा इसकी उपलब्धियों का असर समाजशास्त्र पर भी पड़ा। अगस्ट कॉम्ट ने ज्ञान के तीन नियमों का उल्लेख किया है— धार्मिक, तात्विक एवं वैज्ञानिक। इसके बाद डार्विन ने भी उद्दिकास के सिद्धान्त को विकसित किया है। इस युग की एक और विशेषता थी। समाज विज्ञानों में विचार (Idea) और भौतिक तत्वों

(Material Objects) का विवाद था। स्पेन्सर से पहले कार्ल मार्क्स ने यह स्थापित किया कि सामाजिक बदलाव में अथवा यह कहिये क्रान्ति में भौतिक तत्व अर्थात् उत्पादन विधियाँ निर्णायक होती हैं। स्पेन्सर ने इसका विरोध किया। उन्होंने स्थापित किया कि मनुष्य के जो भी विचार हैं, उनकी उत्पत्ति सामाजिक संरचना से होती है। विचार तथा भौतिक तत्वों का यह विवाद पूरी 19 वीं सदी में देखने को मिलता है। उद्द्विकास तो इस शताब्दी का महत्त्वपूर्ण मुहावरा रहा ही है।

समकालीन होने के कारण स्पेन्सर तथा जार्ज इलियट के सम्बन्ध काफी मधुर हो गये परन्तु विवाह नहीं हो सका क्योंकि इलियट अपने आपमें एक विदुषी थीं। एक बार उसने यह कहा था कि हरबर्ट स्पेन्सर में एक कामयाब लेखक की तरह कोई महत्त्वपूर्ण क्षमता नहीं है। शायद एक सीमा तक इलियट का यह कहना सही भी था। यह इसलिए कि उस युग में स्पेन्सर की कृतियों पर कोई महत्त्वपूर्ण विवाद नहीं हुआ। कतिपय लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि स्पेन्सर ने अपनी तरफ से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में कुछ नया जोड़ा बल्कि ऑगस्ट कॉम्टे के विचारों की पुनरावृत्ति की है। देखा जाय तो सामाजिक विचारकों में हरबर्ट स्पेन्सर का स्थान विवादास्पद है। कुछ आलोचक जैसे कि रेमण्ड एरॉ ने मेन करेन्ट्स इन सोशियोलॉजिकल थॉट (Main Currents in Sociological Thought) में हरबर्ट स्पेन्सर को पूरी प्रकार छोड़ दिया है। दूसरी एवं लेविस कोजर ने मास्टर्स ऑफ सोशियोलॉजिकल थॉट (Masters of Sociological Thought) सामाजिक विचारकों की कोटि में हरबर्ट स्पेन्सर को एक सम्मानित स्थान दिया है वे उसे चोटी का विचारक मानते हैं।

जीवन वृत्त

हरबर्ट स्पेन्सर का जन्म 27 अप्रैल, 1820 में इंग्लैण्ड के डरबी शहर में हुआ था। यह शहर कारखानों से घिरा पड़ा है। उसके पिता के नौ बच्चे थे जिनमें केवल हरबर्ट ही जीवित रहा। इस परिवार में क्रांति और विरोध एक सामान्य बात थी। हरबर्ट के माता-पिता अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी थे। देखा जाय तो हरबर्ट बचपन से ही बड़े अक्खड़ दिमाग का था। वह किसी को भी आदर के साथ सम्बोधित नहीं करता था। प्रारंभ से ही उसकी रुचि विज्ञान और राजनीति में थी। यह कहा जाता है कि उसकी माँ बड़े अच्छे स्वभाव की थी जबकि उसके पिता का स्वभाव जीवन पर्यन्त हरबर्ट स्पेन्सर कुँवारा रहा। जार्ज इलियट को वह सहलाता रहा, उसे सिनेमा घरों में ले गया, हौअल रेस्टोरेन्ट में फिराया जबकि विवाह के सूत्र में नहीं बंधा।

हरबर्ट स्पेन्सर ने जो कुछ शिक्षा पायी वह गैर-स्कूली थी। उसने अपने पिता और चाचा से अनौपचारिक शिक्षा पायी। ऐसा लगता है कि इस युग के सभी विचारक गणितशास्त्र के पीछे लट्टू थे। स्पेन्सर गणित में सबसे ज्यादा रुचि रखते थे। उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों में भी बड़ी रुचि दिखायी।

हरबर्ट स्पेन्सर के जीवन का एक और पहलू है जो बहुत कम लोगों के सामने आया है। खबती स्वभाव की वजह से वे दूसरे लोगों से मिलना पसंद नहीं करते थे। कहना चाहिये वे दूसरों की बात सुनना भी नहीं चाहते थे। कई बार तो जब वे दूसरों से मिलते थे, अपने कान में रुई लगा लेते थे। वे क्लब में जाते थे तथा वहाँ भी रुई लगी रहती थी।

आर्थिक रूप से स्पेन्सर जीवन भर तंग रहे। यह तो उनके चाचा की मृत्यु (1853) के बाद है कि कुछ पैसे वसीयत के रूप में उनके हाथ में आये। इससे थोड़े समय तक उनका काम चल गया। जब उन्होंने 1854 में मनोविज्ञान और स्थैतिकी पर अपनी एक पुस्तक समाप्त की, वे एकाएक मानसिक रोग से पीड़ित हो गये। इस मानसिक रुग्णता में वे बिना किसी उद्देश्य के दिन भर घूमते रहते, कुछ लिख नहीं पाते थे और कुछ पढ़ने के योग्य भी नहीं थे। कोई डेढ़ वर्ष बाद वे थोड़े ठीक हुए। अब वे अनिद्रा रोग के शिकार हो गये। इससे छुटकारा पाने हेतु उन्होंने अफीम का सेवन प्रारम्भ कर दिया। अब तो उनकी स्थिति यह हो गयी कि वे दिन में कोई दो-चार घण्टे ही काम कर सकते थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उनके साथ मित्र, प्रशंसक एवं शिष्य ही थे।

कृतित्व

जीवन के अंतिम क्षण तक स्पेन्सर की लेखनी अविराम गति से चलती रही खस्ता मानसिक हालत के होते हुए भी स्पेन्सर लगातार कुछ न कुछ लिखते ही रहे। उनकी कृतियों का क्रम 1842 में प्रारम्भ हुआ जब उन्होंने दि नानकन्फर्मिस्ट (The Nonconformist) में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में उन्होंने ब्रिटेन की सरकार को अनेक बातों पर आड़े हाथ लिया। हरबर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्रीय एवं राजनैतिक क्षेत्रों में खूब लिखते थे। उनका दृष्टिकोण हमेशा तटस्थ (Laissez-Faire) था। उन्होंने समाजशास्त्र में दो बातें मुख्य तौर पर कहीं। पहली तो यह कि समाज सावयवी है तथा दूसरी यह कि यह समाज हमेशा प्रगति और विकास करता रहा है। यह विचारधारा मुख्य रूप से उद्विकासवादी है। इसमें जटिलता तथा

विजतीयता सरलता एवं सरलता का विकसित स्वरूप होती है। हरबर्ट स्पेन्सर की कृतियाँ कॉम्ट से अत्यधिक प्रभावित है। फुटकर निबन्धों को छोड़कर अब स्पेन्सर दि इकॉनोमिस्ट्स (The Economists) जो लंदन से प्रकाशित होता था उसके साथ जुड़ गये।

यहीं पर उसे जार्ज इलियट भी मिली थी। इसी अखबार के माध्यम से हरबर्ट स्पेन्सर का सम्पर्क उस काल के पुरोधा थॉमस हक्सले (Thomas Huxley) एवं जॉन टिन्डाल (John Tyndall) से हुआ। ये दोनों लेखक लम्बे समय तक स्पेन्सर के मित्र रहे। जब स्पेन्सर दि इकॉनोमिस्ट्स से जुड़े थे उसी अवधि में उन्होंने अपनी पहली किताब सोशल स्टेटिक्स (Social Statics) को पूरा किया जो 1851 में प्रकाशित हुई। हरबर्ट स्पेन्सर की कतिपय कृतियाँ ऐसी हैं जो समाजशास्त्र में मील के पत्थर की तरह हैं। उनकी पुस्तक प्रिंसिपल्स ऑफ बायोलोजी (Principles of Biology) एक जरूरी कृति है। इसकी कई जिल्दें हैं। पहली जिल्द 1862 में प्रकाशित हुई इसके बाद 1893 तक चार जिल्दें तथा प्रकाशित हो गये। इन पुस्तकों में प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलोजी (1873) एक भव्य कृति है। इस कृति को समाजशास्त्र में एक अपूर्व ग्रन्थ समझा जाता है। अब प्रश्न उठता है: इन पुस्तकों में स्पेन्सर ने किन मुश्किलों को उठाया है? स्पेन्सर की विचारधारा थी कि किसी की दशा में ईश्वरीय सिद्धान्त सत्य को उद्घाटित नहीं कर सकता।

अपनी पुस्तक प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी में उन्होंने अपनी सभी कृतियों के सार को रखा है और ऐसा करने में वे सफल रहे हैं। इन रचनाओं में उन्होंने दर्शन को समन्वित रूप में रखा है। जब ये पुस्तकें प्रकाशित हुईं, बौद्धिक समाज ने इन्हें आदर के साथ स्वीकार नहीं किया। इसी दौरान जब स्पेन्सर की रचनाएं प्रकाशित हो रही थीं डार्विन की पुस्तक ओरिजिन ऑफ स्पेसिज (Origin of Species) प्रकाशित हुई। जो ध्यान डार्विन पर दिया गया वह स्पेन्सर पर नहीं। जबकि उस समय के जो क्रान्तिकारी लेखक थे उन्होंने डार्विन की कृतियों को गंभीरता से लिया। इन लेखकों में जॉन स्टुअर्ट मिल, हक्सले और टिन्डाल हैं। ये सब लेखक इंग्लैण्ड ही नहीं सम्पूर्ण यूरोप में अपना प्रभाव रखते थे। हरबर्ट स्पेन्सर की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं पर इनसे क्या आर्थिक प्राप्ति हुई? जीव विज्ञान पर जब उनकी रचना प्रकाशित हुई तब इस पर इन्होंने 1,000 पौंड व्यय किये थे। इतना धन उन्हें नहीं मिला।

इसके पश्चात उन्होंने जब समाजशास्त्र के अध्ययन पर किताब निकाली तब उन्हें 1,500 पौंड का लाभ हुआ। देखा जाय तो हरबर्ट स्पेन्सर को अपने पुस्तक लेखन

से कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं हुआ। अगर उन्हें अपने पिता और चाचा से विरासत में कुछ पैसा न मिला होता तो शायद वे दो जून का भोजन भी नहीं जुटा पाते। हरबर्ट स्पेन्सर की कृतियाँ उनकी तर्क शक्ति की प्रतिफल हैं उनका अध्ययन कभी भी व्यापक नहीं था। उन्होंने कभी भी गहराई से दर्शनशास्त्र, इतिहास एवं साहित्य को नहीं पढ़ा। देखा जाय तो स्पेन्सर का दर्शनशास्त्र से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने इस कथ्य को अपनी आत्मकथा में भी स्वीकार किया। अपने जीवन में कुछ वर्ष तो उन्होंने अभियंता के रूप में काम किया। कई माह तक बीमार रहे। यह सब होते हुए भी उद्विकास पर उन्होंने साधिकार लिखा है। उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ऑगस्ट कॉम्ट से बहुत आधार लिया है। इसमें कोई प्रमुख बात नहीं है। वे कहते हैं कि उन्होंने कॉम्ट से बहुत सीखा है और प्रगति तथा विकास के विचार उन्हें कॉम्ट से ही मिले हैं।

जिस कॉम्ट के स्पेन्सर अपना आदर्श मानते रहे उनकी प्रमुख कृतियाँ निम्नवत हैं—

1. फर्स्ट प्रिन्सिपल्स (First Principles, 1862)
2. प्रिंसिपल्स ऑफ बायोलोजी (Principles of Biology, 1864-67) कई भागों में
3. दि मेन वरसेज दि स्टेट (The Man Versus the State, 1884)
4. प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलोजी (Principles of Sociology, 1890)
5. सोशल स्टेटिक्स (Social Statics, 1895)
6. ऑटोबायोग्राफी (Autobiography, 1904)

बौद्धिक संदर्भ

19 वीं शताब्दी के मध्य का यूरोप बौद्धिक दृष्टि से काफी धनाढ्य था। इस समयावधि में माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त को रखा। इस दौरान डार्विन की पुस्तक ओरिजिन ऑफ स्पेसिज (1859) प्रकाशित हुई। डार्विन ने हरबर्ट स्पेन्सर को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। जब डार्विन का सिद्धान्त बुद्धिजीवियों के सामने आया उसके पहले ही हरबर्ट स्पेन्सर इस पर चर्चा कर चुके थे। बाद में 1852 में स्पेन्सर ने माल्थस से प्रभावित होकर जनसंख्या बढ़ोत्तरी पर एक लेख भी लिखा था। अर्थशास्त्री एडम स्मिथ भी स्पेन्सर के समकालीन थे। स्मिथ ने अपनी पुस्तक दि वेल्थ ऑफ नेशन में जिस तटस्थ सिद्धान्त की चर्चा की थी उसे स्पेन्सर भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के निर्माण में काम में लाये हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल स्पेन्सर के मित्र थे। मिल

ने अपनी रचनाओं में उपयोगितावाद की चर्चा की है। स्पेन्सर भी इससे प्रभावित थे। उस समय हक्सले, फेरेडे आदि का भी नाम था। उद्द्विकासवादियों में इंग्लैण्ड के विचारक टायलर, मोरगन मैन, लूबोक का भी बड़ा नाम था। इन लेखकों से स्पेन्सर प्रभावित तो थे पर इनके विचारों के साथ वे प्रायः असहमत थे।

स्पेन्सर की समाजशास्त्र को देन—हरबर्ट स्पेन्सर का जब समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया जाता है तब उनकी तीन क्षेत्रों में उपलब्धियाँ प्रमुख समझी जाती हैं। हाल में जोनाथन टर्नर की दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशियोलॉजिकल थ्योरी आयी है उसमें उनका कहना है कि अमेरिका के समाजशास्त्रियों ने हरबर्ट स्पेन्सर में रुचि जतायी है उसमें उनका कहना है कि स्पेन्सर प्रकार्यवादी सिद्धान्त के मुखर पुरोधा थे। उन्होंने बड़े विस्तार के साथ शरीर रचना की तुलना समाज की संरचना के साथ की है। उनका कहना है कि जिस तरह शरीर के विविध अंग सम्पूर्ण शरीर रचना को जीवित और गतिमान रखते हैं वैसे ही समाज के विविध भाग-अर्थव्यवस्था, राजनीति, धर्म आदि समाज को गति प्रदान करते हैं। अर्थात्, एक हिस्से का सम्बन्ध दूसरे हिस्सों से और सम्पूर्ण व्यवस्था से जो सम्बन्ध है वही प्रकार्यवाद है। हाल में कुछ समाजशास्त्री आलोचकों ने हरबर्ट स्पेन्सर की एक तीसरी देन भी बतायी है। रेण्डाल कोलीन्स (Randall Collins) एवं एन्थोनी गिडेन्स (Anthony Giddens) ने हरबर्ट स्पेन्सर को एक अन्य दृष्टि से देखा है। उनका कहना है कि यह विचारक प्रकार्यवादी सिद्धान्तवेत्ता तो कम था और वृहद संरचनावादी (Macro Structuralist) ज्यादा। इसका अर्थ यह है कि स्पेन्सर सामाजिक संरचना को अन्य मूल्यों के साथ भी जोड़ते हैं।

उद्द्विकासीय सिद्धान्त—स्पेन्सर ने उद्द्विकासीय सिद्धान्त को अपनी किताब फर्स्ट प्रिंसिपल्स (First Principles, 1899) में दिया है। उन्होंने उद्द्विकास के तीन नियम प्रतिपादित किये हैं। उनका कहना है कि हमें किसी भी घटना के पीछे जो आधारभूत अथवा अंतिम कारण है उसे मालूम करना चाहिये। अगर अंतिम कारण की पड़ताल हो जाती है तो इससे हमारे ज्ञान में बढ़ोत्तरी होती है। वे कहते हैं कि किसी भी घटना के पीछे जो अंतिम कारण होता है वह लगातार बना रहता है। कोई भी सामग्री नष्ट नहीं होता। उसमें जो बल (Force) होता है वह सामग्री के हर स्वरूप के साथ बना रहता है, नष्ट नहीं होता।

पदार्थ के इस गुण के आधार पर वे उद्द्विकास के सिद्धान्त को बनाते हैं। उनका कहना है कि विश्व में कोई भी वस्तु हो—जैव या अजैव प्रत्येक का उद्द्विकास

होता है। सभी के पीछे एक मूलभूत कारण होता है और इस कारण से ही उद्‌विकास एक अनवरत् प्रक्रिया की तरह चलता रहता है।

हरबर्ट स्पेन्सर का उद्‌विकास का सिद्धान्त प्राकृतिक विज्ञानों की अवधारणाओं से बंधा हुआ है। वे लगातार पदार्थ (Matter) और दबाव (Force) की बात करते हैं। लगता है उद्‌विकास का यह विश्लेषण अधिकाधिक रूप से विज्ञानपरक है। आगे चलकर हरबर्ट स्पेन्सर ने इसे समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में भी रखा है। यह विश्लेषण हमारे लिये ज्यादा रुचिकर होगा।

उद्‌विकास का सैद्धान्तिक अर्थ

उद्‌विकास सिद्धान्त के प्रतिपादन के कारण स्पेन्सर की रचनाओं पर कई बार विवाद में स्थिति उत्पन्न हो गई। स्पेन्सर घटनाओं के पीछे जो कारण (Cause) है उसे जानने में अधिकाधिक रुचि रखते थे। जिस किसी पदार्थ को वे देखते-जानदार या बेजान, उसमें कारण की खोज जरूर करते थे। इसके पीछे स्पेन्सर का जीवन वृत्त जुड़ा हुआ है। उनकी अपने माता-पिता से इसी बात को लेकर अनबन हो जाती थी। उनकी माँ और यदा-कदा पिता भी बड़े रुढ़िवादी हो जाते थे। रुढ़िवाद के पीछे कारण क्या है? कारण खोजने का एक अन्य आधार भी है। वे गणितशास्त्र में रुचि रखते थे। इंजीनियरिंग उनका पेशा था। इस कारण भी वे सामग्री के पीछे जो आधारभूत तथ्य हैं उन्हें जानने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने उद्‌विकास के सिद्धान्त को इसी कारण के आधारभूत तत्व पर रखा है। उनके सिद्धान्त में दो जरूरी तत्व हैं: (प्रथम) पदार्थ, और (द्वितीय) गति। जब पदार्थ में गति आती है तो इससे पदार्थ गति के धक्के पर एकीकरण करता है।

प्रथम अवस्था में पदार्थ अनिश्चित एवं असंगत होता है। धीरे-धीरे जब इस पदार्थ को गति मिलती है तब यह बदलता जाता है और इसमें विजातीयता आ जाती है। अतएव उद्‌विकास वह प्रक्रिया है जो सजातीयता से विजातीयता की तरफ बढ़ती है। इसे समझने हेतु हम एक दृष्टान्त देंगे। किसी एक भारतीय गाँव को लीजिए। इस गाँव के लोग यह निर्धारित करते हैं कि उन्हें गाँव को उन्नति की ओर ले जाना है, आधुनिक बनाना है। इस गाँव में कुछ प्राकृतिक एवं भौतिक संसाधन भी है। समीप में एक नदी है। पीने के पानी के कुएँ हैं। एक छोटा सा जंगल भी है। थोड़ी-बहुत मात्रा में गाँव के पास ये कुछ संसाधन हैं। गाँव के निवासियों में मानसिक योग्यता भी है। वे अपने भले को ठीक प्रकार समझते हैं। काम प्रारंभ होता है लेकिन गाँव इन निवासियों के विकास के लिये जो तकनीकी जानकारी होनी चाहिये उन्हें

नहीं है। परिश्रम करना तो चाहते हैं, लेकिन खेती-बाड़ी आधुनिक तरीके से कैसे होगी, उन्हें नहीं मालूम। गाँव की इस स्थिति की अब हम व्याख्या करेंगे।

निश्चित रूप से गाँव के लोगों में सजातीयता (Homogeneity) है। अर्थात् पिछड़े हुए हैं। प्रत्येक की धर्म में आस्था है। सभी लगभग अशिक्षित हैं। यह सजातीयता है। आगे चलने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें यह पता नहीं कि सिंचाई हेतु क्या करना चाहिये। नदी पर एनीकट कहाँ बनेगा, यह उन्हें मालूम नहीं है। गाँव की इस सजातीयता को हरबर्ट स्पेन्सर अनिश्चित एवं असंगत मानते हैं। लेकिन स्थिति में बदलाव आता है। समय गुजर जाता है। गाँव में ऐसे लोग तैयार हो जाते हैं जो विकास के विविध क्षेत्रों में अच्छी कुशलता रखते हैं। लोग पढ़-लिख जाते हैं। इसका आशय यह हुआ कि गाँव के लोगों में जो गति थी वह परिवर्तित होकर विजातीय बन गयी। अतः समाज में शिखा के प्रचार-प्रसार के कारण लोगों की तार्किक क्षमता तथा वृद्धि में विकास होने से प्रक्रियाएँ जटिल हो जाती हैं सजातीयता से विजातीयता की ओर बढ़ना उद्‌विकास है। इस स्तर की परिभाषा में थोड़ी विश्लेषण की जरूरत है। स्पेन्सर कहते हैं कि जहाँ सजातीयता होती है वहाँ गति के कारण कतिपय ऐसे तत्व होते हैं जो विजातीयता की ओर ले जाते हैं। इसी कारण कहीं भी कोई भी समाज ज्यादा समय तक सजातीय नहीं रहता। सजातीयता अपने आप में अस्थिर है इसी कारण यह विजातीयता की तरफ बढ़ती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि तार्किक क्षमता का विकास विजातीयता का कारण है।

उद्‌विकास की कतिपय परिभाषाएँ

हरबर्ट स्पेन्सर ने उद्‌विकास की कोई एक निश्चित अथवा बंधी-बंधाई परिभाषा नहीं दी है। वे उद्‌विकास के नियम को जीव विज्ञान से लेते हैं एवं इसमें सजातीयता से विजातीयता की तरफ बढ़ना उद्‌विकास का कारण बताते हैं। वे कहते हैं कि इस संसार की वस्तुएँ जैविक और अजैविक दोनों हैं। मानव का भौतिक जगत पदार्थ और शक्ति से बना है। ये दोनों अपने अस्तित्व हेतु एक-दूसरे पर आधारित हैं। प्रारंभ में पदार्थ असंगत और सजातीय होता है एवं तत्पश्चात् चलकर उसमें विजातीयता आ जाती है जिसके कारण इसमें जटिलता आ जाती है। इस संदर्भ में उन्होंने उद्‌विकास की परिभाषा इस प्रकार दी है:

उद्‌विकास पदार्थ (Matter) का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान पदार्थ एक अनिश्चित, असंगत सजातीयता से निर्धारित सुसंगत विजातीयता में बदलता है।

स्पेन्सर के अनुसार विकास के प्रारंभ में जो जीव था, उसमें जीवन के अलावा किसी प्रकार का रूप या आकार नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे जीव रूप में पैदा हुआ और उसी के विकसित रूप में आज हम विविध प्रकार के जीव और वनस्पतियों को देख रहे हैं। बाद में चलकर इन जीवों में विजातीयता आयी और इस भाँति विविध समाजों का निर्माण हुआ यही कारण है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था जटिल होती जा रही है।

क्या उद्विकास में प्रगति निरंतर होती है?

स्पेन्सर ने उद्विकास की जो व्याख्या की है उसके आधार पर सवाल उठता है: क्या उद्विकास समाज को उन्नति की ओर ले जाता है? इस प्रश्न का उत्तर कहीं पर भी स्पेन्सर ने निर्धारित शब्दों में नहीं दिया है। उनके अनुसार उद्विकास का सिद्धान्त प्रगति की अनिवार्यता को ज्ञापित नहीं करता उद्विकास में दोनों ही बातें हो सकती हैं— समाज उन्नति कर सकता है और समाज का पतन भी हो सकता है। अपनी बाद की कृतियों में जो हरबर्ट स्पेन्सर का परिपक्व कार्य है, वे कहते हैं कि उद्विकास एक रेखीय होता है। साधारणतया उद्विकास का परिणाम प्रगति ही होता है। अपने इस कथन हेतु वे मनुष्य का जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था का दृष्टान्त देते हैं। जन्म के पश्चात् शिशु विकसित होता है, किशोर बनता है, वयस्क होता है एवं इस तरह विकास की गति चलती रहती है। स्पेन्सर का यह कथन ठीक है। लेकिन कहीं-कहीं स्पेन्सर अपने कथन से मुकर भी जाते हैं। वे विविध सभ्यताओं के इतिहास को रखते हैं और यह भी निष्कर्ष निकालते हैं कि इन सभ्यताओं ने सामान्यतौर पर उन्नति की है लेकिन ऐसी सभ्यताएँ भी हुई हैं जिनका आज कोई नाम भी नहीं लेता। निष्कर्ष में यही कहना है कि साधारणतया उद्विकास जब वह विभाजीयता की ओर बढ़ता है, उन्नति को लाता है। लेकिन सदैव ऐसा होना जरूरी नहीं है। उद्विकास पतन भी ला सकता है।

हरबर्ट स्पेन्सर संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के समर्थक के रूप

समाजशास्त्र में स्पेन्सर को यदि संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का पिता माना जाए तो गलत न होगा। डार्विन की प्राणीशास्त्रीय खोजों के आधार पर उन्होंने सामाजिक संरचना व समाज की विभिन्न इकाइयों के प्रकार्यों के बीच पाये जाने वाले सहसम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता को स्पष्टतः दर्शाने का प्रयत्न किया। उनके दृष्टिकोण का आधार यह है कि “सामाजिक संरचना और प्राणीशास्त्रीय या सावयवी संरचना

में अनेक बातों में समानताएँ हैं इसीलिए जिस प्रकार प्राणीशास्त्रीय या सावयवी संरचना विभिन्न कोष्ठों (cells) के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की अपेक्षाकृत क्रमबद्धता को कहते हैं और समर्पण सावयव की जीवन-प्रक्रिया में जैव तथा अजैव की क्रियाशीलता के परिणाम को प्रकार्य की संज्ञा देते हैं जिस प्रकार, इस अर्थ में, सावयव के प्रत्येक अंग के प्रकार्य पर ही सावयव का अस्तित्व सम्भव है, उसी प्रकार सामाजिक संरचना के भी विभिन्न अंगों का अपना-अपना कार्य होता है जो सामाजिक संरचना या सामाजिक जीवन के अस्तित्व व निरन्तरता के लिए आवश्यक है।’

स्पेन्सर ने यह विचार भी स्पष्टतः व्यक्त किया है कि संरचनाओं में, बिना प्रकार्यों में परिवर्तन हुए, परिवर्तन घटित नहीं हो सकते (Changes of Structures cannot occur without change of functions)। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि संरचना में जो क्रमबद्धता देखने को मिलती है वह परस्पर-निर्भर क्रियाओं (mutually-dependent actions) के बिना सम्भव नहीं है। साथ ही संरचना का उद्बिकास जैसे-जैसे आगे बढ़ता है या अधिक होता है, वैसे-वैसे प्रकार्यों की एकमत्यता अधिक घनिष्ठ होती जाती है (The consensus of functions becomes closer as evolution advances)। उदाहरणार्थ, सामाजिक उद्बिकास के प्रारम्भिक स्तर पर अर्थात् आदिकालीन सरल सामाजिक संरचना के अन्तर्गत समाज के विभिन्न अंगों में विभेदीकरण तथा विशेषीकरण का अभाव था। इस कारण उस समय एक अंग के लिए यह सम्भव था कि अंग के कार्यो को करे। परिवार, उदाहरण के लिए, बच्चों के लालन-पालन तथा आर्थिक उत्पादन दोनों ही कार्यो को कर सकता था और करता भी था; परन्तु आधुनिक जटिल समाजों में यह सम्भव नहीं है। आज समाज में विभिन्न अंगों (जैसे परिवार, राज्य, श्रमिक संघ, कॉलेज आदि) के कार्यो में विभेदीकरण तथा विशेषीकरण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। आदिकालीन संरचना में अंगों का कार्य बहुत कम एक-दूसरे पर आधारित था, परन्तु आज की विकसित संरचना में कार्यो का वह संकलन, जो सम्पूर्ण जीवन का निर्माण करता है, अन्य सहायक कार्यो को भी सम्भव बनाता है जिनसे विभिन्न अंगों के जीवन का निर्माण होता है।

अतः सामाजिक विकास तथा अवरोध वहाँ के सामाजिक अंगों (जैसे आर्थिक पोषण संस्थान, बाल विकास कार्यक्रम आदि) की क्रिया शीलता पर आधारित होता है। उदाहरणार्थ, यदि समाज की आर्थिक संस्थाएँ इस प्रकार क्रियाशील हैं कि उससे पूंजीपतियों को लाभ होता है तो उस समाज में पूंजीवादी आर्थिक संरचना का विकास होगा और इसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक संरचना पर ही पड़ेगा। पर यदि बाद में इन्हीं आर्थिक संस्थाओं की क्रियाशीलता पूंजीवाद के विपरीत हो तो उसके फलस्वरूप

पहले आर्थिक संरचना और अन्तिम रूप में सामाजिक संरचना में परिवर्तन सम्भव होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना में परिवर्तन उसी अवस्था में होता है जब समाज के विभिन्न अंगों के कार्यों में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः सामाजिक संरचना के स्वरूप को उसके विभिन्न अंगों के प्रकार्यों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है।

यदि हरबर्ट स्पेन्सर की विचारधारा का अवलोकन करें तो स्पष्ट होता है कि सामाजिक संरचना में जटिलता का कारण प्रकार्यों में जटिलता का होना है। उदाहरणार्थ, परिवार द्वारा ही अनेक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक कार्य किये जाते थे। परन्तु धीरे-धीरे इन कार्यों का विशेषीकरण हो गया है और इनमें से प्रत्येक प्रकार के कार्य विशेष-विशेष संस्थाओं के सुपुर्द हो गये हैं जो वर्तमान सामाजिक जटिलता का प्रमुख कारण है।

18

इमेनुअल काण्ट

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आदर्शवादी विचारधारा के दो वर्ग हैं—जर्मन तथा ब्रिटिश की अनेक सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय रिवाजों के कारण इन दोनों वर्गों की मान्यताएं एक-दूसरे से काफी अनेक हैं। बिस्मार्क के जन्म से पूर्व जर्मनी एक विभाजित राज्य था और अनेक क्षेत्रों का एकीकरण कर जर्मन साम्राज्य की स्थापना तात्कालिक जर्मनी की एक वास्तविक समस्या थी। ऐसी दशा में हीगल और विशेषतया काण्ट के हाथों में पहुंचकर जर्मनी में आदर्शवाद ने एक चरमतावादी सिद्धान्त का रूप प्राप्त कर लिया।

इंग्लैण्ड उदारवाद के मूल स्थान की सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियां जर्मनी से बिल्कुल भिन्न थी। 19वीं सदी तक इंग्लैण्ड एक सशक्त साम्राज्य बन चुका था और सम्राट एक वैधानिक प्रधान की दशा में था। इसलिए ग्रीन जैसे अंग्रेज आदर्शवादियों ने इंग्लैण्ड की महत्त्वपूर्ण उदारवादी रीतियों और अपने व्यावहारिक नजरिए के अनुरूप जर्मनी के उग्र आदर्शवाद को नरम रूप प्रदान करने का काम किया। ग्रीन जैसे लेखकों का यह संशोधित और परिवर्तित आदर्शवाद का अंग्रेजी रूपान्तर कहा जा सकता है।

जीवन-वृत्त

जर्मन आदर्शवाद का पिता इमेनुएल काण्ट को कहा जाता है। रूसो की

सामान्य इच्छा व स्वतन्त्रता से जुड़े विचारों के आधार पर आदर्शवादी विचारधारा के प्रतिपादन का कार्य सर्वप्रथम काण्ट के जरिए ही किया गया। काण्ट के राजनैतिक मत उसकी निम्नलिखित अमर रचनाओं में मिलते हैं :

मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड नैतिकता को ही मानते हुए काण्ट का मत है कि राजनीति का अध्ययन नैतिक नजरिए के आधार पर ही किया जाना चाहिए। उसका यह विश्वास है कि नैतिकता से अलग राजनीति सर्वथा मूल्यहीन है।

नैतिक इच्छा की स्वाधीनता की धारणा

यह शब्दावली काण्ट का अपना आविष्कार है और रूसो की नैतिक इच्छा तथा सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में यकीन करते हुए काण्ट कहता है कि सच्चे अर्थों में सिर्फ वही व्यक्ति आजाद है जो नैतिक रूप में स्वाधीन हो। काण्ट के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ अनियन्त्रित काम नहीं है और उसका मत है कि एक व्यक्ति के उपभोग योग्य सच्ची आजादी वही है जो दूसरों के समान तथा सावदेशिक कानून द्वारा कानून द्वारा मर्यादित है। काण्ट स्वतन्त्रता को अधिकार के साथ सम्बद्ध मानता है और अधिकार एवं स्वतन्त्रता के मध्य अन्योन्याश्रित रिश्ता स्थापित करते हुए नैतिक इच्छा की स्वाधीनता पर जोर देता है।

राज्य

काण्ट के अनुसार राज्य एक नैतिक संवास है, जिसका लक्ष्य व्यक्ति के लिए न्यायसंगत व नैतिक जीवन सम्भव बनाना है। उसके विचारानुसार व्यक्ति साधारणतया सद्भावनापूर्ण होता है पर सद्भावना के साथ उसमें माया, मोह, ममता आदि कुछ ऐसी दुर्भावनाएं भी होती हैं जो उसे नैतिकता के पक्ष से विचलित कर देती है। काण्ट के विचारानुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जो सर्वव्यापक बुद्धि पर आधारित अपने नैतिक कानून द्वारा व्यक्ति की अनैतिक इच्छाओं का खात्मा करके उसे नैतिक जीवन बिताने का मौका प्रदान करती है।

उसके विचारानुसार क्योंकि राज्य की आज्ञाएं व कानून अनिवार्य रूप से नैतिक होते हैं, अतः व्यक्ति को प्रत्येक दशा में उनका पालन करना चाहिए। उसके मतानुसार व्यक्ति का सिर्फ एक अधिकार और कर्तव्य राज्याज्ञा का पालन है, और राज्याज्ञा की मान्यता का काण्ट इतना प्रबल समर्थक था कि उसके विरोध स्वरूप राज्यक्रान्ति की भावना भी उसे भयावह मालूम होता था। उसके मतानुसार राजा के विरुद्ध क्रान्ति धर्मशास्त्र में पवित्रात्मा के प्रति किये जाने वाले असभ्य और अनैतिक

पाप के समान है, जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में ही क्षमा नहीं मिल सकती। राजा के विरुद्ध विद्रोह का प्रबल खण्डन करते हुए ही एक अन्य स्थान पर वह लिखता है। यदि संविधान दोषपूर्ण है तो इसमें परिवर्तन सिर्फ राजा द्वारा स्वयंमेव सुधार करके किये जा सकते हैं, जनता के जरिए विद्रोह करके नहीं किये जा सकते।

काण्ट के मतानुसार राज्यशक्ति का प्रयोग करने वाले लोगों के अधिकारों की कोई सीमा नहीं है और राज्य की सर्वोच्च सत्ता के सिर्फ अधिकार होते हैं, उसके प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होते हैं।

काण्ट का व्यक्तिवादी नजरिया

काण्ट के दर्शन में आदर्शवादी होने पर भी कुछ व्यक्तिवादी तत्व भी लक्षित होते हैं। हीगल के विपरीत यह व्यक्तित्व की महत्ता एवं गरिमा को बहुत अधिक सम्मान की नजरिए से देखता है। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु तथा आरम्भ है। उसके मतानुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वयं है और वह कभी भी किसी दूसरे साध्य का साधन नहीं माना जा सकता है। किन्तु व्यक्ति को अपने स्वार्थ साधन के साथ ही साथ सार्वजनिक कल्याण का भी ध्यान रखना चाहिए इस तरह काण्ट वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थक और प्रेमी है और उसे बहुत ज्यादा मूल्यवान मानता है, किन्तु उसके साथ ही वह राज्य की सर्वाधिकारवादिता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। काण्ट की इस दशा के विषय में वाहन ने ठीक ही कहा है कि राजशक्ति तथा व्यक्तिगत समन्वय स्थापित करने का उसे कोई रास्ता नहीं सूझता। वस्तुतः वह दोनों में से एक को भी छोड़ने के लिए तत्पर नहीं है। इस विरोधाभास की वजह से उसके दर्शन में कुछ असंगतियाँ आ गयी हैं और वह जटिल भी हो गया है।

राज्य को काण्ट बहुत ज्यादा कार्य सौंपना नहीं चाहता, उसके विचार में राज्य प्रत्यक्ष रूप से नैतिक स्वतंत्रता के विकास तथा प्रयत्न के लिए कुछ नहीं कर सकता है। राज्य का कर्तव्य तो सिर्फ इतना ही है कि व्यक्ति के स्वतंत्रता के रास्ते की बाधाओं को बाधित करे तथा ऐसी बाहरी सामाजिक दशाओं की स्थापना करे जिसके तहत नैतिक विकास सम्भव हो सके। इसके साथ ही काण्ट बाह्य क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता का विरोधी और विश्व-शान्ति का कट्टर समर्थक था। वह विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्त का उपासक था और मानवता को एक इकाई के रूप में देखने का जिज्ञासु था।

इस तरह काण्ट की विचारधारा में कुछ व्यक्तिवादी तत्व दिखाई देते हुए भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वह आदर्शवाद का संस्थापक था।

आदर्शवाद का अर्थ

राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में आदर्शवाद प्रतिपादित एक पुरानी तथा महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। इसे समय-समय पर विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता रहा है जिनमें चरमतावादी सिद्धान्त, नैतिक सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त, आध्यात्मिक सिद्धान्त और राज्य का आदर्शवादी नैतिक सिद्धान्त और प्रत्ययवाद आदि मुख्य हैं। आदर्शवाद के इन विभिन्न नामों के कारण आदर्शवाद के अनेक विचारकों की आदर्श राज्य के विषय में अलग-अलग धारणाएं हैं।

विचारधारा के प्रतिपादक और आदर्शवादी सिद्धान्त काण्ट, हीगल, ग्रीन तथा बोसांके प्रमुख रूप में दार्शनिक थे। इन आदर्शवादियों ने राज्य से जुड़ी समस्याओं का दार्शनिक जुड़ी से अध्ययन-विवेचन किया है और उनकी राजनीतिक धारणाएं बहुत अधिक सीमा तक उनके आध्यात्मिक विचारों पर ही केन्द्रित हैं। आदर्शवादी राज्य से सम्बन्धित अपनी विचारधारा को मनुष्य के विवेकशील तथा आध्यात्मिक तत्व पर आधारित करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि वही तत्व मानव स्वभाव में ज्यादा व्यापक तथा स्थायी है। इसी वजह से वे राज्य तथा उसकी संस्थाओं की यथार्थ स्थिति का नहीं, वरन् उनके आदर्श स्वरूप का अध्ययन करते हैं।

आदर्शवाद के विचारानुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था न होकर एक ऐसी प्राकृतिक व स्वाभाविक संस्था है, जिसे मनुष्य की आन्तरिक स्वभाव का ही प्रकट और व्यापक रूप है, अतः व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध ही नहीं सकता है। राज्य एक भौतिक संस्था न होकर आध्यात्मिक और नैतिक संस्था है और इस कारण उसका काम व्यक्ति के क्रियाकलापों को नियन्त्रित करना ही नहीं, बल्कि उसका काम व्यक्ति को नैतिक बनाना है। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए राज्य को अधिकार है कि वह व्यक्ति के समान क्रियाकलापों को नियन्त्रित कर सके। इस तरह आदर्शवाद के अनुसार राज्य के अधिकार और उसका कार्यक्षेत्र असीमित है तथा व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार नहीं मिल सकता।

इस सिद्धान्त के तहत व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिकता राज्य प्राप्त होती है और व्यक्ति राज्य के तहत रहकर ही नैतिक जीवन व वास्तविक स्वतन्त्र व्यतीत कर सकता है। अतः यदि व्यक्ति को मानव जीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य व प्रयोजनों की साधना करनी है तो उसे राज्य की साधना करनी चाहिए, क्योंकि राज्य के बिना उन उद्देश्य एवं प्रयोजनों की साधना सम्भव ही नहीं है। इस तरह आदर्शवाद के अनुसार राज्य साध्य और व्यक्ति उसका साधन मात्र है तथा राज्य व शक्ति व व्यक्ति

के बीच उसी प्रकार का रिश्ता है, जैसा रिश्ता शरीर और उसके अंगों के मध्य होता है। जिस तरह अंगों का शरीर से अलग कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी तरह व्यक्ति का भी राज्य से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं होता।

आदर्शवादी विचारधारा का इतिहास

डॉ. आशीर्वादम लिखते हैं कि चाहे उनका नाम कुछ भी रहा हो, आदर्शवादी परम्परा का इतिहास कहीं-कहीं पर खण्डित होते हुए भी बहुत लम्बा है।

इस विचारधारा का शुरुआती रूप पुरानी यूनान की राजनीतिक विचारधारा में मिलता है। यूनानी विचारक प्लेटो को सभी आदर्शवादियों का जनक माना जा सकता है। प्लेटो राज्य को सर्वश्रेष्ठ नैतिक संस्था मानता था और उसके मतानुसार व्यक्ति का पूर्ण विकास राज्य में ही सम्भव था। प्लेटो के पश्चात् उसके शिष्य अरस्तू ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने लिखा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने की वजह से समाज में रहकर ही अपने जीवन का पूरा विकास कर सकता है तथा अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुंच सकता है। अरस्तू राज्य की उपयोगिता व्यक्ति के नैतिक विकास से ही मानकर लिखता है कि राज्य का जन्म मानव-जीवन के लिए हुआ, लेकिन वह सद्जीवन नैतिक जीवन के लिए बना हुआ है। इस तरह आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा का पहला आधार प्लेटो और अरस्तू के लेखों में ही मिलता है। अरस्तू और प्लेटो के वस्तु विचारों की सादृश्यता भारत के पुराने मनीषियों के विचारों में देखी जा सकती है, जिन्होंने यह कहा है कि राज्य संस्था के कमी में व्यक्ति का जीवन भी सम्भव नहीं है। उनके अनुसार राजधर्म के आधार पर मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संचालित हो सकता है, इसके अन्तर्गत दूसरे सभी धर्म समा सकते हैं तथा इस पर ही दूसरे सभी धर्म आश्रित हैं।

मध्य युग और रोमन काल में कोई महत्वपूर्ण आदर्शवादी दार्शनिक नहीं हुआ। 17वीं सदी के पुनर्जागरण काल में फिर से आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। थॉमस मूर ने प्लेटो के आदर्शवादी राज्य की कल्पना से प्रभावित होकर ही अपनी प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की थी। वर्तमान युग में पहले महत्वपूर्ण आदर्शवादी विचारक रूसी ही हुआ, जिन्होंने अपनी राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारधारा के आधारभूत तत्व यूनानी राजदर्शन से ही लिये हैं। रूसो के दर्शन पर प्लेटो का बहुत ज्यादा प्रभाव है और प्लेटो के समान ही वह इस विचार का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति नैतिक जीवन की प्राप्ति राज्य के तहत रहकर ही कर सकता है। रूसो ने यूनानियों द्वारा खोजे गये सत्य को हमारे सामने सुन्दर ढंग से रखा है और इसी कारण उसे वर्तमान

आदर्शवादियों में प्रथम कहा जा सकता है। समकालीन लेखकों पर रूसो के इन विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

रूसो के बाद जर्मनी तो आदर्शवाद का केन्द्र ही बन गया। इसका मूल कारण यह था कि इस क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल रूप में मौजूद होते हुए भी उस समय तक राष्ट्रीय राज्यों का जन्म नहीं हुआ था। फ्रांस की राज्य क्रान्ति से प्रभावित जर्मन जनता के केन्द्रीय व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को सिर्फ आदर्शवादी धारणाएँ ही सन्तुष्टि दे सकती थीं। जर्मनी के आदर्शवादी लेखकों में फिक्टे, काण्ट तथा हीगल के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें काण्ट के आदर्शवाद में उदारवादी तत्व पूर्ण मात्रा में हैं। यह उदारवादी तत्व फिक्टे में कम होकर हीगल में पूर्णतया खत्म हो गया है।

इंग्लैण्ड में भी जर्मन आदर्शवादी स्कूल के साथ ऐसी ही विचारधारा का उदय हुआ जो ऑक्सफोर्ड स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटेन के आदर्शवादी लेखकों में थॉमस हिल ग्रीन जोजफ ब्रेडले तथा बोसांके अधिक विख्यात हैं। अंग्रेजी आदर्शवादियों, मुख्यतः ग्रीन के हाथों में पड़कर जर्मन आदर्शवाद बहुत कुछ संशोधित हो गया। तत्कालीन इंग्लैण्ड की परिस्थितियों तथा इंग्लैण्ड की चिरकालीन उदार रिवाजों को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज आदर्शवादी जर्मनी के उग्र आदर्शवाद को एक उदार तथा नरम विचारधारा में परिवर्तित कर देते हैं, जिसे आदर्शवाद का अंग्रेजी रूपान्तर कहा जा सकता है। यदि जर्मनी का आदर्शवाद उग्रवादी था, तो इंग्लैण्ड का उदारवादी। ग्रीन तथा हीगल को क्रमशः उदार एवं उग्र आदर्शवाद का प्रतीक विचारक कहा जा सकता है।

आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त

19वीं और 20वीं सदी के पहले की राजनीतिक विचारधारा में आदर्शवाद का बहुत ज्यादा अल्प रहा है। राज्य के विषय में अपने नजरिए के आधार पर आदर्शवाद के उदारवादी आदर्शवाद और उग्रवादी आदर्शवाद इस तरह के दो पक्ष रहे हैं। आदर्शवाद के इन दो पहलुओं में कई मतभेद होते हुए भी उनकी मूल विचारधारा एक ही है और आदर्शवादी विचारधारा के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

(1) **राज्य साध्य नहीं** समाजवाद, व्यक्तिवाद और अन्य दूसरी विचारधाराएँ राज्य को व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का एक साधन मात्र निर्मित करता है, लेकिन आदर्शवादी राज्य को साध्य मानते हैं। आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य एक साध्य है, जिसके विकास के लिए व्यक्ति को अपना बलिदान करने के लिए भी

प्रयासरत रहना चाहिए। राज्य की तुलना में व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है, व्यक्ति तो राज्य रूपी प्रयासरत के साधन मात्र है, इसलिए उनके द्वारा पूर्ण रूप से राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में बार्कर ने लिखा है, आदर्शवादी सामान्यतः अपनी विचारधारा का केन्द्र सामाजिक व्यवस्था से होता है, जिसमें व्यक्ति को अपना निर्दिष्ट जगह खोज लेना चाहिए अर्थात् उनके अनुसार समाज व्यक्ति के लिए नहीं है।

(2) राज्य एक नैतिक संस्था है—आदर्शवादी राज्य को बुद्धिवादी तथा प्रकृतिवादी विचारकों की तरह भौतिक जरूरतों की पूर्ति का साधन मात्र न मानकर उसका अस्तित्व एक नैतिक संस्था के रूप में मानते हैं। जिस तरह समाज में परिवार, मन्दिर आदि संस्थाएँ व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से पूर्ण बनाने का प्रयास करती हैं, उसी प्रकार राज्य का भी यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति को सामाजिक जीवन तथा कार्य व्यापार में उपयुक्त स्थान प्रदान को और उसे इस योग्य निर्मित करे कि अपनी सामाजिक स्थिति में जुड़े कर्तव्य सुचारु रूप से उत्पन्न कर सके। आदर्शवादियों का मत है कि राज्य हमारे नैतिक का ही प्रत्यक्षीकरण है और राज्य की सदस्यता अनैतिक एवं मूर्ख मानव को नैतिक, योग्य तथा विवेकशील बनाती है।

(3) राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—सामान्य इच्छा का रूसो का सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इस विचारधारा के अंतर्गत रूसो की सामान्य इच्छा जो हमेशा लोकोपकारक तथा निःस्वार्थ स्थायी होती है। राज्य के रूप में साकार अथवा मूर्तरूप ग्रहण करती है। इस सामान्य इच्छा में निजी इच्छाओं का उस सीमा तक प्रतिनिधित्व होता है, जिस सीमा तक निजी इच्छाएँ सार्वजनिक हित से प्रेरित होती हैं। राज्य का कोई भी काम व्यक्ति की इच्छा के उलट नहीं होता, क्योंकि राज्य उस सामान्य इच्छा के अनुकूल काम करता है, जिसके तहत व्यक्ति की आदर्श इच्छा भी सम्मिलित होती है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि होने के कारण राज्य के सभी आवश्यक रूप से उचित नैतिकतापूर्ण तथा विवेकपूर्ण होते हैं।

(4) राज्य का अपना उद्देश्यों तथा व्यक्तित्व—आदर्शवाद के विचारानुसार राज्य का अपना अलग इच्छा तथा व्यक्तित्व होती है। राज्य की यह इच्छा व्यक्ति की निजी न सामूहिक इच्छा से अलग और उच्चतर होती है। राज्य व्यक्तियों का समुदाय मात्र नहीं होता, वरन् उसकी सत्ता उन व्यक्तियों की समष्टि से अलग तथा उच्चतर होती है, जिनसे वह निर्मित होता है। फिक्टे ने स्पष्ट किया है कि जिस तरह एक तैल चित्र तैल कर्णों का समूह मात्र नहीं है, उसी तरह एक मनुष्य सिर्फ समूह न होकर उससे अधिक है।

(5) राज्य का आधार बल नहीं, इच्छा है आदर्शवाद के अंतर्गत राज्य का आधार बल या शक्ति नहीं बल्कि इच्छा है। लोग राज्य के कानूनों का पालन इसलिए नहीं करते कि राज्य उन्हें बलपूर्वक मानवता या मनवा सकता है, अपितु इसलिए करते हैं कि वास्तव में राज्यशक्ति राज्य के कानून व उसकी आज्ञा उस साधारण इच्छा के मूर्तरूप होते हैं, जिसमें व्यक्ति की अपनी औचित्यपूर्ण इच्छा भी सम्मिलित होती है। इस तरह राज्य के कानूनों व आदेशों का पालन करते समय हम अपनी ही सदृच्छा का पालन कर रहे होते हैं। ग्रीन के मतानुसार यदि राज्य उत्पीड़न करके अपनी इच्छाओं का पालन कराता है तो राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता।

(6) राज्य आन्तरिक और बाह्य दृष्टि से सर्वशक्तिमान है आदर्शवादी के अंतर्गत राज्य सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, सर्वाधिकार सम्पन्न तथा नैतिकता का संरक्षक है। अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह राज्य के सभी कानूनों और आदेशों का पालन करे। राजसत्ता किसके हाथ में है, इसका व्यक्ति के लिए कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए। उसका प्रयोग चाहे कोई निरंकुश राजा करे अथवा कोई विशेष श्रेणी, व्यक्ति के लिए जरूरी है कि वह राज्यज्ञा का पूरी तरह पालन करे।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी राज्य की ताकत असीम है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भी राज्य की कार्य नीति नियन्त्रित करने का कोई अधिकार नहीं है। राज्य अपने विकास के लिए स्वेच्छा किन्हीं भी साधनों का उपयोग कर सकता है। उग्र आदर्शवादियों के अनुसार तो युद्ध भी कोई खराब बात न होकर एक जरूरी वस्तु और राज्य के विकास का एक उपयोगी साधन है। इस तरह हीगल जैसे आदर्शवादी राज्य को उपासना की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हुए लिखते हैं कि राज्य पृथ्वी पर भगवान की अवतारणा है। यह पृथ्वी पर मौजूद एक दैवीय विचार है।

(7) राज्य अधिकारों का जन्मदाता है आदर्शवादी, व्यक्तिवादियों या अनुबन्धवादियों की तरह राज्य से पूर्व प्राकृतिक अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अधिकारों को मानव जीवन की ऐसी बाहरी परिस्थितियाँ मानते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति का अन्दरूनी विकास सम्भावित होता है और राज्य ही एक मात्र ऐसी संस्था है, जो व्यक्ति के आन्तरिक विकास हेतु जरूरी बाहरी परिस्थितियाँ पैदा कर सकती है। आदर्शवादी राज्य अधिकारों का जन्मदाता और नैतिक अभिभावक मानते हैं तथा उनका विश्वास राज्य के द्वारा ही उनसे अधिकारों के संरक्षण में है।

(8) मानव स्वतन्त्रता राज्य के आज्ञापालन में ही निहित है आदर्शवादी राजकीय बन्धनों की कमी को स्वतन्त्र नहीं समझते और इस विषय में उनका मत

है कि जिस तरह कुरूपता के अभाव का अर्थ सुन्दरता नहीं है, उसी तरह बन्धनों के अभाव का अर्थ स्वाधीनता नहीं है। ये सकारात्मक स्वाधीनता के उपासक हैं और उनका मत है कि वास्तविक स्वाधीनता राजकीय बन्धनों के आधार पर ही अर्जित की जा सकती है। स्वाधीनता का लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए ज्यादा से ज्यादा प्रदान करना है और ये अवसर राज्य के माध्यम से ही प्रदान किये जा सकते हैं। अतः मानव की वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञापालन में ही निहित है। बन्धनों के कमी में तो स्वतन्त्रता केवल शक्तिशाली व्यक्तियों का विशेषाधिकार मात्र बनकर रह जाती है। स्वतन्त्रता की राज्य पर निर्भरता के विषय में आदर्शवादी नजरिए से स्पष्ट करते हुए प्रो. बार्कर अपनी तार्किक शैली में लिखते हैं कि मानवीय चेतना स्वतन्त्रता को जन्म देती है, स्वतन्त्रता में अधिकार का भाव मौजूद है और अधिकार अपनी रक्षा के लिए राज्य की मांग करते हैं।

(9) राजनीतिक और नैतिक कर्तव्यों में कोई भेद नहीं—आदर्शवादी राजनीतिक और नैतिक कर्तव्यों में कोई भेद नहीं मानते हैं और राज्य मानव की अंदरूनी चेतना की ही व्यापक अभिव्यक्ति है अतः राज्य के प्रति हमारे हर एक कर्तव्य का नैतिक होना जरूरी है जो वस्तु नैतिक रूप से गलत है वह कभी भी कानूनी रूप में सत्य नहीं हो सकती है।

(10) व्यक्ति और राज्य में कोई विशेष नहीं—आदर्शवादी व्यक्ति और राज्य के आपसी रिश्तों के संबंध पर सावयव सिद्धान्त को मानते हैं और उनका मत है कि जिस तरह शरीर और अंग से हितों में कोई विरोध नहीं होता उसी तरह व्यक्ति और राज्य में भी विरोध सम्भव नहीं है। आदर्शवाद के अंतर्गत व्यक्ति के वास्तविक हित वही हैं, जिन्हें राज्य दशा उनका हित समझा जाय। व्यक्ति व राज्य के हितों में विरोध केवल भ्रमवश ही हो सकता है और ऐसी दशा में जब कभी भी व्यक्ति और राज्य के हित परम्पर विरोधी रूप में उपस्थित हो तो राज्य के हितों को महत्त्वपूर्ण व उत्कृष्ट समझते हुए प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

19

जार्ज विल्हेल्स फ्रेडरिक हीगल (1770-1831)

आदर्शवादी सिद्धान्त को जर्मनी में चरम शिखर पर पहुंचाने तथा राज्य की उत्कृष्ट सत्ता का प्रबलतम रूप में प्रतिपादन करने का श्रेय हीगल को जाता है, जिसके दूसरे जर्मन आदर्शवादियों की तुलना में राजनीतिक विचारधारा को ज्यादा प्रभावित किया है। एक उच्चराज कर्मचारी का पुत्र होने की वजह से हीगल का पालन पोषण तथा शुरुआती शिक्षा व्यवस्थित तरीके से हुई। रूसो के दर्शन का उसने व्यापक अध्ययन किया और उसने ईसामसीह का जीवन-चरित्र लिखकर ईसाई धर्म की नैतिक असत्यताओं का जिक्र किया। यूनानी दार्शनिकों मुख्यतः प्लेटो का उस पर विशेष असर था। वह 47 वर्ष की अवस्था में कानिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग का अध्यक्ष बन गया। तत्पश्चात् उसने बर्लिन विश्वविद्यालय को अपनी सेवाएँ प्रदान कीं। 61 वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया।

प्रो. सेबाइन का मत है कि हीगल की राजनीतिक विचारधारा का महत्त्व दो बिन्दुओं पर केन्द्रित है और वे हैं—राष्ट्रीय राज्य का और द्वन्द्वत्मक प्रणाली आदर्श स्वरूप।

हेगल का दर्शन

सुप्रसिद्ध दार्शनिक जार्ज विलहेम फ्रेड्रिक हेगल (1770-1831) कई वर्ष तक बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे और उनका देहावसान भी उसी नगर में हुआ।

उसके लिखे हुए आठ ग्रंथ हैं, जिनमें प्रपंचशास्त्र, न्याय के सिद्धांत एवं दार्शनिक सिद्धांतों के विश्वकोश, ये तीन ग्रंथ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। हेगेल के दार्शनिक विचार जर्मन-देश के ही कांट, फिकटे और शैलिंग नामक दार्शनिकों के विचारों से विशेष रूप से प्रभावित कहे जा सकते हैं, हालाँकि हेगेल के और उनके विचारों में महत्वपूर्ण अंतर भी है।

हेगेल का दर्शन निरपेक्ष प्रत्ययवाद या चिदाद अथवा वस्तुगत चैतन्यवाद कहलाता है, क्योंकि उनके मत में आत्मा-अनात्मा, द्रष्टा-दृश्य, एवं प्रकृति-पुरुष सभी पदार्थ एक ही निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप परम तत्व या सत् की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। उनके अनुसार विश्व न तो अचेतन प्रकृति या पुद्गलों का परिणाम है और न किसी परिच्छिन्न व्यक्ति के मन का ही खेल। जड़-चेतन-गुण-दोष-मय समस्त संसार में एक ही असीम, अनादि एवं अनंत चेतन तत्व, जिसे हम परब्रह्म कह सकते हैं, ओतप्रोत है। उससे पृथक् किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं। वह निरपेक्ष चिद् या परब्रह्म ही अपने आपकी अपनी ही स्वाभाविक क्रिया से विविध वस्तुओं या नैसर्गिक घटनाओं के रूप में सतत प्रकट करता रहता है। उसे अपने से पृथक् किसी अन्य साधन या सामग्री की आवश्यकता नहीं। हेगेल के अनुसार पुद्गलात्मक विश्व और हमारे तन, परस्पर भिन्न होने पर भी, एक ही निरपेक्ष सक्रिय परब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ होने के नाते एक दूसरे से घनिष्ठतापूर्वक संबंधित एवं अवियोज्य हैं। हेगेल के विचार में संसार का सारा ही विकासत्मक क्रियाकलाप सक्रिय ब्रह्म का ही क्रियाकलाप है। क्या जड़ क्या चेतन, सभी पदार्थ और प्राणी उसी एक निरपेक्ष विद्रूप सत् के सीमित या परिच्छिन्न व्यक्त रूप हैं। जड़ीभूत प्रकृति, प्राणयुक्त वनस्पतिजगत्, चेतन पशुपक्षी तथा स्वचेतन मनुष्यों के रूप में वही एक परब्रह्म अपने आपको क्रमशः अभिव्यक्त करता है और उसकी अबतक की अभिव्यक्तियों में आत्मसंवित्तियुक्त मानव ही सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, जिसके दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक उत्तरोत्तर उत्कर्ष के द्वारा ब्रह्म के ही निजी प्रयोजन की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्म अपने आपको विश्व के विविध पदार्थों के रूप में प्रकट करके ही अपना विकास करता है।

इस प्रकार, हेगेल का निरपेक्ष ब्रह्म एक सक्रिय मूर्त सार्वभौम या गत्यात्मक एवं ठोस सार्वभौत तत्व है, अमूर्त सार्वभौम नहीं। वह शंकराचार्य के ब्रह्म के स श न तो शांत या कूटस्थ है और न भेदशून्य। हेगेल ने शैलिंग के भेदशून्य ब्रह्म को एक ऐसी अंधकारपूर्ण रात्रि के समान बताकर, जिसमें विविध रंगों की सभी गौएँ काली दिखाई पड़ती हैं, सभी भेदशून्य ब्रह्मवादियों की कटाक्षपूर्ण आलोचना की है।

शैलिंग चराचरात्मक समस्त विश्व की आविर्भूति ब्रह्म से स्वीकार करते हुए भी उसे सब प्रकार के भेदों से रहित तथा प्रपंच के परे माने थे। परंतु भेदशून्य अगत्यात्मक, तत्व से भेदपूर्ण तता गत्यात्मक सृष्टि के उदय या विकास को स्वीकार करना हेगेल को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुआ। उन्होंने ब्रह्म को विश्वातीत नहीं माना। हेगेल का ब्रह्म किसी हद तक श्रीरामानुजाचार्य के ईश्वर से मिलता जुलता है। वे, श्रीरामानुजाचार्य की तरह, ब्रह्म के सजातीय विजातीय भेद तो नहीं मानते, परंतु उसमें स्वगतभेद अवश्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने उसे भेदात्मक अभेद या अनेकतागत एकता के रूप में स्वीकार किया है, शुद्ध अभेद या कोरी एकता के रूप में नहीं। इसी प्रकार, श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धांत भी विशिष्टाद्वैत है, शुद्धाद्वैत या अद्वैत नहीं। हेगेल छांदोग्योपनिषद् के “सर्व खल्विदं ब्रह्म” (3.14.1), ऋग्वेद के “पुरुष एवेदं सर्वम् तथा श्रीमद्भगवद्गीता के “सर्वतः परिणपावं” (13.13) आदि सिद्धांत के अनुमोदक तो अवश्यमेव कहे जा सकते हैं। परंतु मांडूक्योपनिषद् के “अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमा...” (12) सिद्धांत के माननेवाले नहीं।

हेगेल ने क्रियात्मक एवं गतिशील विश्व के विभिन्न रूपों में होनेवाली ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति को एक विशेष यौक्तिक या बौद्धिक नियम के अनुसार घटित होनेवाली माना है। उनका कहना था कि सत्य यौक्तिक है और यौक्तिक सत्य है। दूसरे शब्द में, उनके अनुसार बौद्धिक विचार का नियम और संसार के विकास का नियम एक ही है और उन्होंने यह नियम विरोध या विरोध का नियम बतलाया है। इसके अनुसार जड़ात्मक जगत् एवं वैयक्तिक मन दोनों ही के रूप में निरपेक्ष ब्रह्म के विकास का हेतु उस तत्व का आंतरिक विरोध या व्याघात ही है। हेगेल के अनुसार दो विरोधी या परस्पर व्याघातक विचारों या पदार्थों का समन्वय एक तीसरे विचार या पदार्थ में हुआ करता है। उदाहरणार्थ, हमारे मन में सर्वप्रथम “सत्” का विचार उदय होता है, या यों कहिए कि संसार के समस्त पदार्थों की आदि अवस्था “सत्” ही है। परंतु “केवल सत्” या “सन्मात्र” वस्तुतः असत् सदृश है। अतः सत् के अंतस्थल में ही असत् या अभाव सन्निहित है। और सत् असत् की यह विप्रतिपत्ति ही सत् के भावी विकास का मूल हेतु बन जाती है। चूँकि विप्रतिपत्ति या विरोध यौक्तिक विचार को सद्य नहीं, अतः यह स्वभाव से ही उसके निराकरण की ओर अग्रसर हो जाता है तथा सत् और असत् नामक विरोधी प्रत्ययों के समन्वय का निष्पादन “भव” नामक प्रत्यय में कर देता है। हेगेल प्रारंभिक प्रत्यय को पक्ष या निधान, उसके विरोधी प्रत्यय को प्रतिपक्ष या प्रतिधान तथा उनके मिलानेवाले प्रत्यय

को समन्वय या समाधान कहते हैं और उनकी यह पक्ष से समन्वयोन्मुखी पूरी प्रक्रिया विरोध समन्वय न्याय या द्वंद-समन्वय विधि अथवा त्रिकवाच नाम से जानी जाती है। उपर्युक्त उदाहरण में “सत्” पक्ष, “असत्” प्रतिपक्ष तथा “भव” समन्वय है। इस प्रकार हेगेल के विरोध-समन्वय-न्याय में पक्ष, प्रतिपक्ष, एवं समन्वय तीनों ही का समाहर होता है। इसे कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम अपने बाह्य ज्ञान को लें और देखें कि उसमें यह नियम किस प्रकार लागू होता है। हेगेल के कथनानुसार, किसी को भी बाह्य ज्ञान तभी होता है जब पहले ज्ञेय पदार्थ का विषय द्वारा ज्ञाता या विषयी का विरोध होता है (अर्थात् वह विषय उस तथाकथित विषयी को उसके बाहर निकालता है) और तत्पश्चात् वह विषयी उस विषय से विशिष्ट होकर अपने आपमें समाविष्ट होता है। यहाँ “विषयी” पक्ष तथा “विषय” प्रतिपक्ष है और उनका समन्वय विषयी द्वारा प्राप्त विषय संबंधी ज्ञान से होता है।

वस्तुतः हेगेल के मत में विचार एवं विश्व के सारे ही विकास की प्रगति, अनिवार्य रूप से, इसी विरोध समन्वय न्याय के अनुसार होती है। उन्होंने अनुभव या संसार के प्रायः सभी क्षेत्रों की व्याख्या में इस न्याय की प्रयुक्तता को प्रदर्शित करने का दुरुसाध्य किंतु प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि विश्व में जो कुछ भी होता है वह सब इस नियम के अनुसार होता है और इसके परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर नवीन भेदप्रभेद या पदार्थों का आविर्भाव होता रहता है। कोई भी भेद कभी भी निरपेक्ष प्रत्यय या परब्रह्म के बाहर नहीं होता और न वह ब्रह्म ही कभी प्रापंचिक पदार्थों से पृथक् होता है परंतु संसार में कभी ब्रह्म की संभाव्यताओं (Potentialities) का अंत नहीं होता और इस दृष्टि से हम उसे संसारातीत भी कह सकते हैं। हेगेल ने इसी ब्रह्म या निरपेक्ष प्रत्यय में समस्त भूत, वर्तमान एवं भावी भेदों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

हीगेल का ब्रह्म

“हेगेल का ब्रह्म व्यक्ति है अथवा नहीं ?” यह प्रश्न विवादग्रस्त है। हैलडेन आदि पंडित उसे व्यक्ति मानते हैं परंतु प्रो. मैकटैगार्ट आदि विद्वानों की सम्मति में वह व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

हेगेल, निःसंदेह, एक कट्टर सत्कार्यवादी विचारक थे। उनके अनुसार कार्य अपने कारण में अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व भी मौजूद रहता है। वस्तुतः वे कारण एवं कार्य तथा गुणी और गुण को एक दूसरे से अभिन्न और अन्योन्याश्रित मानते थे।

जिस प्रकार कारणों के अभाव में कार्य नहीं हो सकता अथवा गुण बिना गुणी के नहीं रह सकता, उसी प्रकार, हेगल के मत में, कार्य के अभाव में भी कोई घटना या वस्तु कारण नहीं कहला सकती, ठीक वैसे ही जैसे बिना गुण के गुणी नहीं।

हेगल का निरपेक्ष प्रत्यय या ब्रह्म, जिसे वे कभी कभी ईश्वर भी कहते हैं, काँट की “पारमार्थिक या अपने आपमें की वस्तुओं” के सदृश अज्ञेय नहीं। वह हमारे चिंतन का विषय बन सकता है, क्योंकि हम और हमारी चिंतनशक्ति, बुद्धिपरिच्छिन्न होने पर भी, उसी के अनुरूप हैं। दूसरे शब्दों में चूँकि हमारे सीमित विचार के नियम वही हैं जो सार्वभौम ईश्वर या उसके विचाररूप विश्व के, अतः वह (ईश्वर) हमें बुद्धि द्वारा अवगत हो सकता है। हेगल के इस विचाररूप प्रयत्न से निस्संदेह ही उस चौड़ी खाई को पाटने का लाघनीय कार्य किया जो काँट ने पारमार्थिक और व्यावहारिक वस्तुओं के बीच में, उन्हें क्रमशः अज्ञेय एवं ज्ञेय बताकर, खोद डाली थी

हेगलीय दर्शन, एक अत्यंत महत्वपूर्ण, उत्कृष्ट एवं उत्कट बौद्धिक प्रयास होने पर भी, आपत्तियों से मुक्त नहीं। उसके विरुद्ध, संक्षेप में निम्नांकित बातें प्रस्तुत की जा सकती हैं-

(1) हेगलीय दर्शन की सत्यता स्वीकार कर लेने पर हमारी निजी सुदृढ़ स्वातंत्र्य भावना को इतना भारी धक्का लगता है कि वह जड़सहित हिल जाती है। जब प्राकृतिक एवं मानसिक सारी ही सृष्टि की गति वस्तुतः परब्रह्म की ही गति या क्रिया है, तो फिर हमारे वैयक्तिक स्वतंत्र प्रयत्न के लिए स्थान अथवा अवसर कहाँ? हेगल मानवीय स्वतंत्रता को मानते हुए उसे ईश्वरीय स्वतंत्रता द्वारा सीमित स्वीकार करते हैं। परंतु उनकी यह मान्यता मानव को अस्वतंत्र मानने के समान ही प्रतीत होती है। जिस क्षेत्र, जिस अर्थ, जिस मात्र और जिस समय में हम स्वतंत्र कहे जा सकते हैं, उसी क्षेत्र, उसी अर्थ, उसी यात्रा एवं उसी समय में हमारी स्वतंत्रता सीमित या परतंत्र नहीं कही जा सकती। उसे सीमित करने का स्पष्ट अर्थ है उसे छीन लेना।

(2) हेगल निरुपाधि ब्रह्म को एक ओर तो पूर्ण एवं काल से अपरिच्छिन्न स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर, विश्व के रूप में उसका कालगत विकास भी मानते हैं। परंतु इन दोनों मान्यताओं में विरोध मालूम होता है। हेगल इन दो प्रकार की बातों को एक दूसरी के साथ ठीक ठीक संबंधित नहीं कर सके।

(3) हेगल सार्वभौम चित् या निरुपाधि ब्रह्म को बुद्धि द्वारा ज्ञेय मानते हैं। परंतु, यथार्थतः, जो कुछ बुद्धि से ज्ञात होता है, या हो सकता है, वह सार्वभौम या

निरुपाधि नहीं हो सकता। हेगेल ने बुद्धि में ब्रह्मज्ञान की क्षमता मानकर बुद्धि का अनुचित महत्व प्रदान कर दिया है। बौद्धिक विचार स्वभाव से ही द्वैत या भेद में भ्रमण करके जीवित रहनेवाले होते हैं। अतः सार्वभौम चित् या निरुपाधि ब्रह्म, जो एक या परिपूर्ण सत् है, बौद्धिक विचार का विषय नहीं बन सकता। ब्रैडले महोदय की यह धारणा कि ब्रह्म को हम अपरोक्षानुभूति द्वारा ही अनुभव कर सकते हैं, बुद्धि द्वारा जान नहीं सकते, हेगेल के विचार की अपेक्षा कहीं अधिक समीचीन प्रतीत होती है। केनोपनिषद् ने “मत्तं यस्य न वेद सः” इन शब्दों द्वारा ब्रह्म के बौद्धिक ज्ञान का खंडन किया है, तथा माण्डूक्योपनिषद् ने “एकात्मप्रत्ययसार” इस कथन से ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति ही संभव बतलाई है। और ऐसी ही बात आधुनिक युग के प्रख्यात दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ ने भी स्वीकार की है।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली

हीगल के मतानुसार मानवीय सभ्यता की विकास या प्रगति कभी भी एक सीधी रेखा के समान नहीं होता है। जिस तरह प्रचण्ड तूफान के थपेड़े खाता हुआ एक जहाज अपना रास्ता बनाता है, उसी तरह से मानव सभ्यता भी कई टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होती हुई आगे बढ़ती है। राज्य एक जड़ वस्तु न होकर विकसित संस्था है, अतः इसका अध्ययन विकासवादी नजरिए के आधार पर ही किया जाना चाहिए। विकास की इस प्रक्रिया में निम्नकोटि की वस्तुएं उच्चकोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता पा लेती है और उनकी निम्नता खत्म न होकर उच्चता प्राप्त कर लेती है। विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो पहले थी, अपितु वह कुछ आगे बढ़ जाती है इसी विकासवादी प्रक्रिया को ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली का नाम दिया है।

सर्वप्रथम यूनानी लोगों ने अपने विचार-विमर्श में द्वन्द्वात्मक प्रणाली को अपनाया था। इस पद्धति के आधार पर वे आपसी कथोपकथन प्रतितर्क और तर्क द्वारा सत्य को प्रमाणित करते एवं नए सत्य की खोज करते थे। हीगल द्वन्द्व की इस पद्धति को विचारों के क्षेत्र में लागू करते हुए कहता है कि सर्वप्रथम हर एक वस्तु का एक मौलिक रूप वाद मौलिक रूप का ठीक विपरीत हो जाता है, इस विपरीत रूप को प्रतिवाद तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं और इन दोनों के मेल से वस्तु का नवीन समन्वित रूप समवाद बन जाता है। यह समन्वित रूप थोड़े दिनों में पुनः मौलिक रूप ग्रहण कर लेता है और इसी प्रक्रिया की लगातार आवृत्ति होती रहती है।

हीगल इसी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर राज्य तथा समाज के विकास का निरीक्षण करता है। वह मानता है कि यूनानी राज्य वाद थे, धर्म राज्य उसके प्रतिवाद और राष्ट्रीय राज्य उनका एक समवाद होगा। कला दर्शन तथा धर्म को भी वह इसी तरह वाद समवाद तथा प्रतिवाद मानता है। हीगल के मतानुसार द्वन्द्व की इस प्रणाली से ही संसार के सभी विचार विकसित होते हैं। इन तीनों दशाओं के आपस में सम्बद्ध होने तथा बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण कुछ आलोचक इस पद्धति को सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में ठीक नहीं मानते हैं और कैटलिन जैसे कुछ व्यक्तियों ने तो इसका मनोरंजक बौद्धिक अभ्यास कहकर उपहास किया है, किन्तु दार्शनिक नजरिया से देखने पर यह पद्धति विकासवादी अध्ययन के लिए ठीक प्रतीत होती है। कार्ल मार्क्स ने अपनी इतिहास की आर्थिक व्याख्या हीगल की इस प्रणाली के आधार पर ही प्रस्तुत की है।

हीगल का राज्य-विषयक सिद्धान्त

इस धारणा से हीगल रूसो और दूसरे संविदावादियों की सहमत नहीं है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और इसकी उत्पत्ति किसी सामाजिक समझौते के फलस्वरूप हुई है। इसके विपरीत वह इस विषय में यूनानी विचारकों से प्रभावित है। वह अरस्तू के तरह राज्य को एक स्वाभाविक संगठन मानता है और उसका मत है कि व्यक्ति का उच्चतम विकास राज्य में ही सम्भव है। हीगल राज्य को व्यक्तियों के एक कोरे समूह के स्थान पर वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली विश्वात्मा एवं सत्ता की अभिव्यक्ति मानता है।

राज्य की उत्पत्ति—द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर हीगल ने राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है। उसने लिखा है कि इसका निर्माण दो तरह के तत्वों से होता है। एक तरफ विश्वात्मा अपने उद्देश्य की ओर बढ़ती हुई इसके विकास में सहयोग देती है और दूसरी तरफ मनुष्य इसके माध्यम से अपने को पूर्ण अपने को पूर्ण बनाने का यत्न करते हुए इसका निर्माण करते हैं। उसका विचार है कि मानवीय जीवन का सार स्वाधीनता है और स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति ही संसार का इतिहास है। स्वाधीनता की प्राप्ति हेतु अब तक जो मानवीय संगठन बनाये गये हैं, उनमें सर्वप्रथम था परिवार। यह मनुष्य की ऐन्द्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता और उसे सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार जो कि पारम्परिक प्रेम के दृढ़ बन्धनों के परिणाम है, एक वाद है और वैपर के शब्दों में हीगल

के राज्य सम्बन्धी विश्लेषण का प्रारम्भिक बिन्दु है। परिवार मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार के विपरीत यह ऐसे स्वतंत्र मनुष्यों का समूह होता है, जो केवल स्वहित के धागे से बंधे होते हैं। परिवारवाद और नागरिक समाज प्रतिवाद की पारम्परिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप एक समवाद का उदय होता है, जो कि परिवार और समाज दोनों के सर्वोत्तम तत्वों को सुरक्षित रखता है और वह समवाद राज्य ही है। इस तरह द्वन्द्वात्मक विकास की चरम सीमा राज्य और विकासवादी प्रक्रिया में राज्य से उच्चतर व अधिक पूर्ण कोई वस्तु नहीं है। हीगल के अनुसार इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है और आत्मकथा में जो स्थान व्यक्ति का होता है, इतिहास में वही नगद राज्य का है।

राज्य साध्य और व्यक्ति साधन—हीगल के अनुसार राज्य एक समाप्त इकाई एक प्राकृतिक सावयव है और व्यक्ति उसके अवयव या अंग मात्र है। जिस तरह समस्त शरीर अपने अंगों से बड़ा और ज्यादा विशिष्ट होता है, वैसे ही राज्य व्यक्तियों से वृहद् और विशिष्ट है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति साधन मात्र है। हीगल उपयोगितावादियों और व्यक्तिवादियों के सिद्धान्त को नहीं मानता है और कहता है कि व्यक्ति का स्वतन्त्रता और सुख ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है और राज्य इसी लक्ष्य को पूरा करने का एक कृत्रिम साधन है। हीगल के मतानुसार राज्य परम सत्य और वास्तविकता है, इसलिए वही साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है। उसने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ इतिहास का दर्शन में लिखा है, मनुष्य का समस्त महत्त्व और मूल्य उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता सिर्फ राज्य में ही सम्भव है। इस विषय पर हीगल की धारणा को प्रो. मैकगवर्न ने इस स्पष्ट किया है, पुराने उदारवादी इस बात पर बल देते थे कि राज्य अपने में साध्य नहीं है, अपितु एक साधन मात्र है और साध्य है जनता की भलाई और कल्याण इसके उलट हीगल ने यह घोषित किया कि राज्य स्वयं साध्य है और व्यक्ति एक साध्य के लिए साधन मात्र है वह साध्य है उस राज्य का ऐश्वर्य, जिसके कि वे घटक हो।

राज्य एक स्थायी संस्था है, जो अपने नैतिक गुणों की वजह व्यक्तियों के किस्मत की सच्ची निर्णायिका है। हीगल के मतानुसार राज्य एक स्थिर नहीं अपितु विकसित संस्था है, जो अपने विकास के हर एक चरण में मानव की विवेकशीलता के स्तर को प्रस्तुत करती है। हीगल के मतानुसार, राज्य निरंकुश सर्वशक्तिमान और अभ्रान्त कभी गलती न करने वाला है। राज्य तो पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है। वह पृथ्वी पर अस्तित्वपान एक दैवीय विचार है।

राज्य तथा स्वाधीनता

जर्मनी के पुनरुत्थान और एकीकरण की समस्या हीगल के सम्मुख थी और प्रारम्भ से ही हीगल का मत था कि उग्र व्यक्तिवाद जर्मन राष्ट्रीय चरित्र का एक मुख्य दोष है। इसलिए वह इस उग्र व्यक्तिवाद पर रोक लगाने की दिशा में प्रेरित हुआ।

हीगल के शब्दों में स्वतन्त्रता मनुष्य का सबसे विशेष गुण और मानवत्व का सार उसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता राज्य का विरोध करने में नहीं, अपितु पूर्ण रूप से की आज्ञा का पालन करने में है। राज्य खुद व्यक्ति की आत्मा का ही विस्तृत रूप है, राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध नहीं हो सकता और व्यक्ति की स्वाधीनता राज्य आज्ञा-पालन में ही निहित है। हीगल के शब्दों में एक पूर्ण राज्य वस्तुतः वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रतिरूप होता है और राज्यों के अलावा अन्य कोई भी वस्तु स्वतन्त्रता को वास्तविक रूप प्रदान नहीं कर सकती।

स्वतन्त्रता और राज्य के विषय में हीगल की उपयुक्त धारणा से यह ज्ञात होता है कि राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। हीगल राज्य को एक नैतिक संस्था होने की वजह से अधिकारों का जन्मदाता भी मानता है। हीगल के राज्य का अपना एक अलग व्यक्तित्व प्राप्ति में मदद देना अर्थात् हर एक स्थिति में उसकी इच्छानुसार काम करना है। हीगल के अनुसार व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध जीवात्मा और विश्वात्मा का है। राज्य में विश्वात्मा की पूरी अभिव्यक्ति होती है, और चूंकि जीवात्मा का परम लक्ष्य ही विश्वात्मा में खो जाना है, अतः व्यक्ति की दशा राज्य की पूर्ण अधीनता की है। व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं मिल सकते हैं।

हीगल के इन विचारों के विषय में इतिहासकार सेबाइन लिखते हैं कि हीगल का मस्तिष्क जर्मनी के एकीकरण के सवाल से चिन्तित था, अतः उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय जरा भी हिचकिचाहट नहीं दिखायी। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर देता है।

राज्य और नैतिकता

हीगल के मतानुसार राज्य नैतिक नजरिए से भी पूरी तरह निरंकुश है। वह स्वयं नैतिकता का संस्थापक होने की वजह से उस पर नैतिकता के किन्हीं नियमों को लागू नहीं किया जा सकता। अपने आचारशास्त्र नामक ग्रन्थ में वह स्पष्ट करता है, राज्य स्वनिश्चित निरपेक्ष बढ़ोत्तरी है जो कि अच्छे-बुरे और नीयता तथा छल-कपट के किसी अमूर्त नियम को नहीं मानती।

समस्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में हीगल का यह विचार अभूतपूर्व है। हीगल के पहले किसी भी दार्शनिक ने राज्य की नैतिक निरंकुशता का प्रतिपादन नहीं किया था और वे मानते थे कि राज्य को नैतिक या प्राकृतिक कानून के उल्लंघन का अधिकार नहीं हो सकता। हीगल की विचारधारा के नितान्त उलट उन्होंने तो यह बात मानी थी कि व्यक्ति नैतिक मान्यताएँ या प्राकृतिक विधि अन्तःकरण के आदेश पर राज्य का विरोध कर सकता है, किन्तु हीगल प्राकृतिक विधि, सामान्य नैतिक मान्यताएँ या अन्तःकरण इनमें से किसी को भी स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार ये तो नैतिकता की आत्मनिष्ठ धारणाएँ हैं जो समय और स्थान के अनुसार परिवर्तित हैं। नैतिकता की कोई वस्तुगत कसौटी होनी चाहिए और राज्य के कानून ही वे कसौटी हैं। इसलिए राज्य नैतिकता से उच्च है और नैतिकता राज्य के कानूनों के पालन में ही निहित है।

राज्य तथा समाज

हीगल की राज्य से जुड़ी विचारधारा की एक प्रमुखता यह है कि वह राज्य को समाज से भी उच्च विशिष्ट मानता है। हीगल के द्वारा द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर राज्य के जन्म का वर्णन करने के लिए जो विचार-क्रम अपनाया गया है, उसके तहत परिवार वाद नागरिक, राज्य समवाद और समाज प्रतिवाद है। इस तरह समाज सार्वभौम आत्मा के विकास में राज्य से पूर्व की अवस्था है और उसका आधार स्वार्थ तथा प्रतियोगिता है, लेकिन राज्य सार्वभौम आत्मा के विकास की उत्कृष्ट अवस्था है और इस दृष्टि से समाज की तुलना में उत्कृष्ट है। इसका अर्थ यह है कि राज्य सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को अपनी इच्छानुसार नियमित और निर्धारित कर सकता है। हीगल की इसी धारणा के कारण उसके दर्शन को सर्वाधिकारवादी कहा जाता है।

हीगल का यह सिद्धान्त भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में नया था। प्लेटो को अलावा सभी राजनीतिक विचारकों ने राज्य की तुलना में समाज को प्रमुखता दी थी। हीगल के समय के उदारवादी विचारक राज्य की तुलना में समाज को प्रमुख संस्था मानते थे। हीगल ने उनकी विचारधारा के बिल्कुल विपरीत विचारों को प्रकट किया।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की स्थिति

हीगल राष्ट्रीय राज्य का न सिर्फ प्रशंसक, अपितु उपासक था और उसकी

धारणा थी कि राष्ट्रीय राज्य का आधारभूत विचार संघर्ष है, जो दैवीय इच्छा के अनुरूप है। राष्ट्रीय राज्य दूसरे राज्य का आधारभूत विचार संघर्ष है, जो दैवीय इच्छा के अनुरूप है। राष्ट्रीय राज्य अन्य राज्यों के साथ संघर्ष के इस रास्ते को अपनाकर ही अपनी पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीयता में उसका जरा भी विश्वास नहीं था और युद्ध को वह मानव-जाति की जरूरी आवश्यकता मानता था। वैपर के अनुसार यह मानता है कि शान्ति मनुष्य के चरित्र को भ्रष्ट करने वाली और स्थायी शान्ति पूर्णतया भ्रष्ट करने वाली होती है। वह लिखता है कि युद्ध मानव के स्वार्थी अहं का खात्मा करता है और इस तरह मानव जाति को पतन के रास्ते से बचाकर उसमें क्रियाशीलता का संचार करता है। जिस तरह समुद्र में शान्ति के समय उत्पन्न होने वाली गन्दगी प्रबल तूफान से खात्मा हो जाती है, उसी तरह मानव समाज की भ्रष्टाचार तथा गन्दगी की शुद्धि से हो जाती है।

उसके अनुसार युद्ध में राज्य और व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप सामने आता है और इससे गृहयुद्ध की सम्भावना खत्म हो जाती है। युद्ध के पक्ष में एक विचित्र तर्क वह यह भी देता है कि एक समय पर सिर्फ एक ही राज्य में परमात्मा की संपूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है और परमात्मा की संपूर्ण अभिव्यक्ति किस राज्य में है, इसका ज्ञान युद्ध के प्रतिफल से ही हो पाता है। युद्ध में विजयी राज्य को ही विश्वात्मा का पूर्ण स्वरूप कहा जा सकता है।

हीगल उग्र राष्ट्रवादी होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा प्रबंध का समर्थक नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को वह सिर्फ कुछ परम्पराएं सिर्फ मानता है, जिसे मानना या न मानना संपूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की अपनी इच्छा पर आश्रित करता है। हीगल सामान्य नैतिकता तथा राजनीतिक नैतिकता में अन्तर करता है और उसका विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय से जुड़े सामान्य नैतिक नियमों का निर्णय तो विश्व इतिहास के अन्तिम न्यायालय में ही हो सकेगा।

इस तरह हीगल एक ऐसे सर्वाधिकारवादी राज्य का उपासक है, जिसके अन्तर्गत स्वातन्त्र्य, मानवीय अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

हीगल के राज्य की विशेषताएँ

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हीगल की राज्य सम्बन्धी के समकक्ष नहीं हो सकती।

1. राज्य स्वयं एक साध्य है और व्यक्ति राज्य के विकास का एक साधन मात्र है।

2. व्यक्ति एक एकाकी इकाई नहीं है, अपितु वह जिस समाज में रहता है, उसका एक अविभाज्य अंग है।
3. राज्य मानवीय जीवन की उत्कृष्ट संस्था है, स्वयं समाज या दूसरे कोई संस्था राज्य के समान नहीं हो सकती।
4. राज्य खुद व्यक्ति की आत्मा का ही विस्तृत रूप हैं और व्यक्ति की स्वाधीनता राज्य की आज्ञापालन करने में ही निहित है।
5. अपने नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को राज्य खुद में समेटे हुए है और उसका प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन राज्य स्वयं नैतिकता से ऊपर है।
6. राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए आजाद है और उस पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता या अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है।

हीगल का शासन सम्बन्धी सिद्धान्त

हीगल शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में राजतन्त्र का समर्थक और लोकतन्त्र का विरोधी था। अपनी द्वन्द्ववात्मक प्रणाली के आधार पर वह स्पष्ट करता है कि निरंकुशतन्त्र वाद प्रजातन्त्र प्रतिवाद और दोनों के द्वन्द्व व सत्यांशों से मिलकर संवैधानिक राजतन्त्र समवाद है, जो प्रथम दो शासन-व्यवस्थाओं से ज्यादा पूर्ण और विकसित है।

इस तरह शासन-व्यवस्था की जगह पर हीगल का आदर्श संवैधानिक राजतन्त्र है किन्तु हीगल का आदर्श इंग्लैण्ड का राजतन्त्र होने की जगह पर एशिया का राजतन्त्र था, जिसमें राजा मन्त्रियों के सलाह के अनुसार तो काम करता था, किन्तु मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति राजा की इच्छा पर निर्भर करती थी, व्यवस्थापिका में बहुमत पर नहीं। इसके अलावा हीगल के संवैधानिक राजतन्त्र में राजा को वित्तीय, प्रशासकीय तथा विधायी शक्तियां प्राप्त थीं।

हीगल सरकार के परम्परागत तीन अंगों कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका की जगह पर तीन अंग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और राजपद बतलाता है। न्यायपालिका को वह कार्यपालिका का ही अंग मानता है और राजा के पद को वह राज्य की सर्वोच्च संस्था तथा कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में समन्वय स्थापित करने वाली इकाई के रूप में देखता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की कल्पना हीगल के द्वारा की गयी है, जिसका पहला सदन तो ब्रिटिश लॉर्ड सभा की तरह कुलीनतन्त्रीय है और द्वितीय सदन

निर्वाचित। उसका विचार था कि मताधिकार बहुत थोड़े से ही शिक्षित और धनी लोगों को मिलना चाहिए तथा वह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध था। प्रतिनिधित्व का सही आधार वह विभिन्न व्यवसायों को मानता था और उसके अनुसार व्यवस्थापिका में अनेक नियमों और वर्गों के प्रतिनिधि होने चाहिए।

वास्तव में, हीगल का शासन सिद्धान्त लोकतन्त्र से काफी दूर था। वह पूरी तरह सत्तावादी शासन में ही यकीन करता था।

हीगल के दर्शन की आलोचना

हीगल द्वारा प्रतिपादित उपयुक्त विचारों की तीखी आलोचना की गयी है। इस आलोचना के आधार निम्नलिखित हैं—

(1) हीगल राज्य और समाज में अन्तर नहीं करता समाज और राज्य में अन्वोन्याश्रितता का रिश्ता होते हुए भी ये दो अलग-अलग इकाइयाँ हैं। लेकिन हीगल का लक्ष्य राज्य की निरंकुशता का प्रतिपादन करना था और इसलिए वह समाज और राज्य को एक मान बैठा है, जो एक बहुत बड़ी गलती है।

(2) हीगल एक सर्वशक्तिमान व निरंकुश राज्य का उपासक है हीगल सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा में यकीन रखने वाला उग्र राष्ट्रवादी है जो वैयक्तिक तथा व्यक्ति स्वतन्त्रता को बिल्कुल तुच्छ मानकर उन्हें राज्य की वेदी पर बलिदान कर देता है। उसके राज्य के सिद्धान्त से यह प्रतिफल निकाला जा सकता है कि व्यक्ति को राज्य की आलोचना करने उसका विरोध करने अथवा उसकी अवमानना करने का कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता है। बार्कर के मतानुसार हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर पर पहुँचा दिया है। ब्राउन के मतानुसार में व्यावहारिक नजरिए से हीगल के सिद्धान्त का अर्थ है आत्मिक दासता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, शारीरिक अधीनता, राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध शान्तिकाल में मनुष्यों द्वारा राज्य रूपी लेवायथन दैत्य की सेवा युद्धकाल में मोलोक दैत्य की उपासना।

आलोचकों के मतानुसार हीगल के इन विचारों ने ही बीसवीं सदी की दो सर्वाधिकारवादी विचारधाराओं साम्यवाद और फासीवाद को उत्पन्न किया। एबेन्टाइन ने लिखा है कि यद्यपि उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी शब्दाडम्बरपूर्ण दार्शनिक परिभाषाओं में किया है, किन्तु उसमें फासीवाद के सभी तत्व परिलक्षित होते हैं।

(3) हीगल का आदर्शवाद क्रूरतावाद या पशुवाद है तत्कालीन जर्मन

व्यवस्था को ही आदर्श मान लेने की वजह से हीगल के आदर्शवाद को पशुवाद या क्रूरतावाद कहा जाता है। वास्तव में तत्कालीन व्यवस्था की तारीफ करने के आदेशों में हीगल कुछ इतनी ज्यादा सीमाएँ पार कर गया प्रतीत होता है कि आलोचकों के विचार में यह बर्बरता को इसलिए दैवीय रूप से देता है क्योंकि वह कामयाब हो गयी है।

(4) हीगल के युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार भयंकर हैं—हीगल ने युद्ध को मानव सभ्यता के उत्थान और राज्य की सर्वशक्तिशालिता का परिचय देने के लिए जरूरी माना है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता की उपेक्षा का शिक्षा देने के कारण उसका दर्शन संहार, मृत्यु तथा विनाश का सन्देशवाहक बन गया है।

(5) हीगल का दर्शन अत्यधिक रूढ़िवादी और बुद्धिवादी है—हीगल सिर्फ एक दार्शनिक है और अनुभव शून्य दार्शनिक होने की वजह से वह मान बैठा है कि विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता हमेशा विवेकपूर्ण होती है। अति दार्शनिकता की वजह से उसका दर्शन एक कल्पनामात्र हो के रह गया है।

हीगल की अत्यधिक रूढ़िवादी विचारधारा है। इतने व्यापक तथा गम्भीर राजनीतिक दर्शन की व्याख्या करने के बाद हीगल ने यही अन्तिम निर्णय निकाला कि तत्कालीन जर्मन व्याख्या ही आदर्श तथा सर्वोत्कृष्ट है। इसके अलावा हीगल के संसार के विकास के समस्त प्रक्रिया राष्ट्रीय राज्य पर आकर ठहर जाती है, जिसे वह सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन का सर्वोच्च तथा सबसे ज्यादा पूर्ण रूप समझता है।

हीगल की आलोचना करते हुए हॉबाहाउस ने कहा है—हीगल द्वारा राज्य गई गौरव गाथा को गाथी एक साम्यवादी विचार तरंग मान लेना भूल है उसके भयानक एवं मिथ्या सिद्धान्त ने जिसके अंतर्गत ईश्वरीय राज्य की कल्पना की गयी है, उन्नीसवीं सदी के बुद्धिवादी प्रजातान्त्रिक मानवतावाद के सबसे भयानक विरोध के लिए पृष्ठभूमि निर्मित की।

हीगल की देन और प्रभाव

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी हीगल की राजनीतिक चिन्तन को कुछ महत्त्वपूर्ण देन है, जिसकी वजह से उसका नाम हमेशा स्मरणीय रहेगा।

उसकी पहली देन द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। द्वन्द्वात्मक प्रणाली के रूप में उसने संसार में होने वाले महान् बदलावों को समझने के लिए एक नया दार्शनिक साधन प्रस्तुत किया है। वास्तव में ऐतिहासिक प्रणाली को अच्छी तरह से समझने वाला वह पहला विचारक है।

उसकी दूसरी विशिष्ट देन राष्ट्रीय राज्य का विचार है। उसे राष्ट्रीयता का अग्रदूत, व्याख्यता और दृढ़ प्रचारक कहा जा सकता है। इस विषय में हैलोवेल ने स्पष्ट किया है, हीगल की अपेक्षा किसी दूसरे व्यक्ति ने राष्ट्रीयता का ज्यादा उदात्त रूप में वर्णन नहीं किया है।

राजनीतिक क्षेत्र में उसकी तीसरी देन इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना है कि राज्य व्यक्ति की विकास के लिए जरूरी है और व्यक्ति राज्य का ही एक अनिवार्य अंग है।

चौथी देन नीतिशास्त्र तथा राजनीतिक के आपसी रिश्तों को सबसे ज्यादा स्पष्ट रूप में समझकर प्रतिपादित करना है। वैपर के अनुसार, हीगल ने राजनीति को अनेक हितों के समन्वय से ऊँचा उठाया, उसने कानून को कोरी आज्ञा से उत्कृष्ट वस्तु बनाया। उसका यह सिद्धान्त कम महत्त्व नहीं रखता है कि राज्य को शान्ति रखने में पुलिस का काम करने वाले संगठन से ज्यादा उच्च तथा मनुष्य के नैतिक विकास का साधन समझा जाना चाहिए।

संसार की क्रियात्मक राजनीति पर जितना गहरा असर हीगल का पड़ा है, उतना बहुत ही कम दार्शनिकों का पड़ा है। उसके सिद्धान्तों ने पराधीन और विभक्त जर्मनी राज्यों में एकता और राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना पैदा की। मैग्गवर्न के मतानुसार बिस्मार्क का प्रेरणा स्रोत हीगल था। इसके अलावा इंग्लैण्ड तथा अमरीका में भी हीगल के दर्शन का बहुत व्यापक असर पड़ा। उदार साम्यवाद, आदर्शवाद और फासीवाद सभी ने किसी न किसी रूप में उससे प्रेरणा ली है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने हीगल का मूल्यांकन करते हुए स्पष्ट किया है। 19वीं सदी के अन्त में ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीका में सभी प्रमुख दार्शनिक हीगल के अनुयायी थे।

20

थॉमस हिल ग्रीन

ग्रीन एक उदारवादी आदर्शवादी अंग्रेज था, जिसने आदर्शवादी विचारधारा का दार्शनिक प्रतिपादन करने के साथ-साथ उस समय की ब्रिटिश राजनीति में भी हिस्सा लिया। वास्तव में उसे तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त था और उसके इस ज्ञान ने आदर्शवाद को यथार्थवादिता प्रदान की।

ग्रीन ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के छात्र के रूप में प्लेटो की रिपब्लिक एवं अरस्तू की एथिक्स और पॉलिटिक्स का अध्ययन किया था और यूनानी ग्रन्थों से ही उसे राजनीतिक आदर्शवाद की प्रेरणा मिली। कालांतर में जर्मन आदर्शवाद ने जिसके मुख्य प्रतिपादक काण्ट और आगे हीगल थे, उसकी नैतिक एवं राजनीति धारणाओं पर गहरा असर डाला। हीगल और काण्ट के मतों से प्रभावित होने पर भी उसने उसकी विचारधारा का अन्धानुकरण न कर एक नई राजनीतिक पद्धति की स्थापना की है। ग्रीन की इस राजनीतिक पद्धति में व्यक्तिवाद और परम्परा विरोधी स्थापना की है। ग्रीन की इस राजनीतिक पद्धति में व्यक्तिवाद और परम्परा विरोधी विचारधारा का असर भी अंकित है।

परिचय

सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन का जन्म 6 अप्रैल, 1836 में इंग्लैण्ड के यार्कशायर जिले के बिरकिन नामक जगह पर हुआ था। उसके पिता इंग्लैंड के चर्च का सुप्रसिद्ध पादरी और इंजीलवादी सम्प्रदाय का अनुयायी थे। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिक

का प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का गहरा प्रभाव पड़ा। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर पर ही विद्या ग्रहण की। तत्पश्चात् पांच वर्ष उसने रग्बी में व्यतीत किया। सन् 1855 में ग्रीन ऑक्सफोर्ड के बेलियोल कालेज में भर्ती हो गया, जहां वह महान बेंजामिन जोवेट के सम्पर्क में आया। इस महान विद्वान के प्रभाव से ग्रीन को बौद्धिक क्षेत्र में पदार्पण करने की प्रेरणा मिली। बेलियोल में ग्रीन सन् 1860 में फेलो निर्वाचित किया गया और सन् 1866 में ट्यूटर बनाया गया। सन् 1878 तक वे इस पद पर कार्यरत रहे और उसके ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति की गई।

इस पद पर वह मृत्युपर्यन्त बना रहा। सन् 1871 में ग्रीन ने प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि जॉन ऐडिंग्टन सायमण्ड्स की बहन कुमारी शार्लेट सायमण्ड के साथ विवाह किया। अध्ययन कार्य में ग्रीन ने अत्यधिक ख्याति अर्जित की। उसने इतिहास, तर्कशास्त्र, आचरणशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयों का सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया। वह एक योग्य और प्रभावशाली शिक्षक ही नहीं वरन् अपने समय की राजनीति में भी गहरी अभिरुचि रखता था। वह एक योग्य और प्रभावशाली शिक्षक के साथ-साथ उनकी राजनीति में भी रुचि थी। वह कई वर्षों तक ऑक्सफोर्ड की नगर परिषद् का भी सदस्य रहा और उसके रूप में उसने ऑक्सफोर्ड के जनजीवन को शुद्ध और समृद्ध बनाने में विभिन्न रूप से योगदान दिया। वह मदिरापान करने के खिलाफ थे और चाहते थे कि लोगों को शराब पीने की आदत को छुड़ाने हेतु राज्य को कड़े नियम बनाने चाहिए।

राजनीतिक विचार

थॉमस हिल ग्रीन के विचार निम्नलिखित हैं—

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता विषयक विचार—ग्रीन के अनुसार मानव जीवन में स्वतंत्रता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। ग्रीन को स्वतंत्रता के शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का एक अंग—मानवीय आत्मा का आवश्यक गुण मानता है। उनका कहना था कि मनुष्य की आत्मा हमेशा स्वतंत्र रहना चाहती है, यदि उसकी स्वतंत्रता उससे छीन ली जाए तो वह किसी अन्य शक्ति द्वारा संचालित किया जाने वाला यंत्र या मशीन मात्र ही रह जाती है।

यह स्वतंत्रता ही अधिकारों को जन्म देती है और अधिकारों की सुरक्षा की आवश्यकता राज्य को मूर्त रूप प्रदान करती है इसलिए स्वतंत्रता अधिकारों की जननी है और अधिकार राज्य के जन्मदाता, क्योंकि ग्रीन के अनुसार अधिकार वे परिस्थितियां हैं जिनमें मानव आत्मा की स्वतंत्रता व्यावहारिक रूप धारण करती है और मानव लोक कल्याण की सिद्धि में अपना योगदान देती है। इन अधिकारों की प्राप्ति राज्य द्वारा होती है जिससे सभी व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास हो सके। इन परिस्थितियों का प्रयोग करके की मानव आत्मा को पूर्णता को प्राप्त करके शाश्वत चैतन्य या ईश्वर के साथ एकाकार हो सकती है। बार्कर द्वारा ग्रीन के इस स्वतंत्रता के विचार को सुंदरता से लिखा गया है वह लिखते हैं कि, “मानवीय चेतना के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, स्वतंत्रता में अधिकारों का विचार निहित है और अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।”

(1) आंतरिक स्वतंत्रता यह नीतिशास्त्र से संबंधित है जिसका अर्थ है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों का, वासनाओं का तथा बुरी मनोवृत्तियों का दास तथा कठपुतली न बनकर उन्हें अपने वश में करना सीखे जिससे उसकी स्वतंत्रता बनी रहे। यदि वह बुरी मनोवृत्तियों और वासनाओं के वश में हो जाता है तो वह अपनी स्वतंत्रता खो देता है। यदि हम अपनी इच्छा से संचालित एवं नियंत्रित होते हैं तो हम स्वतंत्र नहीं रहते हैं, हम गुलामों की भांति इच्छाओं के आदेशों का पालन करते हैं। हमें सच्ची आंतरिक स्वतंत्रता तभी मिलती है जब हम अपनी इच्छाओं, मनोवृत्तियों, इन्द्रियों और वासनाओं पर काबू रखे और उन्हें अपनी इच्छानुसार संचालित करें।

(2) बाह्य स्वतंत्रता यह राजनीति शास्त्र का विषय माना जाता है अर्थात् ऐसी बाहरी परिस्थितियां उत्पन्न करना है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और उसे अपनी आत्मा का विकास करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े। ऐसी परिस्थितियां पैदा करने की शर्तें अधिकार कहलाती हैं। इनसे ही हमें स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है। परंतु इन अधिकारों को सुरक्षित बनाये जाने की आवश्यकता है। राज्यों का निर्माण इन्हीं स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए किया जाता है।

ग्रीन के राजनीतिक जीवन का सारांश तीन सूत्रों में कहा जा सकता है—

1. मनुष्य की आत्मा का आवश्यक गुण स्वतंत्रता है।
2. स्वतंत्रता के विकास के लिए अधिकार आवश्यक हैं।
3. अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।

अधिकार

लॉक प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों और ग्रीन के अधिकारों के विचार में काफी भिन्नता है। लॉक व्यक्तियों को जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है, इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार मानता है तथा राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए मानता है। परंतु ग्रीन का विचार इससे बिल्कुल ही अलग है।

इसके संबंध में कोकर द्वारा लिखा गया है कि, “ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांतों का खंडन किया अर्थात् इस कल्पना का कि मनुष्य कार्य की कुछ स्वतंत्रताओं तथा अपने उपयोग की वस्तुओं में कुछ स्थापित स्वार्थों को लेकर जन्म देता है अथवा समाज में प्रवेश करने से पूर्व की अवस्था में उसकी कुछ स्वतंत्रताएं और कुछ ऐसे दावे थे जो संगठित समाज में प्रवेश करने के बाद भी कानूनी तथा नैतिक अधिकारों के रूप में उसके बने हुए हैं। ग्रीन इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि समाज से पूर्व और समाज से स्वतंत्र कोई भी अधिकार है। आदर्शवादी होने के कारण ग्रीन भी यह नहीं सोच पाता कि समाज से अलग रहकर मनुष्य किस प्रकार अधिकारों का दावा कर सकता है और समाज के अस्तित्व में आने से पहले मनुष्य असभ्य एवं जंगली था उसे अपने अधिकारों का ज्ञान कैसे हो सकता है, इसीलिए उसने लिखा है कि “प्राकृतिक अधिकार अर्थात् एक ऐसा अधिकार जो समाजहीन प्राकृतिक अवस्था में पाया जाता है, शब्दों का परस्पर विरोध है।”

अपनी मान्यताओं को ग्रीक द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, “किसी व्यक्ति को समाज कल्याण को महत्त्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त कोई दूसरा अधिकार प्राप्त नहीं है। प्राकृतिक स्थिति में अधिकार, अधिकारों के विपरीत है, क्योंकि प्राकृतिक स्थिति समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों के सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव में अधिकार हो ही नहीं सकते।” इसके आधार पर अधिकारों को परिभाषित करते हुए उनका कहना है कि अधिकार व्यक्ति के द्वारा अपने नैतिक विकास के लिए समाज से की जाने वाली बाह्य आवश्यक परिस्थितियों की मांग है, जिन्हें समाज लोक कल्याण के लिए आवश्यक मानकर व्यक्ति को प्रदान करता है। इस प्रकार अधिकार व्यक्ति और समाज दोनों के हित में होते हैं और दोनों का नैतिक कल्याण करते हैं अर्थात् अधिकार एक व्यक्ति द्वारा अपने किसी गुण विशेष को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित करने की मांग है और सामाजिक पक्ष के अनुसार समाज द्वारा उसकी इस मांग को

लोक कल्याण की सिद्धि के लिए आवश्यक मानकर उसे स्वीकार किया जाना है अर्थात् सामाजिक हित के अनुसार समाज द्वारा व्यक्ति की मांगों को मान्यता देने से अधिकारों का निर्णय होता है।

अधिकारों से संबंधित अपने इस मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए ग्रीन कहते हैं कि, “अधिकतर व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है जिन उद्देश्यों का वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार उस व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज का हित सिद्ध होगा।” अतः लॉक की तरह ग्रीन व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के विचार से अपनी असहमति प्रकट करता है। वह इसे एक कल्पना जगत की वस्तु और व्यर्थ का प्रलाप मानता है। उसके शब्दों में, “किसी व्यक्ति को समाज कल्याण को महत्त्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। प्राकृतिक अधिकार अर्थात् प्राकृतिक स्थिति में अधिकार, अधिकारों के विपरीत है क्योंकि प्राकृतिक स्थिति व्यावसायिक समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों द्वारा कोई सार्वजनिक कल्याण की भावना के बिना अधिकार हो ही नहीं सकते।”

इस तरह ग्रीन द्वारा की गई अधिकार संबंधी धारणा का यही अर्थ निकलता है कि अधिकार प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को समाज का सदस्य होना जरूरी है। ऐसे समाज का जिसके सदस्यों द्वारा कोई सार्वजनिक कल्याण अपने आदर्श कल्याण के रूप में स्वीकृत न हो।

ग्रीन मानते हैं कि अधिकारों के पीछे व्यक्ति की इच्छा एवं समाज की मान्यता जुड़ी हुई है। समाज की मान्यता का तात्पर्य है जो समाज की नैतिक चेतना द्वारा तो स्वीकृत हैं लेकिन जिन्हें राज्य द्वारा स्वीकार नहीं की जाती। वे प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ है कि वे समाज से पूर्व प्राकृतिक अवस्था से चले आ रहे हैं बल्कि यह है कि उनके बिना मनुष्य पूर्ण रूप से उन्नत नहीं हो सकता है।

राज्य की आवश्यकता & ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों को नैतिक मानता है। उनका कहना है कि आदर्श अधिकार जो सद्भावना के आधार पर सामाजिक रूप से संगठित समाज द्वारा अपने सदस्यों को दिए जाते हैं। ये अधिकार एक समय विशेष में राज्य द्वारा स्वीकृत वास्तविक अधिकारों की तुलना में निश्चित रूप से अधिक व्यापक और विशद् होते हैं क्योंकि उनका रूप आदर्श होता है। वे अधिकारों

के आदर्श रूप का कानून से अत्यधिक संबंध बताते हुए कहते हैं कि, “समाज द्वारा क्रियान्वित होने के लिए उनका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। बिना राज्य के न तो अधिकारों की कल्पना की जा सकती है और न उनका सदुपयोग सम्भव है। उसका वास्तविक प्रयोग तभी सम्भव है जब राज्य उसको क्रियान्वित करे, उल्लंघन करने वाले या दूसरों के अधिकारों को छीनने वालों को दण्डित करे। अतः अधिकारों के अस्तित्व के लिए राज्य का होना आवश्यक है क्योंकि राज्य के द्वारा ही अधिकारों को कानूनी संरक्षण प्राप्त होता है। इस प्रकार मानवीय चेतना अंततः राज्य के आविर्भाव का कारण बनती है। बार्कर ने इसे सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है कि, “मानवीय चेतना स्वतंत्रता को जन्म देती है, स्वतन्त्रा में अधिकार निहित हैं और अधिकार राज्य की मांग करते हैं।”

यहाँ याद रखने वाली बात यह है कि जिस प्रकार व्यक्ति अपने अधिकारों का ध्यान रखते हैं उसी प्रकार उन्हें अपने कर्तव्यों का भी ध्यान रखना चाहिए। अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। कभी अधिकार और कर्तव्यों का आपस में टकराव न हो जाए, इसके लिए भी सर्वोच्च सत्ता, राज्य का होना जरूरी है। इस प्रकार व्यक्तियों के अधिकारों के पीछे राज्य की कानूनी शक्ति है। लेकिन यहाँ ग्रीन के सम्बंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि यदि राज्य के कानून उच्च सर्वोच्च नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करने में सक्षम नहीं हैं जिसके लिए वह विद्यमान है तो व्यक्ति राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सकते हैं तथा राज्य भी नागरिकों की भक्ति का दावा नहीं कर सकता। लेकिन इस सम्बंध में अत्यधिक सजग रहने की आवश्यकता है। वह लिखते हैं कि, “जब तक कानून कहीं भी और किसी भी समय राज्य के सही विचार की पूर्ति करते हैं, उनकी अवज्ञा करने का अधिकार नहीं है।” इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कोकर ने कहा कि, “ग्रीन ने चेतावनी दी थी कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा बड़े सोच-विचार के बाद दिया जाना चाहिए।”

अधिकार और नैतिकता में संबंध—वह कहते हैं कि अधिकार और नैतिकता में गहरा संबंध है। अधिकारों के बिना नैतिक जीवन बिताना संभव नहीं है। परंतु दोनों में भेद है कि अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है लेकिन नैतिक कर्तव्यों का पालन स्वेच्छा से ही हो सकता है। अधिकार का संबंध केवल भौतिक या शारीरिक कार्य से है जबकि नैतिकता का सम्बंध मनोभावना से है। शक्ति के प्रयोग से उसका पालन नहीं करवाया जा सकता है। उदाहरणार्थ—यदि राज्य का

आदेश हो कि सब व्यक्तियों को मन्दिर में जाकर पूजा करनी है तो व्यक्ति मंदिर चला जाएगा परंतु यदि उसे जबरदस्ती मंदिर ले जाया गया तो वह मन से पूजा करे यह संभव नहीं है।

अधिकार और कानून का संबंध ग्रीन के अनुसार कानून और अधिकार में गहरा संबंध है। किसी भी अधिकार को कानून का रूप देकर उसका पालन राज्य द्वारा बलपूर्वक कराया जा सकता है। अधिकार आरम्भ में नैतिक कर्तव्य है परंतु जब राज्य कानून द्वारा शिक्षा प्राप्त करने को अनिवार्य बना देता है तब वह अधिकार बन जाता है। सभी कानूनों अथवा अधिकारों को न्यायपूर्ण और नैतिक कहना संभव नहीं है जैसे—प्राचीन ग्रीक में दास प्रथा।

प्राकृतिक कानून ग्रीन से पूर्व प्राकृतिक कानून इस प्रकार के होते हैं जिनके द्वारा अन्य कानूनों की परीक्षा ली जाती थी। लेकिन ग्रीन ने प्राकृतिक कानूनों को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जिसमें हॉब्स, लॉक आदि समझौतावादियों ने किया था। उसने 17 वीं शताब्दी के प्राकृतिक कानून के इस सिद्धांत का खण्डन किया कि प्राकृतिक कानून का सामाजिक चेतना में स्वतंत्र अस्तित्व है। ग्रीन द्वारा प्राकृतिक कानून शब्दों को पुनः परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, “यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के कारण करना चाहिए, चाहे वह राज्य के यथार्थ कानून के अनुकूल हो या न हो।” प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होते हैं। इनकी खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। ग्रीन के अनुसार कानून इस दृष्टि से प्राकृतिक कहे जा सकते हैं कि वे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। अतः ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक कानून एक विकासशील वस्तु है और सामाजिक नैतिकता के प्रतीक हैं अर्थात् उनका आधार प्राकृतिक नहीं नैतिक है। इसलिए उसका कथन है कि प्राकृतिक न्यायशास्त्र द्वारा घोषित ऐसे प्राकृतिक कानून मान्य समझे जाने चाहिए, चाहे वे राज्य द्वारा निर्मित कानूनों के अनुकूल हों या नहीं। प्राकृतिक कानून के अर्थ के संबंध में ग्रीन के विचारों को स्पष्ट करते हुए सेबाइन का कथन है कि, “ग्रीन ने प्राकृतिक कानून की जो पुनर्व्याख्या की थी, उसका अभिप्राय यह नहीं था कि वह विधि के दो भेदों पर जोर देना चाहता था, वरन् उसका अभिप्राय सिर्फ यह था कि वह कानून की प्राकृतिक सापेक्षता पर, समाज में उसके महत्त्व पर व आचारों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बंधों पर जोर देना चाहता था।”

सम्प्रभुता अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली सर्वोच्च संस्था राज्य है

जिसके पास बाध्यकारी शक्ति है जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्यवस्था कायम रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राज-दर्शन में राज्य की सर्वोच्च सत्ता, परमसत्ता, सम्प्रभुता, राजसत्ता आदि नामों से पुकारा गया है। इस प्रकार संप्रभुता राज्य का ऐसा गुण है जो अन्य मानव समुदायों से उसे अलग करता है और उच्चतर बना देता है। ग्रीन की सम्प्रभुता का विचार 'सामान्य इच्छा' से सम्बद्ध तथा अन्य राजनीतिक विचारकों के इस विचार से कुछ भिन्न है। इस विषय में दो परस्पर विरोधी विचार ग्रीन के विचार से पूर्व मौजूद थे।

पहला दृष्टिकोण रूसो का था, जिसके अनुसार सम्प्रभुता समाज की एक 'सामान्य इच्छा' में निहित होती है। दूसरा दृष्टिकोण ऑस्टिन का था, जिसके अनुसार सम्प्रभुता का निवास 'किसी ऐसे निश्चित सर्वोच्च मानव' में निहित होता है, जिसकी आज्ञा का पालन समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वाभाविक रूप से करते हैं और जो किसी अन्य सर्वोच्च मानव अधिकारी की आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। सम्प्रभुता से संबंधित ये दोनों विचारधारा एक-दूसरे के विपरीत हैं क्योंकि रूसो कहते हैं कि सम्प्रभुता जनता में निहित है। जबकि आस्टिन का कहना है कि किसी एक सर्वोच्च व्यक्ति में निहित है।

सामान्य इच्छा अधिकारों की रक्षा हेतु ही राज्य का निर्माण किया जाता है। जब हम शांतचित्त होकर बुद्धिपूर्वक विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि अपने अधिकारों के समान ही अन्य व्यक्तियों के अधिकारों की भी रक्षा की जानी चाहिए, किन्तु स्वार्थ, घृणा या क्रोध के आवेश में हम दूसरों के अधिकारों पर ध्यान नहीं रखते हैं। ऐसे अवसर पर अन्य शक्तियों के अधिकारों को कोई हानि न पहुंचे, इस बात की आवश्यकता सब लोगों द्वारा अनुभव की जाती है। अतः सभी चाहते हैं कि सभी दशाओं में अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए, यह संस्था राज्य है।

इच्छा को ग्रीन द्वारा दो भागों में बांटा गया है जो निम्नलिखित हैं—

(1) वास्तविक इच्छा यह इच्छा निकृष्ट श्रेणी की होती है। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, वासना आदि बुराइयां समाई रहती हैं। इस प्रकार इसका स्वरूप विवेक रहित होता है जो वास्तविक इच्छा के मार्ग में अवरोधक बनता है।

(2) यथार्थ इच्छा एक प्रकार से इस प्रकार की इच्छा अंतःकरण की भावना होती है जो हमेशा मनुष्य को प्रगति की दिशा में अग्रसर करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

ग्रीन द्वारा इसका अनुसरण करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य में रूसो

की सामाजिक इच्छा जैसी एक सद्इच्छा होती है। यह उसे कुछ निश्चित कार्यों को प्रोत्साहित करती है। ये प्रेरणाएं ग्रीन के शब्दों में नैतिक आदेश है, इन आदेशों के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति नैतिक व्यक्ति है। सब मनुष्यों की सद्इच्छाएं एक जैसी सामान्य इच्छा को जन्म देती हैं जिसका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। समाज के सभी व्यक्तियों की यह एक चाहत होती है कि समाज के हित सुरक्षित हों तथा चाहत होती हो। यही सामान्य इच्छा राज्य का मूल प्रेरणा का स्रोत है तथा सब प्रकार के कानूनों तथा विधियों की जन्मदाता है क्योंकि समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को समाज विरोधी कार्यों से रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता होती है जिसे राज्य के कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, बल नहीं अंग्रेज आदर्शवादी ग्रीन का मत है कि राज्य का वास्तविक आधार ताकत नहीं अपितु इच्छा है। साम्यवादी व्यक्तिवादी तथा अराजकतावादी राज्य को सिर्फ शक्ति का परिणाम और प्रतीक मानते हैं, किन्तु ग्रीन उसके विचार से सहमत नहीं हैं। ग्रीन के अनुसार यदि राज्य डर पैदा करके अपनी आज्ञाओं का पालन करवाता है तो वह राज्य कभी भी स्थायी नहीं हो सकता।

ग्रीन के शब्दों में अधिकारों की रक्षा के लक्ष्य से राज्य का जन्म होता है। साधारणतया व्यक्ति अपने अधिकारों की तरह ही दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का भी सम्मान करता है। परन्तु क्रोध घृणा या स्वार्थ से वशीभूत होकर वह दूसरों के अधिकारों की अवहेलना भी करने लगता है। अधिकारों की यह अवहेलना सार्वजनिक नजर में जरूरी नहीं होती और सभी की यह सामान्य इच्छा होती है कि सभी दशाओं में सभी के अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। इसी सामान्य इच्छा के परिणामस्वरूप राज्य की रचना होती है। इस तरह राज्य सामान्य इच्छा का ही मूर्त रूप है और राज्य का आधार यही अच्छा है।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे विरुद्ध राज्य जब-तब शक्ति का प्रयोग करता है, पर वह हमारी इच्छा से ही वैसा करता है, क्योंकि इसी काम के लिए हमने उसकी स्थापना की है। ग्रीन इस ताकत प्रयोग को भी सामान्य इच्छा का दूसरा रूप समझता है। वह रूसो के इस मत को अपनाता है कि राज्य हमारे विरुद्ध शक्ति प्रयोग इस लक्ष्य से करता है कि हम है, तो वस्तुतः वह खुद अपनी आदर्श नैतिक इच्छा और समाज की सामान्य इच्छा यह होती है कि चोरी के काम का विरोध किया जाय। ऐसी

स्थिति में राज्य न्यायालय और पुलिस की व्यवस्था के आधार पर इस असामाजिक काम को रोकने का जो प्रयास करता है, तो राज्य के इस काम में उस चोर की आदर्श इच्छा शामिल है, भले ही कुछ समय के लिए वह निजी लाभ से प्रेरित होकर स्वार्थपूर्ण इच्छा से चोरी करे। अतः जब न्यायालय और पुलिस उसे सजा देते हैं तो वे बल की नहीं, अपितु समाज की सामान्य इच्छा तथा उस व्यक्ति की आदर्श नैतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार चोर को प्राप्त होने वाला सजा स्वयं उसकी इच्छा का प्रतिफल होता है। इस प्रकार राज्य के जिन कार्यों में हमें शक्ति का प्रयोग दिखायी देता है, वे वस्तुतः सामान्य इच्छा उस व्यक्ति की आदर्श नैतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तरह चोर को प्राप्त होने वाली सजा स्वयं उसकी इच्छा का परिणाम होता है। इस तरह राज्य के जिन कार्यों में हमें बल का प्रयोग दिखायी देता है, वे वस्तुतः सामान्य इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं इसलिए ग्रीन कहता है कि राज्य का आधार इच्छा है, बल नहीं।

ग्रीन के इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित बातों के आधार पर की जा सकती है—

1. राज्य के नागरिकों में मिलने वाली सहयोग, ईमानदारी तथा न्याय की इच्छाएं भी यही स्पष्ट करती हैं कि राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।
2. यदि राजसत्ता का आधार सिर्फ दण्ड का डर ही हो, तो मनुष्य में आज्ञापालन की भावना उसी समय तक काम कर सकती है, जब तक कि वह स्वतः उपस्थित रहे। लेकिन व्यवहार में राजकीय आज्ञाओं का पालन हम स्वतः अपनी इच्छा से करते हैं, क्योंकि राजसत्ता जनता की सामान्य भावना पर ही आधारित होती है।
3. यदि राज्य सिर्फ ताकत पर आधारित होता, तो वह कभी का खत्म हो गया होता। क्योंकि राज्य आज तक भी मौजूद है, इससे यह सिद्ध होता है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है।
4. व्यावहारिक जीवन के अनुभव से भी यह ज्ञात है कि किसी भी राज्य के अस्तित्व का आधार मात्र ताकत नहीं हो सकती। फ्रांस में बूर्बो वंश का शासन, सोवियत रूस में जार का शासन और भारत में ब्रिटिश शासन इसी कारण खत्म हो गये कि वह ताकत पर आधारित थे।
5. बल एक अस्थायी तत्व है, किन्तु इसके विपरीत राज्य एक स्थायी संस्था है। अतः ग्रीन के शब्दों में राज्य का वास्तविक आधार साधिकार बल ही हो सकता

है। निराधिकार शक्ति को ज्यादा से ज्यादा राज्य का अस्थायी आधार ही माना जा सकता है। रूसो के मतानुसार भी ताकतवरों का अधिकार कोई महत्त्वपूर्ण अधिकार नहीं है। शक्ति तो भौतिक शक्ति होती है। मनुष्य को शक्ति के सामने विवशता के कारण या ज्यादा चतुराई के कारण झुकना पड़ता है, न कि अपनी इच्छा से।

6. यदि बल ही राज्य का वास्तविक आधार है तो सेना और पुलिस के व्यक्ति क्यों राजकीय आदेशों का पालन करते हैं।

आलोचना & आलोचक ग्रीन के इस कथन को नहीं मानते कि राज्य का आधार भावना है, ताकत इस कथन की आलोचना का प्रमुख आधार यह है कि सामान्य इच्छा का विचार, जिस पर यह कथन आधारित है, पूरी तरह सत्य और स्वीकार्य योग्य नहीं है। इस कथन की निम्नलिखित तरह से आलोचनाएँ की जाती हैं :

1. इसके विपरीत सामान्य इच्छा का आधार सार्वजनिक हित है, जिसकी व्याख्या करना मुश्किल है। अतः सामान्य इच्छा की आड़ में निष्कृष्ट तरह की शोषण वृत्ति को अपनाया जा सकता है।
2. मनोवैज्ञानिक नजरिए से यह सिद्धान्त असत्य है। मनुष्य के मस्तिष्क में हमेशा संघर्ष चलता रहता है कि इस वजह से सामान्य इच्छा के आधार पर सामान्य हित की कल्पना करना ठीक नहीं है। गिन्सबर्ग ने स्पष्ट किया है कि समाज में जब कभी हमें जो अपितु सार्वजनिक कल्याण की दिखती होती है, वह मनुष्य की इच्छा पर आधारित नहीं होती, वरन् इसके विपरीत, व्यक्तियों की इच्छाओं का आपस में इतना संघर्ष होता है कि हम उनके द्वारा सामान्य इच्छा की उत्पत्ति को तर्कयुक्त नहीं ठहरा सकते।
3. यदि सामान्य इच्छा के अस्तित्व और सत्यता को अंगीकार भी कर लिया जाय, तो भी राज्य की मशीन, जिसके द्वारा वह कार्य-रूप में परिणित की जाती है, हमेशा ही ठीक नहीं कही जा सकती।

ग्रीन के मत की उपयुक्त आलोचनाएँ होते हुए भी यह माना जा सकता है कि राज्य का आधार स्वभाव है, ताकत नहीं। यह कहकर ग्रीन ने एक महत्त्वपूर्ण आंशिक राजनीतिक सत्य का तो प्रतिपादन किया ही है, इसके अथवा राज्य के लिए एक भावी आदर्श भी प्रस्तुत किया है। वस्तुतः ग्रीन ने स्वभाव को राज्य का आधार बनाकर प्रजातन्त्र तथा जनप्रभुत्व के आदर्शों का ही प्रतिपादन किया है।

राज्य के कार्य ग्रीन के शब्दों में राज्य का प्रबंध कर्तव्य व्यक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करवाना है। राज्य का कर्तव्य कुछ ऐसी अवस्थाओं का प्रबंध करना है, जिनके तहत नैतिकता का विकास सम्भव हो सके। किन्तु ग्रीन के मतानुसार राज्य नैतिक संस्था होते हुए भी नैतिकता का विकास का काम प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि राज्य शक्ति या दण्ड या बल प्रयोग के आधार पर काम करता है, जिनके आधार पर व्यक्ति की नैतिकता को प्रभावित नहीं किया जा सकता। नैतिकता तो व्यक्ति के अन्तःकरण से जुड़े एक ऐसी वस्तु है, जो खुद व्यक्ति द्वारा आत्मरोपित कर्तव्यों के निष्काम सम्पादन में ही निहित है। अतः काण्ट की तरह ही ग्रीन यह मानता है कि राज्य नैतिकता की वृद्धि हेतु प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी नहीं कर सकता है। वह तो केवल ऐसी दशाएँ पैदा करता है और उन्हें बनाये रखता है, जिनसे इन कर्तव्यों का पालन सुगमता से हो सके। अतः ग्रीन के आदर्शवादी राज्य का कर्तव्य यही है कि सद्कर्तव्यों के करने में व्यक्ति के रास्ते में जो रुकावटें आयें, उन्हें बाधित करे और ऐसी जरूरी परिस्थितियों की व्यवस्था करे तथा उन्हें स्थिर रखे जिनमें नैतिकता का विकास सम्भव हो सके।

निरंकुश राज्य के विचार को ग्रीन स्वीकार नहीं करता है और वह राज्य को ताकत तथा अंदरूनी दोनों ही नजरिए से सीमित मानता है। अंदरूनी क्षेत्र में राज्य की ताकत इस तथ्य से सीमित हो जाती है कि कानून व्यक्ति के सिर्फ बाहरी कार्यों को ही नियन्त्रित कर सकता है, उनकी आन्तरिक आदतों को नहीं। विश्व-बन्धुत्व के विचार का समर्थक होने की वहज से उसका विचार है कि बाह्य क्षेत्र में राज्य की ताकत अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सीमित होती है।

ग्रीन का मत है कि राज्य के काम सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही तरह के होने चाहिए, नकारात्मक नजरिए से वह यह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वे काम करने दे, जो करने योग्य हैं और इनमें जहाँ वह अवरोधों के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करे।

सकारात्मक नजरिए से राज्य के कार्यक्षेत्र की व्याख्या करते हुए ग्रीन राज्य को अधिकार देता है कि राज्य नैतिकता के उन्नति के लिए जहाँ उपयुक्त समझे, वहाँ हस्तक्षेप करे और यदि जरूरी हो तो शक्ति प्रयोग भी करे। नागरिक जीवन में राज्य का यह हस्तक्षेप किस सीमा तक होगा नैतिक जीवन के रास्ते की अवरोधों को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा, इसकी कोई निश्चित सीमाएँ ग्रीन ने निर्धारित नहीं की है, किन्तु अपने समय की व्यावहारिक परिस्थितियों को नजर में

रखते हुए उसने इस सम्बन्ध में कुछ संकेतपूर्ण उदाहरण अवश्य ही दिये हैं। नकारात्मक नजर से जैसे वह यह मानता है कि शराबखोरी, अज्ञान और भिखमंगापन मानव के नैतिक विकास के मार्ग की अवरोध हैं, जिन्हें दूर करने के लिए राज्य को प्रयास करने चाहिए। इसी तरह सकारात्मक क्षेत्र में स्वच्छ नैतिक जीवन की आवश्यकता को बनाये रखने के लिए राज्य व्यक्तियों को स्वच्छ रहने शराब पीने तथा माता-पिता को अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने के लिए बलपूर्वक मजबूर कर सकता है। बार्कर के मतानुसार ग्रीन स्वाधीनता की सर्जना के लिए बल का प्रयोग करता है।

राज्य के कार्यों के विषय में ग्रीन के उपयुक्त विचार नकारात्मक भाषा में होने पर भी जैसा की बार्कर ने कहा है अपने लक्ष्य और प्रकृति की नजरिए से सकारात्मक हैं। इनके आधार पर राज्य को हस्तक्षेप के लिए व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। व्यक्ति के नैतिक जीवन के रास्ते की बाधाओं को दूर करने के नाम पर राज्य के द्वारा कुछ भी किया जा सकता है। ग्रीन के द्वारा वृहद् सामाजिक सुधार प्रस्तावित किये गये थे और अपने समय के स्वास्थ्य, श्रम और शिक्षा से जुड़े कानूनों को समर्थन किया गया था। ग्रीन ने राज्यों द्वारा सद्जीवन के रास्ते की सभी अवरोधों को दूर करने की जो बात कही है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने बीसवीं सदी के लोककल्याणकारी राज्य की नींव डाली है।

राज्य के कार्यों का वर्गीकरण—ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य दो प्रकार के होते हैं—

1. सकारात्मक कार्य एवं
2. नकारात्मक कार्य

राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार

ग्रीन का मानना है कि श्रेष्ठ और नैतिक जीवन व्यतीत करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना ही राज्य का कार्य है और इसीलिए साधारणतः उसके कार्यों का विरोध नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिलता है कि राज्य इस लक्ष्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर अपने कार्यों का संयोजन नहीं करता अतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति के लिए राज्य के हित में ही उसके कार्यों का विरोध किया जाना जरूरी हो जाता है।

ग्रीन इस बात का भी समर्थन करते हैं कि, “यदि राज्य उस नैतिक उद्देश्य

की पूर्ति नहीं करता जिसके लिए वह विद्यमान है तो वह राजभक्ति का दावा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य के विरुद्ध या कम से कम उस सरकार के विरुद्ध अधिकार है जिसमें राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है और वे उसके आदेशों की अवज्ञा या विरोध करते हैं।” लेकिन इस अधिकार को देते समय ग्रीन अपने नागरिकों को बहुत-सी सावधानी अपनाने का परामर्श देता है। उसने कहा है, “राज्य की आज्ञा न मानने का या विधि से जी चुराने का अधिकार केवल इस आधार पर प्राप्त नहीं हो सकता कि उससे किसी व्यक्ति के कार्य की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप हो या उसके बच्चों की व्यवस्था करने के अधिकार में हस्तक्षेप हो।”

व्यक्ति को यह बात हमेशा स्मरण रहनी चाहिए कि उसके द्वारा किया जाने वाला जनकल्याण पर निर्भर हो तभी उसे प्रतिरोध का अधिकार मिल सकता है। व्यक्ति को उस समय तक किसी अवैधानिक कानून का विरोध करना चाहिए जब तक राज्य द्वारा वह कानून रद्द न कर दिया जाए। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति को किन स्थितियों में अपने इस अधिकार का प्रयोग करना चाहिए। कोकर इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि “जिन अवस्थाओं में नागरिक की ओर से प्रतिवाद या विरोध नैतिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है, वे ग्रीन के अनुसार ये हैं—उसे यह विश्वास हो जाना चाहिए कि सफल विरोध द्वारा एक निश्चित हित की प्राप्ति संभव है और उसे यह भी विश्वास हो जाना चाहिए कि समाज के एक काफी बड़े भाग का भी इस तरह का विचार है।

ग्रीन बहुत सी चेतावनियों और सामान्य हित की सिद्धि के आधार पर ही व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता और यह चाहता है कि राज्य का विरोध करने के पूर्व वह उसके सम्भावित परिणामों के बारे में सोच-विचार कर ही उसका प्रयोग करे, क्योंकि अगर उससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है तो यह बात सामान्य हित में नहीं होगी। इससे सामान्य हित का विनाश हो सकता है।

राज्य तथा अन्य समुदाय—ग्रीन का मानना है कि समुदायों का एक समुदाय राज्य होता है। कुछ समुदाय; जैसे परिवार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान थे और अन्य समुदाय जैसे व्यावसायिक संगठन अथवा संघ राज्य के पश्चात् बने। ये राज्य द्वारा नहीं बनाए गए हैं और उसकी अपनी आंतरिक व्यवस्था सदैव विद्यमान रही है। राज्य इन समुदायों के ऊपर है और इनके सम्बंधों को नियमित करता है परंतु राज्य को इन्हें कुचलने का कोई अधिकार नहीं है। हीगल समुदायों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि वे अपने सदस्यों में सहयोग की

भावना को उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं। इसके विपरीत ग्रीन का मानना है कि व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए समुदाय आवश्यक है परंतु व्यक्ति को अधिकार केवल राज्य से ही प्राप्त होते हैं और राज्य ही उन अधिकारों की रक्षा करता है। ग्रीन राज्य को एक सम्प्रभु संस्था मानता है। परंतु वह बहुलवादी नहीं है। ग्रीन का यह भी मानना है कि राज्य अपने अंतर्गत सभी समुदायों से उच्च है और व्यक्ति के नैतिक विकास को ध्यान में रखकर उनके आंतरिक और बाह्य मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। वह इनके संरक्षक की तरह होता है और उनके कार्यों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करता है।

दण्ड उत्तम जीवन व्यतीत करने हेतु अपने मार्ग में आने वाले अवरोधकों को हटाने के लिए अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था राज्य ही करता है। अपराधी अनेक प्रकार के समाज विरोधी कार्य—हत्या, हिंसा, चोरी, डकैती करके अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाये, समाज की उन्नति में बाधा बनने वाले अपराधियों का दमन करे। अतः दण्ड देने का उद्देश्य समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए उसकी नैतिक इच्छानुसार कार्य करने के लिए आवश्यक स्वतंत्रता को सुरक्षित बनाना है। दंड देने के लिए ग्रीन के समय में तीन प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे।

ग्रीन आगे लिखते हैं कि, “दण्ड देने का मुख्य लक्ष्य अपराधी को केवल पीड़ा पहुंचाने के उद्देश्य से अथवा उसे पुनः अपराध करने से रोकना नहीं है अपितु अन्य लोगों के मन में अपराध के प्रति भय उत्पन्न करना है जिससे वे अपराध करने के लिए लालायित न हों। भविष्य में अपराधों की रोक ही दंड का मुख्य उद्देश्य है।” दण्ड से लोगों के मन में इस प्रकार भय उत्पन्न कर देना चाहिए कि लोग अपराध से पहले सोचे।

ग्रीन दंड देने के तीनों सिद्धांतों में गंभीर दोष देखता है। उसके अनुसार पहला सिद्धांत इतना बर्बरतापूर्ण है कि उसका उपयोग जंगल असभ्य जातियों के लिए ही सही क्योंकि राज्य केवल बदला लेने के हीन उद्देश्य से प्रेरित होकर अपराधियों को दंड नहीं देता है। दूसरा निवारक सिद्धांत भी उसे मान्य नहीं है क्योंकि अपराधी को खुद को सुधारने के तथा अपनी बुरी इच्छा को ठीक करने के मौलिक कर्तव्य का पालन करने का अवसर नहीं मिल पाता है। वह तीसरे सुधार सिद्धांत को भी ठीक नहीं मानता है, क्योंकि अपराधी को दण्ड देकर नहीं सुधारा जा सकता बल्कि उसे आंतरिक प्रेरणा से ही सुधारा जा सकता है।

यद्यपि ग्रीन इन तीनों तत्वों पर न्यूनाधिक बल देता है किन्तु सर्वाधिक बल प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक सिद्धांत पर देता है।

विश्व बंधुत्व और युद्ध

ग्रीन विश्व बंधुत्व एवं विश्व शांति के समर्थक हैं उनकी विश्व भ्रातृत्व की धारणा आधार यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का अधिकार है। वह युद्ध की निंदा और विश्व शांति की प्रशंसा करता है क्योंकि युद्ध एवं संघर्ष जीवन के अधिकार के विरुद्ध हैं। जीवन के अधिकार पर आधारित अंतर्राष्ट्रीय जागृति ही विश्व समाज का निर्माण करती है। ग्रीन का मानना है कि मानवता के सामूहिक हित में ही व्यक्ति का हित निहित है और इसीलिए कॉण्ट की भांति वह भी एक अंतर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है। वह चाहता है कि समाज स्वतंत्र राष्ट्रों की ऐच्छिक स्वीकृति पर आधारित हो।

ग्रीन के मतानुसार, युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार हो सकता है। यह मनुष्य के स्वाधीन जीवनयापन के अधिकार का अतिक्रमण करता है। पहले की किसी बुराई अपराध को ठीक करने के लिए एक दूसरी बुराई के रूप में उसका औचित्य माना जा सकता है, अर्थात् युद्ध एक निर्दय आवश्यकता के रूप में उचित है फिर भी वह एक अपराध ही है।' ग्रीन युद्ध को एक नैतिक अपराध मानते हैं और कहते हैं कि युद्ध कभी भी सही नहीं होता। यह अपूर्व राज्य का चिह्न मात्र ही है।

ग्रीन के इस विचारों का अर्थ यही निकलता है कि यदि राज्य अपने सिद्धांत के प्रति निष्ठावान है तो वह दूसरे राज्यों के साथ संघर्ष करके मनुष्य रूप में प्राप्त अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता। युद्ध को राज्य की पूर्ण स्थिति में आवश्यक गुण नहीं माना जा सकता है।

इस बात में संदेह नहीं है कि ग्रीन के युद्ध विरोधी विचार बड़े श्रेष्ठ एवं पूर्ण तर्कसम्मत हैं। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि ग्रीन द्वारा युद्ध की निंदा उसके व्याख्यानों में सर्वश्रेष्ठ और ओजपूर्ण है।

सम्पत्ति ग्रीन के द्वारा सम्पत्ति के संबंध में उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। इस विषय में तो न वह घोर व्यक्तिवादी है और न उग्र समाजवादी। उनका मानना है कि व्यक्ति की योग्यताओं और गुणों का विकास करने का साधन है। इसे वह जीने के अधिकार से स्वभावतः प्राप्त होने वाला अधिकार समझता है। नैतिक व्यक्तियों का सामान्य हित के लिए जीवित रहने की और अपने सामाजिक कार्यों को पूरा करने की शक्ति सम्पत्ति के स्वामित्व से बढ़ती है। सम्पत्ति का प्रयोजन सामाजिक कल्याण का सम्पादन करना ही है। इस तरह

सम्पत्ति ग्रीन के लिए व्यक्ति के आत्म-विकास तथा समाज के सामान्य हित की वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों का समूह है। इसे स्पष्ट करते हुए ग्रीन कहता है कि “सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जो मनुष्य को आत्मानुभूति के सिद्धांत का स्वच्छन्द प्रयोग और सामान्य हित में योग देने योग्य बनाने के लिए आवश्यक है। स्वतंत्र अभिव्यक्ति की मांग करते हुए आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर दिया है, वह उसी का फल है।”

यही वजह है कि इसे ग्रीन द्वारा सामाजिक हित की सिद्धि का साधन घोषित किया गया है जिसकी अनुपस्थिति में व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने और श्रेष्ठ जीवन के निर्माण में अपना योग देने में असमर्थ हो जाता है। अतः ग्रीन के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार वह प्रयास है जिसका योग व्यक्ति अपने सामान्य हित की धारणा को यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए करता है।”

प्रत्येक व्यक्ति में एक जैसी योग्यता नहीं होती है। इसलिए सम्पत्ति के क्षेत्र में भी असमानता होनी स्वाभाविक है। इतना होते हुए भी ग्रीन का यह निश्चित मत था कि यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति सार्वजनिक कल्याण के मार्ग में यदि किसी तरह अवरोधक बनती है तो राज्य सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए व्यक्ति की निजी संपत्ति में हस्तक्षेप कर सकता था। वह खेती योग्य भूमि पर व्यक्तिगत नियंत्रण को सीमित करने का पक्षधर था। वह राज्य द्वारा परिवारों की सम्पत्ति के बंटवारे और अनार्जित आय का राज्य द्वारा लिए जाने का विरोध करता था। उसका आदर्श था, “छोटे-छोटे भूमिधरों का एक वर्ग जो स्वयं अपनी धरती को जोते बोये।”

ग्रीन की सम्पत्ति विषयक धारणा के विषय में तीन प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

1. ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इस आधार पर बल नहीं देता कि उसका प्रयोग सदैव ही सामान्य हित के लिए किया जाये।
2. वह सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करता है।
3. सम्पत्ति की असमानता को स्वीकार करते हुए भी अनिश्चित धन-संचय को उचित नहीं मानता।

आलोचना—ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की कड़ी आलोचना की गई है—

(1) मानव स्वभाव का एकांगी चित्रण—ग्रीन का मानना है कि मनुष्य द्वारा जो भी काम किया जाता सोच समझकर किया जाता है, परंतु वास्तव में मनुष्य अधिकांश कार्य अचेतन मन तथा मनोभावनाओं के प्रबल आवेशों में आकर करता है। इसके संदर्भ में लंकास्टर का मानना है कि, “ग्रीन की यह धारणा कि मनुष्य

एक ऐसा नैतिक प्राणी है जो हमेशा आध्यात्मिक पूर्णता की खोज में व्यस्त रहता है, एक ऐसा भ्रामक विचार है जिसके लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है और जिसका वर्णन इस तरह किया गया है कि हम इसे अस्पष्ट और वस्तविकता से दूर कर सकते हैं।”

(2) प्राकृतिक अधिकारों के सम्बंध में परस्पर विराधी विचार—उसके और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत एक-दूसरे से भिन्न है और असंगतियों के कारण दूषित है वह एक ओर तो अंतःकरण को ही सभी प्रश्नों का अंतिम न्यायालय मानता है, दूसरी ओर इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति को राज्य या समाज का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है, वह केवल शांतिपूर्ण रीति से उसका सुधार ही कर सकता है।

(3) ग्रीन का प्रभुसत्ता सम्बंधी सिद्धांत तार्किक दृष्टि से गलत है—उसका प्रभुसत्ता का सिद्धांत असंतोषजनक है। उसके अनुसार प्रभुसत्ता एक सर्वोच्च शक्ति है, जबकि यह सामान्य इच्छा द्वारा समर्थित है। ग्रीन की आलोचना करते हुए **हॉबहाउस** द्वारा लिखा गया है, “जहां तक इच्छा का संबंध है, यह सार्वजनिक नहीं होती और जहां यह सार्वजनिक होती है, यह इच्छा नहीं रह जाती।”

(4) ग्रीन के सम्पत्ति विचार दोषपूर्ण और पूंजीवाद को बढ़ावा देते हैं—ग्रीन के आर्थिक विचार अपूर्ण है तथा उनके सिद्धांत संतोषजनक नहीं हैं क्योंकि वह केवल भूमि-सुधारों की मांग से संतुष्ट हो गया और उसने पूंजीपतियों के हाथों में पूंजी के केन्द्रीयकरण को भयावह नहीं समझा।

(5) शासन संबंधी विचारों में निरंकुशता का समर्थक—ग्रीन इस बात का समर्थन करते हैं कि शासन संचालन में जनता को सक्रिय भाग लेना चाहिए। तथापि वह यह आवश्यक नहीं समझता कि उत्तम शासन के लिए लोकशासन होना अनिवार्य है। वह इस बात का समर्थन करता है कि निरंकुश शासन भी सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है। **हॉबहाउस** लिखते हैं कि, “उसके दर्शन में स्वेच्छाचारी शासन के बीज निहित हैं, क्योंकि उसके दर्शन में ऐसे कोई नियंत्रक तत्व विद्यमान नहीं है। जो शासन की निरंकुश प्रवृत्ति को बढ़ने से रोकते हों।

(6) राज्य के कार्यों के संबंध में विचारधारा सही नहीं—ग्रीन के द्वारा राज्य को निषेधात्मक कार्य करने के लिए कहा गया है, परंतु जिन कार्यों को वह गिनाता है; जैसे—अशिक्षा दूर करने के लिए शिक्षा संस्थाएँ खोलना, जो कि निषेधात्मक न होकर सकारात्मक हैं।

(7) ग्रीन द्वारा प्रदत्त राज्य का विरोध का विचार वास्तविक नहीं। ग्रीन के द्वारा विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विरोध करने की सलाह दी जाती है, परंतु उसके क्रियान्वयन पर इतनी अधिक शर्तें हैं कि वह अधिकार अर्थहीन हो जाता है।

योगदान ग्रीन ने निम्नलिखित योगदान दिए हैं—

(1) उदारवाद से उपयोगितावाद को समयानुकूल बनाना ग्रीन के अनुसार मनुष्य एक नैतिक प्राणी है न कि केवल भौतिक सुखों के पीछे दौड़ने वाला प्राणी। वह व्यक्ति को आत्मिक विकास और लोकहित की सिद्धि करने के लिए कार्य करने वाला प्राणी समझता है।

(2) आदर्शवाद और व्यक्तिवाद का समन्वय अपने उदारवादी आदर्शवाद की सहायता से ग्रीन के द्वारा ब्रिटिश व्यक्तिवाद तथा जर्मन आदर्शवाद दोनों में कठोरता को निकालकर उनमें यथोचित समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। वेपर के शब्दों में, “ग्रीन ने व्यक्तिवाद और आदर्शवाद के दोषों का संशोधन कियाउसने व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक रूप प्रदान किया और आदर्शवाद का परिष्कार और परिमार्जन कर उसे सभ्य विचार में बदल दिया।”

(3) राज्य का आधार सिद्धांत महत्त्वपूर्ण ग्रीन का सिद्धांत “राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है” वास्तव में राज्य का महत्त्वपूर्ण आधार सिद्धांत है।

(4) सीमित सम्प्रभुता का सिद्धांत जहाँ हीगल राज्य को साध्य मानता है वहीं ग्रीन राज्य को साधन मानता है और साध्य भी। व्यक्ति को उसने राज्य की शक्ति पर आंतरिक और बाह्य अनेक प्रतिबंध लगाये हैं।

(5) सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा ग्रीन सकारात्मक स्वतंत्रता को समर्थन देता है जिसका अर्थ है राज्य द्वारा व्यक्तियों को उनके व्यक्तित्व का विकास करने हेतु अधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना है।

वेपर ने ग्रीन के राजनीतिक दर्शन के योगदान का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि, “ग्रीन ने उदारवाद और आदर्शवाद के दोषों का संशोधन किया और उदारवाद को रुचि वाले विषय के बजाय एक विश्वास में परिवर्तित कर दिया। उसने व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक रूप प्रदान किया और आदर्शवाद का परिष्कार और परिमार्जन कर उसे सभ्य विचार में बदल दिया।”

ग्रीन का मूल्यांकन

बार्कर के विचारानुसार ग्रीन एक गम्भीर यथार्थवादी और कल्पनाशील आदर्शवादी था। कुछ विस्तार की बातों के विषय में हम उससे असहमत हो सकते हैं, लेकिन उसके द्वारा प्रतिपादित सामान्य सिद्धान्त आज भी उतने ही सही है, जितने ये उस समय सही थे, जबकि उनका प्रतिपादन किया गया था। व्यक्तियों के महत्त्व में उसकी प्रबल आस्था, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में उसका दृढ़ यकीन, उसका निजी हित सामाजिक हित का ही एक अंग है, उसके द्वारा राज्य की ताकत की सीमाएँ निर्धारित करना, विश्व-बन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मान्यता देना, अधिकारों पर जोर देना और यह मानना कि विशेष दशाओं में राज्य का विरोध करना व्यक्ति का कर्तव्य होता है, आज भी उतने ही सही हैं, जितने वे उसके द्वारा व्याख्यान दिये जाने के समय अर्थात् 1879-80 में थे।

उसने आदर्शवाद और उदारवाद दोनों के कमियों को दूर करते हुए एक समन्वयकारी और सन्तुलित विचारधारा का प्रतिपादन किया। इंग्लैण्ड में उसने यद्भाब्यम् नीति की कमियों को बतलाकर जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के लिए मार्ग तैयार किया। वेपर ने ग्रीन की विशिष्टता का मूल्यांकन करते हुए स्पष्ट किया है कि उसने आदर्शवाद और उदारवाद के दोषों का संशोधन किया। ग्रीन की बड़ी उपलब्धि यह थी उसने उदारवाद को एक नवीन धार्मिक यकीन प्रदान किया, व्यक्तिवाद को सामाजिक तथा नैतिक बनाया तथा आदर्शवाद का परिमार्जन और परिष्कार किया।

21

बर्नार्ड बोसांके

बोसांके ने अपने दर्शन की शुरुआत ग्रीन और रूसो से की। बोसांके ग्रीन के शिष्य थे और वह ग्रीन के सिद्धांतों का प्रचार करते थे। उपन्यासों और काव्यों की सहायता लेकर उसने जटिल और शुष्क दार्शनिक दर्शन सरस बनाया तथा सामाजिक अनुभूतियों और मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों का आश्रय लिया। आदर्शवादी होने के कारण उसने ग्रीन के सिद्धांतों को ग्रहण किया, लेकिन वह उसके उदारवाद से दूर रहा। उसने ग्रीन के दर्शन को ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया कि वह दर्शन राज्य की हीगलवादी धारणा के समीप आ गया। इसके संबंध में बार्कर लिखते हैं कि इस संबंध में बार्कर ने लिखा है कि, “स्वतंत्र इच्छा की सिद्धि के साधन के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले राज्य पर ग्रीन ने अनेक प्रतिबंध लगाये थे, बोसांके ने इन्हें हटा दिया और इस प्रकार ग्रीन के दर्शन को वह एक ऐसे बिंदु तक ले आया जहां पहुंचकर उसका दर्शन हीगल के राज्य के विचार से अभिन्नता न रखने पर घनिष्ठ सादृश्य रखता है।”

परिचय

सन् 1848 में इंग्लैण्ड में इनका जन्म पादरी परिवार में हुआ। इनका जन्म जून माह में हुआ था। आक्सफोर्ड के ओर हेरो में इनकी शिक्षा संपन्न हुई। यह करीब दस वर्षों तक विश्वविद्यालय में फैलो तथा शिक्षक के रूप में कार्यरत रहे। इसके बाद उसने लंदन की परोपकारी कार्य करने वाली संस्था 'London Charity

Organization Society में कार्य किया और बाद में 'निर्धन सहायता कानून' का प्रशासन करने वाले अधिकारियों के तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए एक विद्यालय स्थापित करने के प्रयास में भाग लिया। वह उपन्यासों के शौकीन थे। उन्होंने 1911 और 1912 में एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में *Principles of Individuality and Value* तथा *Value and Destiny of the Individual* पर प्रसिद्ध भाषण दिए। कुछ समय तक प्रचार कार्य करने के बाद पुनः सेण्ट एण्ड्रयूज विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गया। बोसांके के मृत्यु लंदन में ही सन् 1939 में हुई थी।

राजनीतिक विचार

बोसांके के राजनीतिक विचार उसके ग्रंथ *Philosophical Theory of the State* में मिलते हैं। उन्होंने अपने सिद्धांतों को दार्शनिक बताया है। उनके राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

बोसांके का इच्छा सिद्धांत

रूसो के इच्छा सिद्धांत पर बोसांके का आदर्शवादी आधारित है। उसने अपने सिद्धांत में रूसो की स्वतंत्र नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी आधार पर उसने अपने आदर्शवादी सिद्धांत को स्थापित किया।

बोसांके कहता है कि राज्य भी अन्य संस्थाओं की तरह एक संस्था है, अतः इसका एक मौलिक विचार अवश्य होना चाहिए। बोसांके के अनुसार यह विचार सब लोगों की वास्तविक इच्छा अथवा सामान्य इच्छा का साकार रूप है। इस विषय में उसका कहना है कि हमारी इच्छाएं दो प्रकार की हैं—यथार्थ इच्छा तथा वास्तविक इच्छा यथार्थ इच्छा समुद्र के ऊपरी पृष्ठ पर दिखाई देने वाली लहरों के समान चंचल, अस्थिर, क्षणभंगुर, बुद्धि और तर्क के प्रतिकूल तथा अदूरदर्शी होती हैं, किन्तु वास्तविक इच्छा समुद्र की ऊपरी लहरों के नीचे रहने वाली जलराशि की तरह गंभीर, प्रशांत, स्थायी, बुद्धिसंगत और दूरदर्शी होती है। उदाहरणार्थ—एक विद्यार्थी की यथार्थ इच्छा पढ़ाई से ऊबकर सिनेमा देखने, मित्रों के साथ गप्पें लगाने, ताश खेलने की हो सकती है। जो कि क्षणिक, अस्थायी और अल्पकालीन हैं। जो वास्तविक इच्छा है वह पढ़ाई करके परीक्षा में उत्तम स्थान प्राप्त करने की तथा जीवन बिताने के लिए अच्छी नौकरी प्राप्त करने की है। यह वास्तविक इच्छा उसके जीवन के भविष्य के साथ जुड़ी हुई है और उसकी सिनेमा आदि जाने की उपर्युक्त यथार्थ इच्छाओं से

अधिक दूरदर्शी, बुद्धिसंगत और स्थायी है। वास्तव में सब व्यक्तियों की यथार्थ इच्छाएं स्वार्थपूर्ण और भिन्न-भिन्न होती हैं, वास्तविक इच्छा से इनमें दूरदर्शिता के दृष्टिकोण से समन्वय स्थापित होता है।

बोसांके का मानना है कि इस प्रकार की स्थिति राज्य के संबंध में भी है। यहाँ भी व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं में सबकी सामान्य अथवा वास्तविक इच्छा में अंतर्द्वन्द्व, विरोध और संघर्ष चलता रहता है। व्यक्तियों की अपनी क्षणभंगुर यथार्थ इच्छाएं विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। एक व्यक्ति को दूसरे की बढ़िया घड़ी देखकर उसे चुराने का प्रलोभन हो सकता है, यह उसकी यथार्थ एवं क्षणिक इच्छा है; गंभीरता से विचार करने के पश्चात् ज्ञान हो जाता है कि उसका तथा अन्य व्यक्तियों का कल्याण समाज में ऐसी स्थिति बनाये रखने में है जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति सुरक्षित बनी रहे। अतः किसी व्यक्ति की घड़ी चुराने की यथार्थ इच्छा होते हुए भी सब व्यक्तियों की सामान्य या वास्तविक इच्छा घड़ी को न चुराने की है। इस प्रकार समाज एवं राज्य में रहने वाले व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाएं कई होती हैं और राज्य इनका मूर्तिमान रूप है।

इस प्रकार बोसांके राज्य को वास्तविक इच्छा का साकार रूप मानने के कारण एक नैतिक विचार मानता है। वह इससे राज्य के स्वरूप के सम्बंध में निम्नलिखित परिणामों पर पहुंचता है—

1. राज्य का शासन सच्चा स्वशासन है। क्योंकि समाज इच्छा से ही राज्यों के सभी कार्यों का संचालन होता है और इसका स्पष्ट अर्थ है कि हम किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से नहीं वरन् अपनी ही इच्छा से शासित हो रहे हैं।
2. राज्य और समाज दोनों में परस्पर संबंध है। राज्य शक्ति का प्रयोग करने वाला एक राजनीतिक संगठन है जिसे समाज की सभी संस्थाएं विभिन्न कार्यों में सहायता करती है। राज्य को यदि समाज के विराट रूप में देखा जाए तो कहना होगा कि वह अनेक समूहों का समूह और समुदायों का समुदाय है जिसका क्षेत्र सम्पूर्ण मानव समाज में व्याप्त है।
3. एक ऐसी संस्था है जो सर्वोच्च होती है जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाओं के मौलिक विचारों का समन्वय होता है। समाज की विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचारों में विरोध हो सकता है लेकिन राज्य सब प्रकार के विरोधों को दूर कर उनमें सामंजस्य स्थापित करता है। राज्य का दृष्टिकोण एकांगी नहीं होता।

बोसांके का संस्था सिद्धांत

बोसांके ने संस्थाओं को नैतिक विचारों का मूर्त रूप मानता है। उदाहरणार्थ— हम किसी स्कूल या सेना या क्रिकेट के खेल को लें, तो उनमें से प्रत्येक अथवा अनेक मस्तिष्कों की क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार संस्थाएं नैतिक विचारों का ही साकार रूप होती हैं।

इस संदर्भ में बोसांके लिखते हैं कि, “एक संस्था में एक से अधिक मस्तिष्कों का उद्देश्य या उनकी भावना निहित रहती है और वह उस भावना या उद्देश्य का न्यूनाधिक एक स्थायी मूर्तरूप होती है। संस्थाओं के व्यक्तिगत मस्तिष्कों का वह सम्मिलन होता है जिसे हम सामाजिक मस्तिष्क कहते हैं या यह कहना चाहिए कि निकायों या संगठनों से हमें आदर्श तत्व मिलता है जो अपनी व्यापक संघटना में सामाजिक है, लेकिन विभक्त विषयों में व्यक्तिगत मस्तिष्क है।”

उपर्युक्त वर्णित कथन से निम्न तथ्यों का उजागर होता है—

1. समुदाय की सामूहिकता व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होती है।
2. प्रत्येक सदस्या में अन्य सदस्यों पर अपने विचार लादने की प्रवृत्ति होती है।
3. प्रत्येक सामाजिक संस्था या समुदाय मानव-मस्तिष्क की एक जटिल मिश्रित क्रियाशीलता है।

बोसांके का मानना है कि राज्य के अंतर्गत परिवार, चर्च, व्यापारिक संगठन आदि सभी प्रकार की संस्थाओं का समावेश होता है। यह इनके विरोधों तथा असंगतियों की आलोचना करके इनका संशोधन इस दृष्टि से करता है कि समाज का कार्य भली प्रकार चलता रहे। मानवीय संस्थाएं शीघ्र ही जड़ता, निष्क्रियता और विकृति का शिकार हो जाती हैं। इनमें स्वार्थ की भावना सबसे अधिक प्रबल होती है जैसे—परिवार तथा चर्च अपनी ही सदस्यों के हितों का ध्यान रखते हैं, इनकी दृष्टि विशाल बनाने, समष्टि के हितों के साथ इनका समन्वय करना तथा इनका समुचित मार्ग-प्रदर्शन करना राज्य का कार्य है।

परंतु यह मार्गदर्शन राज्य शक्ति के बल पर ही करता है। इस संदर्भ में बोसांके का मानना है कि, “अंततोगत्वा राज्य ही एकमात्र मान्य एवं न्यायोचित शक्ति है।” शक्ति राज्य का वास्तविक तत्व है, यह हमारी वास्तविक इच्छा का ही विशाल एवं विस्तृत रूप है। यह हमें अपने कर्तव्यों का बोध कराता है, अज्ञानी, आलसी, ‘विद्रोही’ लोगों को उनके कार्यों का ज्ञान कराता हुआ उन्हें कर्तव्य पालन के लिए विवश करता है। यह मानना भूल होगा कि राज्य का कार्य केवल कानून तोड़ने वालों को पकड़ना और दंड देना है, वस्तुतः राज्य हमें जीवन के सभी पक्षों में

न केवल कर्तव्य का ज्ञान कराता है अपितु उनके अनुसार जीवन-संचालन करने की प्रेरणा और शक्ति भी मिलती है।

पहिए का उदाहरण देते हुए बोसांके ने लिखा है कि जिस प्रकार एक मशीन को प्रधान रूप से गति प्रदान करने वाला एक बड़ा पहिया होता है, यह अपनी गति से समूची मशीन को और इससे सम्बद्ध सभी छोटी मशीनों को गति प्रदान करता है तथा उन्हें संचालित करता है। अन्य संस्थायें और समूह दांतेदार पहिये की भांति हैं, जिस प्रकार कई दांतेदार पहियों के दांते एक-दूसरे से गुंथे और जुड़े रहते हैं तथा पहिये की शक्ति से सब छोटे पहिये चलते हैं, उसी प्रकार राज्य की शक्ति से उसकी संस्थायें भी चलती हैं।

राज्य सिद्धांत

राज्य सिद्धांत को बोसांके ने दार्शनिक की संज्ञा दी है। अन्य आदर्शवादियों की भांति वह भी राज्य को नैतिक एवं प्राकृतिक समुदाय मानता है। राज्य एक सर्वोच्च नैतिक संस्था है, एक नैतिक कल्पाना का प्रतीक है। बोसांके के शब्दों में, “राज्य एक नैतिक सिद्धांत है, क्योंकि इसी में मनुष्य व्यावहारिक रूप में अपने उत्थान एवं नैतिकता की अंतिम स्थिति में पाता है।” बोसांके के अनुसार प्रत्येक संस्था एक निश्चित विचार और उद्देश्य को प्रकट करती है, जिसमें उसका सार निहित होता है। इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है। मकान बनाने के पूर्व कारीगर के मस्तिष्क में एक भावना होती है जिसका मूर्तरूप मकान है। इस विचार को सामान्य भावना या सामान्य मस्तिष्क भी कह सकते हैं।

बोसांके का मानना है कि राज्य एक भावना है अथवा समस्त नागरिकों के मस्तिष्क का समन्वित रूप है। प्रत्येक संस्था सामूहिक मस्तिष्क के विचारों पर आधारित होती है। राज्य सबसे बड़ी इकाई अथवा संस्था है। अतः उसके सामूहिक मस्तिष्क का क्षेत्र भी अन्य संस्थाओं की अपेक्षा ज्यादा बड़ा है। राज्य में रहने वाले सभी नागरिक उसके सदस्य होते हैं। राज्य एक सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ संगठन है जो अन्य सभी समुदायों से उच्चतर है। राज्य के अंतर्गत अन्य सभी संस्थायें आ जाती हैं। राज्य का सामूहिक मन सभी संस्थाओं से अधिक व्यापक होता है। राज्य सर्वांगीण है। संक्षेप में राज्य ऐसा राजनीतिक संगठन है जो शक्ति का प्रयोग करता है। यह समस्त सामाजिक प्रयत्नों को प्राथमिकता देता है। जो समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी है। विस्तृत रूप में राज्य, बोसांके के शब्दों में, “एक सामान्य संगठन तथा जीवन का संश्लेषण है जिसमें परिवार से लेकर व्यापार तक

तथा व्यापार से लेकर चर्च तथा विश्वविद्यालय तक सभी संस्थायें सम्मिलित हैं जो जीवन को निर्धारित करती हैं। इसमें ये सब केवल संग्रह के रूप में शामिल नहीं है अपितु एक ऐसे ढांचे के रूप में होती हैं जो राजनीतिक संगठन का जीवन और अर्थ प्रदान करता है। जब वह स्वयं इसमें पारस्परिक सामंजस्य प्राप्त करता है जिसका नतीजा होता है प्रसरण तथा एक अधिक उदार अभिव्यक्ति।” इस प्रकार सम्पूर्ण मानव जीवन राज्य के अंतर्गत है। राज्य मानव जीवन का पूर्ण अभिव्यक्तिकरण है।

बर्नार्ड बोसांके का मानना है कि सभी वर्गों अथवा समुदायों के पारस्परिक सम्बंधों का निरीक्षण कर उनमें सुधार करता है। वह समुदायों के बीच समन्वय स्थापित करता है और उनके पारस्परिक सम्बंधों को निर्धारित करता है। “राज्य समुदायों का समुदाय, संस्थाओं की संस्था तथा संघों का संघ है।” इसी कारण राज्य को शक्ति या बल प्रयोग करने का भी अधिकार प्राप्त है। राज्य संगठन शक्ति का प्रतीक है जो श्रेष्ठ जीवन को प्रोत्साहन देता है, परंतु असामाजिक कार्यों को करने वाले लोगों के बल प्रयोग द्वारा सामाजिक कार्य अथवा अच्छे मार्ग पर चलने हेतु मजबूर करता है।

बोसांके राज्य को सर्वोच्च तथा मानव को गौण स्थान प्रदान करता है। वह हीगल के समान व्यक्ति को राज्य की दया पर छोड़ देता है और व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं देता है, क्योंकि राज्य के अस्तित्व में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का अस्तित्व है। बोसांके के मत से ऐसे किसी भी विधान की कल्पना असंभव है जो राज्य के ऊपर हो। ग्रीन व्यक्ति को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार प्राकृतिक कानून की कल्पना के आधार पर देता है लेकिन बोसांके इसके विपरीत हीगल से सहमत है कि राज्य के कार्यों को किसी प्रकार की नैतिकता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। हीगल की भांति बोसांके के लिए भी राज्य नागरिक के लिए आतंकपूर्ण एवं रहस्यमयी वस्तु है जिसके प्रति हर मानव को विश्वास करना चाहिए।

राज्य के कार्य ग्रीन क इस मत से बोसांके पूर्ण रूप से सहमत है कि राज्य का कार्य शुभ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाने तक सीमित है। उसके शब्दों में, “तब हम कहते हैं कि सर्वोत्तम जीवन के लिए राज्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, प्रत्युत् केवल उसके मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है।” बोसांके ने

राज्य के दो कार्यों की चर्चा की है जिसमें पहला जीवन के समुचित कार्यों का समुचित पथ-प्रदर्शन करना तथा कर्तव्य का ज्ञान कराना और दूसरा मनुष्य को अपने निश्चित मार्ग पर बलपूर्वक चलाना।

जब मानव या कोई व्यक्ति किसी कारणवश अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाता है तब राज्य अपनी शक्ति से उसे सचेत करता है कि उसे गलत रास्ते पर न चलकर, ठीक रास्ते से ही चलना चाहिए।

दंड संबंधी सिद्धांत

दंड के संदर्भ में प्रमुख रूप से निम्न तीन सिद्धांत पाये जाते हैं—

- (1) प्रतिशोधात्मक & अपराधी से बदला लेने।
- (2) निवारक & भविष्य में अपराध रोकने के लिए।
- (3) सुधारात्मक & सुधार करने के लिए।

बोसांके इन तीनों सिद्धांतों को आंशिक रूप से सही मानता है। दंड का वास्तविक उद्देश्य तो अधिकारों की रक्षा करना है, किंतु दंड देकर अपराधी के मन में स्वाभाविक रूप से यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि वह उसके कुकर्म या बुरे कर्मों का ही नतीजा है। यदि भविष्य में वह ऐसा बुरा काम करेगा तो उसे इस प्रकार का दंड भुगतना पड़ेगा। इसके परिणामस्वरूप वह भविष्य में अपराध करने से बचा रहता है और उसमें सुधारात्मक भावना का विकास होता है।

राज्य की नैतिकता, युद्ध और अंतर्राष्ट्रीय सम्बंध

बोसांके राष्ट्रीय राज्य को सामाजिक संगठन सर्वोच्च रूप मानता है। क्योंकि किसी भी संस्था के लिए समान उद्देश्य से प्रेरित मनुष्यों के मनों का एक समूह तथा एक मौलिक अवधारणा का होना जरूरी है। यह इस समय राष्ट्रीयता के कारण एकानुभूति रखने वाले राज्यों में ही दिखायी देता है, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें समस्त मानव जाति का एक सामान्य प्रयोजन से संचालित होने वाला मन नहीं दिखाई देता है, अतः राज्य को ही सर्वोच्च संगठन कहना उचित है। यदि राज्य को ऐसा संगठन मान लिया जाए तो हमें उसे समूची नैतिक व्यवस्था का संरक्षण करने वाला सर्वोपरि संगठन ही पड़ेगा।

बोसांके ने यह स्वीकार किया या कोई भी राज्य और व्यक्ति की नैतिकता भिन्न-भिन्न है। वास्तव में राज्य साधारण नैतिकता के नियमों से ऊंचा उठा हुआ है, क्योंकि ये नियम उसी के द्वारा प्रचलित और संचालित किये जाते हैं।

यदि व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है तो वह अपराधी कहलाता है परंतु राज्य दूसरे देश के साथ युद्ध में सैनिकों की हत्या करता है तो अपराधी नहीं माना जाता ।

राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने संबंधों को निश्चित करने में पूर्णरूप से स्वतंत्र है । कोई राज्य आवश्यक समझने पर किसी देश पर हमला कर सकता है । राज्यों के ऊपर कोई नैतिक नियम न मानना तथा इन्हें मनमाने कार्य करने की खुली छूट देना अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की तिलांजलि देना तथा अराजकता और लड़ाई को खुला निमंत्रण देना है । हीगल की विचारधारा तथा बोसांके की यह विचारधारा काफी मिलती-जुलती है ।

22

माक्स

कार्ल माक्स ने आधुनिक राजनीतिक चिंतन को जितना प्रभावित किया है उतना किसी भी राजनीतिक चिंतक ने प्रभावित नहीं किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इसके विचारों का इतनी तेजी से प्रचार हुआ था कि संसार की आधे से अधिक आबादी इसके विचारों की समर्थक हो गई थी। हालांकि सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् इसके समर्थकों की संख्या में कमी आई है लेकिन फिर भी इसके विचारों में इतना आलोक एवं प्रकाश है जितना कि दूसरे विचारों में नहीं।

माक्स ने जिस साम्यवाद की कल्पना की है वह नवीन नहीं है और **माक्स** से पूर्व **प्लेटो**, **सेण्ट साइमन**, **लुई ब्लांक**, **फोरियर**, **रॉबर्ट आवेन** आदि विद्वानों ने भी राष्ट्रीय सम्पत्ति के सही वितरण तथा विभिन्न वर्गों में सहयोगी सम्बन्ध पर जोर देते हुए समाज की नई व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की थी। किन्तु इनके विचार मुख्यतः राजनीतिक अथवा धार्मिक आधारों पर आधारित थे। **माक्स** ने ही सबसे पहले साम्यवाद को न सिर्फ एक नवीन और मौलिक रूप प्रदान किया, अपितु उसे ऐसे सुदृढ़ वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया जो कि दिन-प्रतिदिन मजबूत ही होता जा रहा है। वर्तमान में शायद ही कोई ऐसा देश है जहाँ इस 'वाद' के मानने वाले लोग न हों। विश्व के सम्पूर्ण श्रमिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन **माक्स** के विचारों से प्रभावित हुए हैं। इसीलिए उन्हें '**अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा (Proletariat) का महान् शिक्षक और नेता**' कहा जाता है। इस दृष्टि से **माक्स** विश्व के न सिर्फ महान् बल्कि युग-प्रवर्तक विचारकों में से हैं।

जीवन-परिचय

कार्ल माक्स का जन्म जर्मनी के ट्रीबज नामक स्थान में एक यहूदी मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। लेकिन जब माक्स 6 वर्ष का था तो उसके माता-पिता ने यहूदी धर्म त्याग कर ईसाई धर्म अपना लिया और स्वाभाविक रूप से उनके बच्चे भी उसी धर्म के अनुयायी हो गये।

माक्स की प्रारम्भिक शिक्षा उनके भावी श्वसुर तथा एक उदार विचारक वैस्टफेलन के घर पर तथा एक विद्यालय में हुई। माक्स बहुत ही तीव्र बुद्धि का व्यक्ति था और पीड़ित वर्ग के प्रति उसमें बहुत अधिक सहानुभूति थी। 17 वर्ष की आयु में वह बॉन विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गया, किन्तु अगले ही वर्ष उसने कानून के शुष्क विषय को छोड़कर दर्शन और इतिहास विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। बर्लिन और जेना विश्वविद्यालय में उसने इन विषयों का अध्ययन किया और इसी समय माक्स हीगल के द्वन्द्वात्मक दर्शन के सम्पर्क में आया, जिसने उसे बहुत प्रभावित किया। 1841 में माक्स ने जेना विश्वविद्यालय में डेमोक्रीट्स और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन में भेद पर निबन्ध लिखकर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

माक्स की इच्छा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद प्राप्त करने की थी, किन्तु विश्वविद्यालय में उसके प्रति सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों फ्यूरबेक और ब्रुनो ब्यूर को उनकी शासन-विरोधी नीतियों के कारण अध्ययन कार्य से निष्कासित कर दिया गया और प्राध्यापक पद प्राप्त करने के उसके अवसर समाप्त हो गये। अक्टूबर 1842 में माक्स एक उदार और प्रजातान्त्रिक विचारधारा वाले समाचार-पत्र रीनवे जीतुंग का सम्पादक बन गया और शीघ्र ही उसने एक प्रभावशाली राजनीतिक पत्रकार के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली। कार्ल माक्स और एंजिल्स ने मिलकर न सिर्फ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया, अपितु मजदूर वर्ग को भी संगठित करने का श्रेष्ठ कार्य किया। 1845 में माक्स ने इंग्लैंड में रहकर जर्मन लोगों का संघ बनाया। परन्तु अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण प्रशिया के अधिकारियों को उसने अपना विरोधी बना लिया और उसे अपने पत्र का सम्पादन बन्द करना पड़ा। बेकारी के इस काल में उसने इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और अमरीका आदि देशों के इतिहास तथा कल्पनावादी समाजवादी साहित्य विशेषतः सेन्ट साइमन और चार्ल्स फोरियर की रचनाओं का गहराई के साथ अध्ययन किया।

प्रारम्भ से ही मार्क्स और वैस्टफेलन की पुत्री जैनी एक-दूसरे के प्रति आकर्षित थे और 1843 में 25 वर्ष की आयु में मार्क्स ने जैनी से विवाह कर लिया और दोनों पेरिस चले गये। पेरिस में मार्क्स फ्रैंको-जर्मन शब्दकोश का सम्पादक बन गया, किन्तु अपने शासन और तत्कालीन व्यवस्था विरोधी विचारों के कारण पत्र को प्रकाशन के थोड़े समय बाद ही बन्द करना पड़ा। पेरिस में मार्क्स पर प्रुधो तथा बाकुनिन जैसे अराजकतावादियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। 1815 में मार्क्स जीवन की विविध विपत्तियाँ सहन करता इंग्लैण्ड पहुंचा और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वहीं रहा। यहाँ मार्क्स का परिचय एक उद्योगपति एंजिल्स से हुआ। यह परिचय मित्रता में परिणित हुआ और कार्ल मार्क्स तथा एंजिल्स की मित्रता 19वीं सदी की सर्वाधिक प्रसिद्ध साहित्यिक मित्रता बन गयी। एंजिल्स ने आर्थिक सहायता के अतिरिक्त समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन में भी मार्क्स के सहयोगी के रूप में कार्य किया। वस्तुतः जिसे आज हम मार्क्सवाद कहते हैं, उसका प्रतिपादन अकेले मार्क्स द्वारा नहीं, वरन् मार्क्स और एंजिल्स दोनों के द्वारा एंजिल्स के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए ही अपने सिद्धान्तों को हमारे सिद्धान्तों मार्क्स और एंजिल्स की संज्ञा दी है। 1848 में कार्ल मार्क्स और एंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र की रचना की जिसे साम्यवादियों का धर्मग्रन्थ कहा जा सकता है। साम्यवादी घोषणा-पत्र का महत्त्व बताते हुए इसाह बर्लिन ने लिखा है, इस घोषणा पत्र के प्रारम्भिक तथा अन्तिम पृष्ठों के गुणों का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। विनाशकारी प्रचार के साधन के रूप में इसके समान दूसरा कोई यन्त्र नहीं हो सकता। आने वाली पीढ़ियों पर इसका प्रभाव धार्मिक इतिहास को छोड़कर बेमिसाल रहा। यदि इसका लेखक दूसरा कुछ भी नहीं लिखता तो भी इतिहास में उसका नाम अमर हो जाता।

कार्ल मार्क्स और एंजिल्स ने मिलकर न सिर्फ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया अपितु मजदूर वर्ग को भी संगठित करने का श्रेष्ठ कार्य किया। 1845 में मार्क्स ने इंग्लैंड में रह रहे जर्मन लोगों का संघ बनाया। इंग्लैंड से वापस आकर उसने ब्रुसेल्स में श्रमिकों का एक समुदाय प्रारम्भ किया, जिसका वह स्वयं भी सदस्य बना। 1847 में उसने इंग्लैंड में उग्र श्रमिकों की प्रथम कांग्रेस की स्थापना उसका नाम रखा। 1864 में मार्क्स ने लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग समुदाय का गठन किया, जो विश्व में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के नाम से विख्यात है। लन्दन में रहते हुए मार्क्स अपने जीवन के अन्तिम समय तक किसी-न-किसी रूप में पूंजीवाद का अन्त करने के प्रयत्नों में लगा रहा। 1883 में कार्ल मार्क्स का देहावसान हो गया। उसकी मृत्यु पर जो शोक संदेश पढ़ा गया, उसकी कुछ पंक्तियाँ

इस प्रकार थी जीवन में उसका उद्देश्य प्रत्येक सम्भव तरीके से पूंजीवादी समाज के अन्त का प्रयत्न करना था संघर्ष उसके जीवन का मुख्य तत्व था और उसने ऐसे अदम्य उत्साह, साहस और सफलता से संघर्ष किया, जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। परिणामतः वह अपने समय का सबसे अधिक घृणा और श्रद्धा का पात्र व्यक्ति था उसका नाम और कार्य युग-युग तक जीवित रहेगा।

मार्क्स की रचनाएँ—मार्क्स की कतिपय मुख्य रचनाएं निम्नवत हैं—

1. हीगल की अधिकार सम्बन्धी धारणा की आलोचना की प्रस्तावना।
2. पवित्र परिवार-1844
3. दर्शन की दरिद्रता 1847
4. साम्यवादी घोषणा-पत्र 1848
5. राजनीतिक अर्थव्यवस्था की विवेचना 1859
6. मूल्य, कीमत और लाभ 1865
7. फ्रांस में वर्ग-संघर्ष 1870-71।
8. गोथा प्रोग्राम और क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति।
9. पूंजी प्रथम खण्ड 1867। पूंजी के अन्य दो खण्डों को एंजिल्स ने मार्क्स की मृत्यु के पूर्ण तथा अपूर्ण पत्रों को एकत्रित कर क्रमशः सन् 1885 और 1894 में प्रकाशित किया।

मार्क्स के दर्शन के स्रोत

कार्ल मार्क्स की विचारधारा के तीन प्रमुख स्रोत हैं—

1. हीगल का दर्शन, विशेषकर उनकी द्वन्द्ववादी पद्धति
2. ब्रिटिश समाजवादियों तथा अर्थशास्त्रियों की विचारधारा का प्रभाव
3. फ्रेंच समाजवादियों, विशेषतया सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर और केबेट की विचारधाराओं का प्रभाव।

(1) ब्रिटिश समाजवादियों तथा एडम स्मिथ और रिकार्डो का प्रभाव—मार्क्स पर ब्रिटिश समाजवादियों विलियम थॉमसन, टॉमज हाजस्कन और रॉबर्ट ओवन का भी प्रभाव पड़ा है। रॉबर्ट ओवन की धारणा है कि मानवीय चरित्र वातावरण से निर्धारित होता है प्रकृति से नहीं मार्क्स की विचारधारा का पूर्व कथन है उस पर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों एडम स्मिथ और रिकार्डो का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। एडम स्मिथ और रिकार्डो ने सबसे पहले मूल्य के श्रम सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। इन सिद्धान्तों में उन्होंने स्पष्ट किया था कि किस प्रकार हम वस्तुओं में लगे

श्रम के आधार पर उसकी विनिमय दर निश्चित कर सकते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का अधिक उपयोग किया है। इसके द्वारा वह केवल वस्तुओं के पारम्परिक सम्बन्ध को ही नहीं वरन् मनुष्यों के पारम्परिक सम्बन्धों को भी स्पष्ट करता है। वह लिखता है कि वस्तु के आदान-प्रदान से मनुष्य भी सम्बन्धित होते हैं, और मनुष्य के पारम्परिक सम्बन्ध भी आर्थिक व्यवस्था के अंग बन जाते हैं। पूंजी के द्वारा मनुष्य का श्रम खरीदा जाने लगता है और इस प्रकार श्रम बेचकर श्रम का एक भाग अपनी जीविका चलाने के लिए और दूसरा भाग पूंजीपतियों के मुनाफे के लिए काम में लाता है। इस प्रकार श्रमिक अपने श्रम से अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों के श्रम सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी मार्क्स का अपना निजी सिद्धान्त है।

(2) फ्रेंच समाजवादियों का प्रभाव—मार्क्स की विचारधारा फ्रांस के उन विचारकों से भी प्रभावित है, जो पूंजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को देखकर उसमें सुधार करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उस पर सेन्ट साइमन और केबेट का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सेन्ट साइमन ने इस बात का प्रतिपादन किया था कि स्वयं श्रम करने वाले वर्ग को ही जीवित रहने का अधिकार है। मार्क्स ने इसे अपने दर्शन का आधारभूत विचार बना लिया। वर्गविहीन समाज का विचार सम्भवतया मार्क्स ने साइमन से ही ग्रहण किया है। मार्क्स केबेट के विचारों से भी प्रभावित था और 1847 में साम्यवादी लीग की स्थापना करते हुए समाजवाद के स्थान पर साम्यवाद शब्द का प्रयोग उसने केबेट के विचारों से प्रभावित होकर ही किया। इसी प्रकार कुछ फ्रेंच समाजवादियों ने वर्ग-संघर्ष की चर्चा की थी, मार्क्स ने इसे अपने दर्शन का आधारभूत तत्व बना दिया। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया। मार्क्स का मानना था कि विश्व का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग संघर्ष पर आधारित है।

(3) हीगल के दर्शन का प्रभाव—मार्क्स की विचारधारा और पद्धति पर सबसे अधिक प्रभाव हीगल के दर्शन का पड़ा है। जेना विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए मार्क्स हीगल के दर्शन के सर्म्पर्क में आया और उसने हीगल से इस बात को ग्रहण किया कि विश्व की प्रकृति स्थिर नहीं वरन् निरन्तर गतिशील है। यदि हम इसे समझना चाहते हैं तो हमारे द्वारा विकास की प्रक्रिया को समझा जाना चाहिए। विकास की यह प्रक्रिया एक सीधी रेखा के रूप में नहीं, वरन् टेढ़े-मेढ़े रास्ते के रूप में है, जिसे द्वन्द्व की संज्ञा दी जा सकती है। इस विकास प्रक्रिया के तीन चरण हैं, वाद प्रतिवाद और समवाद वाद में अन्तर्निहित विरोधाभास उसके पतन का कारण

बनता है और अपने विरोधी प्रतिवाद को जन्म देता है। वाद और प्रतिवाद में विरोध होने के कारण ये अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते हैं और निरन्तर विकसित होने वाला विवेक इन दोनों के विरोध को समाप्त कर एक नवीन और श्रेष्ठ स्थिति समवाद को जन्म देता है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर हीगल ने विचारों की व्याख्या की और उनकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का मुख्य केन्द्र विवेक या आत्मा है।

माक्स हीगल से द्वन्द्ववाद की पद्धति को अपनाता है और उसके द्वारा वाद, प्रतिवाद तथा समवाद की स्थितियों को ग्रहण किया गया है। परन्तु हीगल के दर्शन में विचार और विवेक को प्रधानता दी गयी है, जबकि माक्स इसके विपरीत पदार्थ जगत को महत्त्व देता है। हीगल के लिए विवेक और आत्मा ही सब कुछ है, जबकि माक्स के लिए पदार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। माक्स का विचार है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था की सारे सामाजिक संगठन, साहित्य कला और विचारों को जन्म देती है। इस प्रकार यदि हीगल आदर्शवादी है, तो माक्स भौतिकवादी वह आर्थिक नियतिवाद में विश्वास करता है।

यद्यपि यह सत्य है कि माक्स ने विभिन्न स्रोतों से अपने दर्शन के अलग-अलग तत्वों को ग्रहण किया। किन्तु इस सम्बन्ध में कोकर ठीक लिखते हैं कि उसने ईट पत्थरों की भांति सब स्थानों से विचारों को एकत्रित किया। लेकिन उसने जिस विचार-भवन का निर्माण किया, वह स्वयं उसकी ही इच्छानुसार है।

माक्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त

माक्सवादी विचारधारा को उसके मुख्य सिद्धान्तों के आधार पर ही सही तरह से समझा जा सकता है। माक्सवाद के मुख्य सिद्धान्त निम्नवत् हैं —

1. इतिहास की आर्थिक व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद।
2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
3. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
4. वर्ग-संघर्ष।
5. राज्य और शासन सम्बन्धी धारणा।
6. पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण और उसके भविष्य के सम्बन्ध में धारणा।
7. माक्स का कार्यक्रम।
8. प्रजातन्त्र, धर्म और राष्ट्र के सम्बन्ध में धारणा।
9. माक्स पद्धति।

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के विषय में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों में मार्क्सवादी सिद्धान्त सबसे अधिक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। इसने न केवल राजनीतिक विचारधारा को नई दिशा दी है, बल्कि विश्व राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। मार्क्स ने राज्य के सम्बन्ध में अपने विचार अपनी पुस्तक 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में दिये हैं।

मार्क्स तथा एंजिल्स के राज्य सम्बन्धी विचार

मार्क्स तथा एंजिल्स परम्परावादी सिद्धान्त से सहमत नहीं होते। मार्क्स के अनुसार राज्य कभी कल्याणकारी संस्था नहीं रही और न कभी ऐसी हो सकती है, यह सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और सदैव ऐसा ही होगा— जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन करता है और उनका शोषण करता है। एंजिल्स के अनुसार राज्य एक संगठित अत्याचार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। राज्य की उत्पत्ति ही इन अत्याचारी पूंजीपतियों व श्रमिकों के शोषण के उद्देश्य से की है।

मार्क्स तथा एंजिल्स राज्य को प्राकृतिक संस्था नहीं मानते हैं। वे राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त और समझौते के सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार राज्य कोई ऐसी संस्था नहीं है जो सदैव अस्तित्व में रही हो, मानव इतिहास में ऐसा समय भी रहा है जब राज्य नाम की कोई संस्था नहीं थी। उनके विचारानुसार राज्य का जन्म उस समय हुआ जब समाज दो विरोधी वर्गों में विभाजित हुआ। दूसरे शब्दों में मार्क्स के अनुसार राज्य वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति है, इसलिए मार्क्स का कहना है कि राज्य कभी कल्याणी संस्था नहीं हो सकती क्योंकि राज्य सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है, उसी वर्ग का राजसत्ता पर अधिकार होता है और यह राजसत्ता का प्रयोग अपने हितों के लिए करता है। इस तरह मार्क्स के अनुसार राज्य शोषण करने का यन्त्र बन जाता है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में मार्क्स ने राज्य के अनुसार राज्य शोषण करने का यन्त्र बन जाता है। कम्युनिष्ट मैनिफेस्टो में मार्क्स ने राज्य को पूंजीपति वर्ग की कार्यकारिणी समीति कहा है। एंजिल्स का विचार है कि समाज के दो विरोधी एवं संघर्षरत वर्गों के कारण राज्य का अस्तित्व हुआ है और यह एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण का करने के उद्देश्य से बनाए गए यन्त्र से अधिक नहीं है।

पूँजीवाद के हितों की रक्षार्थ राज्य न सिर्फ पुलिस एवं सैन्य शक्ति रखता है, अपितु इसके लिए राज्य अपनी न्याय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, धर्म आदि का भी इस्तेमाल करता है। इसलिए माक्स का कहना है कि धार्मिक क्रान्ति के पश्चात् जब पूँजीवाद का पूर्ण नाश हो जाएगा और आदर्श साम्यवादी समाज की स्थापना होगी तब राज्य विलुप्त हो जाएगा। साम्यवादी समाज में जब कोई वर्ग नहीं होगा, तो राज्य की आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

राज्य की उत्पत्ति—माक्सवादी विचारक राज्य को न तो ईश्वरीय संस्था मानते हैं और न ही किसी समझौते का परिणाम। उनके विचारानुसार राज्य का उदय सामाजिक विकास के फलस्वरूप हुआ है। ये समाज के दो वर्गों के बीच संघर्ष का परिणाम है। एंजिल्स के शब्दों में, राज्य किसी प्रकार की समाज पर बाहर से लादी गई शक्ति नहीं है। इसी प्रकार राज्य राजनीतिक विचार की वास्तविकता या बुद्धि की मूर्ति और वास्तविकता भी नहीं है, जैसा कि हीगल का दावा है। राज्य विकास की एक खास मंजिल पर समाज की एक उपज है।

राज्य की उत्पत्ति की माक्सवादी धारणा को समझने के लिए निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

(1) दासों पर स्वामित्व वाला समाज—एंजिल्स के मतानुसार आदिम समाज की अवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकी। समय बीतने के साथ-साथ उत्पादन प्रणाली में अन्तर आने लगा। कुछ कबीलों ने भेड़, बकरी, गाय जैसे पशुओं को मारने के स्थान पर उन्हें पालना शुरू कर दिया। इससे समाज में दो प्रकार के व्यक्ति हो गए एक वे जिन्होंने पशु-पालना शुरू किया और दूसरे वे जिन्होंने उत्पादन की पहली व्यवस्था को बनाए रखा। एंजिल्स ने इसे श्रम का पहला महत्वपूर्ण सामाजिक विभाजन माना है। पशुपालन करने वाले कबीलों ने अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन आरम्भ कर दिया। उनके पास न केवल दूध और मांस अधिकता में थे, बल्कि अन्य प्रकार की चीजें भी आवश्यकता से अधिक थीं। इसके फलस्वरूप ये लोग दूसरे लोगों को आवश्यक वस्तुएं प्रदान करने लगे जिससे विनिमय प्रणाली का उदय हुआ। पहले विनियम कबीले के सरदार द्वारा होता था परन्तु बाद में व्यक्तिगत स्तर पर होने लगा। माक्स का मत है कि विनिमय प्रणाली ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को जन्म दिया।

पशुपालन के उपरान्त मनुष्य शनैः-शनैः कृषि करने लगा। इससे कबीलों ने संस्थागत रूप ग्रहण कर लिया। अब कबीले स्थायी रहने लगे। एक कबीला दूसरे कबीले को युद्ध में पराजित कर उसके सदस्यों को बंदी बनाकर उनसे कृषि कार्य

करवाता था। इस तरह गुलाम प्रथा का आरम्भ हुआ। विश्व के अधिकांश देशों में गुलाम प्रथा समाज का अंग बन गई थी। गुलाम प्रथा ने समाज को दो वर्गों में बांट दिया मालिक तथा दास-भूमि तथा उत्पादन के साधनों पर मालिकों का स्वामित्व था। दासों से जबर्दस्ती काम लिया जाता था और उनको खाने के लिए उतना ही दिया जाता था जिससे वे जीवित रह सकें। उनकी हालात पशुओं से अच्छी नहीं थी। इस सम्बन्ध में लेनिन ने कहा है कि मौलिक बात यह है कि गुलामों को इंसान नहीं माना जाता था उन्हें नागरिकों में गिनना तो दूर रहा, मानव भी नहीं समझा जाता था। यहीं से शोषण की शुरुआत हुई और इसी में राज्य संस्था का उदय हुआ।

(2) प्रारम्भिक समाज एंजिल्स के अनुसार राज्य सदैव अस्तित्व में नहीं है, मानव इतिहास में ऐसा भी समय रहा है जब राज्य नहीं था। प्रारम्भिक समाज में लोग छोटे-छोटे कुटुम्बों या समुदायों में रहते थे। कुटुम्ब के उपर परिवार के मुखिया का नियन्त्रण होता था। इस युग में मानव जीवन की आवश्यकताएं बहुत कम थी, इसलिए उत्पादन के तरीके भी बहुत सरल थे। लोग फल-फूल खाकर या पशुओं का शिकार करके अपना निर्वाह करते थे। किसी के पास कोई ऐसा साधन नहीं था कि वह दूसरों का शोषण कर सकें।

प्रारम्भिक समाज वर्गहीन था। उस समय न कोई मालिक था और न कोई दास और न कोई शासक था न कोई शासित। किसी को भी दमन की आवश्यकता नहीं थी और न किसी के विरुद्ध शक्ति या हिंसा के प्रयोग की ही जरूरत थी। इस युग में राज्य नाम की कोई संख्या नहीं थी। उस समय सभी सामाजिक बन्धनों का आधार रीति-रिवाज या परम्पराएं ही समाज में शान्ति व व्यवस्था की स्थापना करती थी। इस युग को मार्क्सवादियों ने आदिम साम्यवाद के नाम से पुकारा है। एंजिल्स के शब्दों में राज्य आदिकाल से अस्तित्व में नहीं था। ऐसे समाज भी रहे हैं जो इसके बिना थे। उनमें राज्य तथा राज्यसत्ता की कोई धारणा नहीं थी।

चूंकि आदिम समाज में मनुष्यों का विभाजन वर्गों में नहीं हुआ था, इसलिए राज्य नाम की कोई संस्था नहीं थी।

(3) पूंजीवादी राज्य मध्ययुग में राज्य आधुनिक राज्य के मुकाबले में पिछड़ा हुआ है। राज्य का सही विकास पूंजीपति युग में हुआ, जिसकी शुरुआत मध्ययुग के बाद हुई। मशीनों के आविष्कार से बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना होने लगी। हाथ से काम करने वाले कारीगरों के लिए गाँव को छोड़ कर शहरों की ओर आने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं रहा। उद्योगपतियों को इस तरह सस्ते मजदूर मिलने लगे। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, बेल्जियम आदि देशों में उद्योगों से

उद्योगपतियों का तेजी से विकास होने लगा। उद्योगपतियों ने मिले खोलकर श्रमिकों का शोषण किया और वे दिन-प्रतिदिन अधिक धनवान बनते गए। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में समाज दो वर्गों में बँट गया पूंजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग। पूंजीपति वर्ग ने श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिए राज्य रूपी यंत्र का प्रयोग किया और राज्य को और अधिक शक्तिशाली बनाया।

(4) राज्य का उदय गुलामों पर अधिकतर बनाए रखने के लिए मालिक हिंसा और दमन का सहारा लेने लगे। मालिकों में से ही दबंग व्यक्ति शासक बन बैठा। मालिक अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित बनाए रखने के लिए राज्य के माध्यम से काम करने लगे। अपराधों को रोकने के लिए कानून बनाए गए, अधिकारियों की नियुक्ति की गई, पुलिस और जेलखाने बनाए गए। प्रारम्भिक राज्यों का स्वरूप बहुत अधिक विकसित तथा संगठित नहीं था। राज्यों का आकार बहुत छोटा होता था। ये राज्य काफी शक्तिहीन थे एवं उनका प्रयोजन गुलामों का दमन करना और शोषण करना था।

इन राज्यों में सरकार के स्वरूप में भिन्नता पाई जाती थी। कहीं राजतन्त्र, कहीं कुलीनतन्त्र तो, कहीं गणतन्त्र प्रणाली प्रचलित थी। शासन का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो इन राज्यों में शासन की समस्त शक्ति स्वतन्त्र मनुष्यों के हाथों में केन्द्रित थी।

(5) सामन्ती युग राज्य का तेजी से विकास सामन्ती युग में हुआ। धन के उत्पादन में भूमि का महत्त्व बढ़ जाने के कारण सामन्ती युग की शुरुआत हुई। भूमि का मालिक राजा समझा जाता था। राजाओं ने अपने साथियों में भूमि को बांट दिया, जिन्हें जागीरदार या सामन्त कहा जाता था, जागीरदार या सामन्त स्वयं खेती नहीं करते थे। इसी युग में किसानों और अर्द्ध-दासों ने कपड़ा बुनने, रंगाई, औजार बनाना, बर्तन बनाना इत्यादि शुरू किया और धीरे-धीरे व्यापार बढ़ने लगा। व्यापार में वृद्धि होने से आवागमन के साधन विकसित हुए एवं नगर प्रचलन में आये।

आर्थिक व्यवस्था में जटिलता आने के कारण सामन्ती समाज में भी जटिलता आ गई। सामन्तों और जागीदारों ने दमन और हिंसा के जरिए अपनी सत्ता को मजबूत बनाया। इस प्रकार के कानून और जागीदारों ने दमन और हिंसा के जरिए अपनी सत्ता को मजबूत बनाया। इस प्रकार के कानून बनाए गए, जिससे जमींदारों की कृषक दासों के ऊपर अपनी प्रभुता कायम कर सके। समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गया एक ओर भूमिपति और व्यापारी थे जिनके हाथ में सत्ता

थी, जबकि दूसरी ओर किसान तथा दास थे जिनका शोषण किया जाता था। इस युग में राज्य अधिक शक्तिशाली बना और सामन्तों ने राज्य को शोषण का यन्त्र बना दिया।

मार्क्स का विचार है कि वर्तमान बुर्जुआ राज्य को श्रमिक वर्ग क्रान्ति द्वारा समाप्त कर देगा और उसके स्थान पर मजदूर राज्य की स्थापना होगी। अन्त में राज्य अपने आप लोप हो जाएगा और वर्ग-विहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। एंजिल्स के शब्दों में अब हम उत्पादन के विकास की एक ऐसी स्थिति की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें इन वर्गों का अस्तित्व ही न रहेगा, अपितु उत्पादन के मार्ग में एक बड़ी बाधा बनेगा। इनका इतने ही अवश्यम्भावी रूप से पतन होगा। जितना पहले आर्भिभाव हुआ था इनके साथ ही राज्य का भी अनिवार्य रूप से पतन हो जाएगा जिस समाज में उत्पादकों के स्वतन्त्र तथा समानता के आधार पर उत्पादन का नियोजन होगा वह समाज राज्य व्यवस्था को ऐसे स्थान पर ला पटकेगा जहाँ वह चरखे एवं कुल्हाड़े जैसे प्राचीन वस्तुओं के साथ पुरातत्व की वस्तु बन जाएगी।

लेनिन ने भी राज्य की उत्पत्ति के बारे में मार्क्स और एंजिल्स के विचारों का जोरदार समर्थन किया है। राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की उपरिलिखित धारणा के कुछ अन्तर्निहित परिणाम हैं, जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) राज्य का आधार शक्ति—राज्य का आधार पाशविक शक्ति है न कि जनता की इच्छा। इसलिए राज्य की समाप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। शक्ति का प्रतिकार शक्ति से ही हो सकता है। अतः पूंजीवादी राज्य का अन्त क्रान्ति व हिंसा ही हो सकता है।

(2) राज्य-संघर्ष की उत्पत्ति है—मार्क्स के अनुसार राज्य एक प्राकृतिक संस्था न होकर वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति है। आरंभिक साम्यवादी समाज में राज्य की अवधारण नहीं थी। क्योंकि तत्कालीन समाज वर्ग विहीन था। परन्तु जैसे ही आदिम साम्यवादी अवस्था समाप्त हुई और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ समाज दो वर्गों में बंटा, राज्य की भी स्थापना हो गई। अतः विभिन्न वर्गों के संघर्ष के कारण राज्य का जन्म हुआ। लेनिन के शब्दों में कहां, कब और किस हद तक राज्य का जन्म होता है, यह प्रत्येक रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि कब, कहां और किस हद तक राज्य-विशेष के विरोधों में सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सका और इसी के व्यक्ति से राज्य का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वर्ग सम्बन्धी विरोधों में भी कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता है।

(3) राज्य सदैव शोषक पक्ष का समर्थन करता है—मार्क्स के अनुसार राज्य

सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। ये तो सदैव उस वर्ग का समर्थक रहा है जिसका उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व होता है। राज्य की सत्ता का प्रयोग शोषक वर्ग अपने हितों के लिए करता है, और राज्य श्रमिकों का शोषण करने में पूंजीपतियों का समर्थन करता है। पूंजीपतियों को क्षति पहुंचाने वाले कार्यों का राज्य दमन करता है। राज्य का दमनात्मक एवं दण्डात्मक स्वरूप उस समय सामने आता है जब श्रमिकों द्वारा अपनी दशा को सुधारने के लिए की गई हड़तालों को रोकने के लिए तथा प्रदर्शनों को कुचलने के लिए पुलिस व सेना का प्रयोग किया जाता है। एंजिल्स का कहना है कि पूंजीवादी राज्य, श्रमिकों के विद्रोह एक प्रहरी के रूप में खड़ा हुआ है। इसलिए पूंजीवादी राज्य में श्रमिक वर्ग भी आस्था नहीं रख सकता है।

(4) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तथा राज्य विहीन काल की कल्पना—माक्स का अटूट विश्वास था कि एक दिन ऐसा जरूर आएगा जब पूंजीवादी विचारधारा का समूल नाश हो जाएगा। दुनिया के मजदूर एक होकर एक दिन क्रांति के माध्यम से पूंजीपतियों से सत्ता छीन लेंगे। तदुपरान्त श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व वर्गहीन समाज की स्थापना से पूर्व की संक्रान्तिकालीन अवस्था है। माक्स ने अपने रचित ग्रंथ “कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो” में लिखा है कि पूंजीवादी और साम्यवादी समाज के बीच एक-दूसरे में परिवर्तन होने का क्रान्तिकारी काल रहा है। इसी के अनुरूप एक राजनैतिक संक्रान्ति काल भी होता है जो केवल क्रान्तिकारी श्रमजीवी की तानाशाही हो सकता है।

सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है, वर्गहीन समाज से भी अधिक महत्त्व का काल अधिनायकवाद या जो माक्स और एंजिल्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के तुरन्त बाद स्थापित होता है। इस अवस्था में यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा वर्ग शक्ति छीन लेता है और एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो अपनी ओर से बल का प्रयोग करता है, इसलिए सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद भी बुर्जुआ राज्य की भांति ही वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। उसका कार्य होता है कि वह विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में बदले और यदि पूंजीपति वर्ग के प्रति क्रांति का कोई प्रयत्न करे तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे तभी सम्भवतः राज्य के तिरोहित होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कितने दिनों तक कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गई। माक्स तथा एंजिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिकार को अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में विकसित नहीं किया।

जब पूंजीवाद का पूर्ण विनाश हो जाएगा और राज्य समस्त समाज का वास्तविक प्रतिनिधि बन जाएगा तब राज्य अनावश्यक हो जाएगा। एंजिल्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि अन्त में जब राज्य समूचे समाज का वास्तविक प्रतिनिधि बन जाता है तो अपने को फालतू बता देता है। उस समय समाज के किसी अंश को पराधीन बनाकर रखने वाला कोई वर्ग नहीं होता है। अतः इस समय दमन करने योग्य कोई तत्व न होने के कारण राज्य की दमनकारी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए राज्य का अन्त नहीं किया जाता है, बल्कि इसकी व्यवस्था स्वतः विलुप्त होकर समाप्त हो जाती है। एंजिल्स ने परिवार, वैयक्तिक सम्पत्ति तथा राज्य का उद्गम में कहा है कि वह युग आने वाला है, जब राज्य संग्रहालयों में रखी जाने योग्य प्राचीन वस्तुओं चरखे या कांसे के कुल्हाड़े, भांति अतीत काल की वस्तु बन जाएगा। जिस प्रकार एक फल अपने पूर्ण विकास के बाद स्वतः मुरझा जाता है, उसी प्रकार अन्त में राज्य रूपी फूल की पखुड़ियां भी कुम्हलाकर या मलीन होकर गिर जाएगी और यह संस्था पृथ्वी से लोप हो जाएगी। राज्य के लोप होने के पश्चात् आदर्शवादी समाजवादी समाज की स्थापना होगी। इसमें मनुष्य पहली बार पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा। उत्पादन के साधनों पर समाज का नियन्त्रण होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और उसे अपनी आवश्यकतानुसार मिलेगा। यह समाज न केवल राज्यविहीन बल्कि वर्गहीन भी होगा।

(5) सार्वजनिक कल्याण का विरोधी जनता के हित का विरोधी है। राज्य पुलिस सेना व कानून की व्यवस्था को जनता के हित में बताकर पूंजीपतियों की रक्षा करता है। राज्य जो शिक्षा व्यवस्था करता है, उससे बच्चों में ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे पूंजीपतियों की जड़े और मजबूत हो जाएँ। धर्म द्वारा गरीब जनता को यह पाठ पढ़ाया जाता है कि सुख-दुःख सब भाग्य का खेल है। राज्य यातायात, संचार की व्यवस्था की उन्नति भी वास्तव में पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रखकर करता है। जन-कल्याण का नाम लेकर राज्य पूंजीपतियों का शोषण करता है।

(6) राज्य केवल कष्टदायक है मार्क्स के अनुसार राज्य केवल कष्टदायक रहा है और रहेगा। राज्य तो गरीबों, श्रमिकों तथा अन्य असहाय लोगों को कष्ट का एकमात्र साधन है। मार्क्स ने स्वयं ही लिखा है राज्य का बल एक ऐसी चक्की है जो की पीस डालती है। लोकतन्त्रीय राज्य भी इसी कष्टकारक चक्की का एक रूप है और राजतन्त्र यही है।

मार्क्स की राज्य सम्बन्धी धारणा की आलोचना मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचारों की आलोचना निम्नांकित आधारों पर की गई है—

(1) आर्थिक तथ्यों पर अधिक महत्त्व माक्स के अनुसार केवल आर्थिक व्यवस्था ही व्यक्ति के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। मनुष्य के जीवन के पूर्ण विकास के लिए आर्थिक प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की भावनाएँ भी उसके जीवन के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

(2) राज्य बना नहीं विकसित हुआ है राज्य की उत्पत्ति का माक्सवादी सिद्धान्त राज्य के स्वाभाविक और वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उसका एकपक्षीय दूषित तथा विकृत दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। राज्य एक स्वाभाविक संस्था है, जिसका उदय मानव स्वभाव में निहित है। राज्य का जन्म इतिहास की विशेष तिथि को नहीं हुआ धीरे-धीरे इसका विकास हुआ है। इसके विकास क्रम में व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति, रक्त सम्बन्ध जादू-टोना, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधि तथा राजनैतिक चेतना ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

(3) राज्य के लोप होने का विचार काल्पनिक है माक्स का राज्य के लुप्त होने का विचार कोरी कल्पना है। सोवियत रूस में क्रांति द्वारा माक्सवाद की स्थापना सन् 1917 में हुई, परन्तु अभी तक वहाँ पर राज्य का अन्त नहीं हुआ है। वास्तव के रूस में राज्य दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली होता जा रहा है।

(4) राज्य का आधार शक्ति न होकर इच्छा है साम्यवादी विचारक माक्स के अनुसार राज्य पाशविक शक्ति है। परन्तु यह बात सही नहीं है। बल के ही आधार पर कोई राज्य अधिक समय तक कायम नहीं रह सकता। ग्रीन के अनुसार शक्ति नहीं बल्कि इच्छा राज्य का आधार है।

(5) राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है माक्स के अनुसार राज्य केवल पूंजीपतियों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए ही कार्य करता है, परन्तु यह बात गलत है। वास्तव में राज्य किसी एक वर्ग के लिए न होकर समस्त समाज के लिए कार्य करता है। माक्स की राज्य सम्बन्धी धारणा आधुनिक कल्याणकारी राज्य पर लागू नहीं होती।

निष्कर्ष

यद्यपि माक्सवादी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं है, परन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि माक्स के विचारों में मजदूरों व किसानों के हितों के प्रति जो विशेष उल्लेख है, उसने संसार को बहुत प्रभावित किया है। आधुनिक समय में श्रमिकों, मजदूरों और किसानों के

हितार्थ अलग-अलग देशों द्वारा जो कानून पारित किए गए हैं, उन पर इसी विचारधारा का असर है।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त

मार्क्स विचारधारा का जन्म 19वीं शताब्दी में हुआ। इसका जन्म उस समय प्रचलित व्यक्तिवाद तथा पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इस विचारधारा का मुख्य प्रवर्तक जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स था, जिन्होंने अपने विचारों को प्रकट किया।

मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थकों तथा चिंतकों द्वारा राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। एक ओर तो उन्होंने पूंजीवादी समाज में राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों का विश्लेषण किया है और दूसरी ओर उन्होंने समाजवादी राज्य में राज्य के द्वारा किये जाने वाले कार्यों का निश्चित किया है। राज्य के कार्यों सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार दोनों प्रकार के कार्य इस प्रकार हैं—

पूंजीवादी समाज में राज्य के कार्य—मार्क्सवाद के अनुसार राज्य एक वर्गीय संस्था है, जिसकी स्थापना एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर आधिपत्य और नियन्त्रण रखने के लिए की गई है। इसकी उत्पत्ति वर्ग-विभेद के कारण हुई और यह संस्था राज्य सदा ही शोषक वर्ग के सहायक के रूप में कार्य करती रही है। सामन्ती युग में राज्य की शक्ति और साधनों पर सामन्तों का अधिकार होता था, जिसके द्वारा वे जनता का शोषण तथा उत्पीड़न करते थे। पूंजीवादी युग में राज्य नामक संस्था पर पूंजीपति वर्ग का आधिपत्य है, जो राज्य की सहायता से श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। मार्क्स के अनुसार यह बात प्राचीन काल के निरंकुश राज्यों के समान ही वर्तमान तथाकथित लोकतांत्रिक राज्यों के बारे में भी सत्य है। मार्क्स का कहना है कि राज्य केवल एक ऐसा यन्त्र है जिसकी सहायता से एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है।

एंगिल्स ने भी कहा है कि राज्य अपने सभी रूपों में एकमात्र शासक वर्ग की संस्था रही है और प्रत्येक अवस्था में उसने दलित या शोषित वर्ग को दबाने का ही कार्य किया है।

अतः मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य को मुख्य रूप से पूंजीपतियों की राजनीतिक संस्था मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजीपति समाज में राज्य द्वारा ऐसे कार्य किये जाते हैं जो शासक वर्ग या पूंजीपति वर्ग के हितों की ही रक्षा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजीवाद समाज में राज्य द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं:

(1) आर्थिक कार्य प्राचीन उदारवादियों ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया था। 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक जब राजनीति शक्ति पर पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों का अधिकार हो गया था तो उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन किया। माक्स का विश्वास था कि राज्य के हस्तक्षेप के बिना पूंजीवाद पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकता। अमेरिका, जापान तथा इंग्लैण्ड आदि राज्यों में जहाँ पूंजीवाद समाज में राज्य द्वारा आर्थिक कार्य किया जाना आवश्यक होता है, क्योंकि इसके बिना पूंजीवाद विकसित नहीं हो सकता। उसके अनुसार मजदूरों का शोषण करने में राज्य पूंजीपतियों की सहायता करता है।

(2) यह वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देता है माक्सवाद सिद्धान्त राज्य को पूंजीवाद का सर्वोच्च स्वरूप मानता है। वह पूंजीवाद की रक्षा के लिए मजदूर वर्ग को विभाजित रखने का प्रयत्न करता रहता है, यदि किसी कारखाने अर्थात् फैक्टरी में हड़ताल आदि को समाप्त करवाने के लिए पुलिस का प्रयोग किया जाता है और हड़ताली मजदूरों के नेताओं की पिटाई भी कराई जाती है। मजदूर नेताओं को खरीदने तथा उनमें फूट डालने के लिए भी पूरा प्रयत्न किया जाता है। मजदूर तथा सेना के जवान भी वेतन के साथ सहानुभूति भी रखते हैं, परन्तु शासन के आदेशानुसार उन्हें कार्य करना पड़ता है और कई बार तो हड़ताली मजदूरों को हटाने के लिए गोलियाँ भी चलाई जाती हैं। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार दुनिया में सिर्फ दो वर्ग हैं — पहला अमीर दूसरा गरीब वर्ग। पूंजीवादी समाज अमीर और गरीब के बीच वर्ग संघर्ष को और ज्यादा तीव्र करने हेतु उत्तरदायी बनता है।

(3) दमनकारी कार्य प्रत्येक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अपनी सीमाओं के अन्दर शान्ति तथा व्यवस्था को बनाए रखना होता है। माक्सवादियों का कहना है कि राज्य यह कार्य निष्पक्षता से नहीं करता। कानूनों का निर्माण करते समय और उन्हें लागू करते समय पूंजीपतियों के हितों को ही ध्यान में रखा जाता है, उनका कहना है कि लोकतांत्रिक राज्यों में सभी राजनीतिक दल पूंजीपतियों द्वारा किये जाने वाले चन्दे पर निर्भर करते हैं। उनकी सहायता से बनी सरकार पूंजीपतियों के हितों के संरक्षक के रूप में कार्य करती है। यद्यपि न्यायपालिका के दरवाजे सभी व्यक्तियों के लिए खुले होते हैं, परन्तु न्यायप्रणाली इतनी खर्चीली होती है कि गरीब मजदूर न्यायालय में जाने की हिम्मत ही नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में मिलिबन्ड ने लिखा है कि माक्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार राज्य का हस्तक्षेप सदैव पक्षपाती होता है। इसके हस्तक्षेप का उद्देश्य वर्तमान प्रणाली की प्रमुखता को बनाये रखना होता

है। राज्य यद्यपि इस प्रणाली को कठोरता से कम करने के लिए हस्तक्षेप करे, परन्तु इसका उद्देश्य इस प्रणाली को स्थिर रखना ही होता है।

मार्क्स के कथनानुसार जिस गति से आधुनिक उद्योग का विकास हुआ है उस गति से ही पूंजी और श्रम के बीच श्रेणी में वृद्धि हुई है। उसी गति से राज्य को श्रम पर पूंजी की राष्ट्रीय शक्ति का सामाजिक दासता के लिए संगठित सार्वजनिक शक्ति का और श्रेणी निरंकुश के यन्त्र का अधिक से अधिक शक्तिशाली रूप ग्रहण किया है। वर्ग-संघर्ष की प्रत्येक क्रान्ति के पश्चात् राज्य-शक्ति का दमनकारी स्वरूप और अधिक से अधिक स्पष्ट है। नहीं बल्कि समस्त समाज की भलाई के लिए छोटे-छोटे उद्योगों को निजी हाथों में रखा जाता है, परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उनका प्रयोग भी राष्ट्र तथा समाज के हित के लिये किया जाए। श्रम की उत्पादकता में वृद्धि की आवश्यकता को अनुभव करते हुए लेनिन ने कहा था कि प्रत्येक समाजवादी क्रान्ति के पश्चात् जब श्रमिक सत्ता प्राप्त करने की समस्या को हल कर लेते हैं और पूंजीपतियों से सम्पत्ति छीनने का कार्य और उनके विरोध को कुचलने के कार्य को पूरा कर लेते हैं फिर तो पूंजीवाद को अच्छी सामाजिक प्रणाली को भली-भांति संगठित करना होता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में एक दीर्घकालीन नीति तैयार की जाती है। इस दीर्घकालीन योजना को कार्यान्वित करने का निर्णय राज्य सरकार द्वारा लिया जाता है। सरकार के माध्यम से संचालित इस योजना में किस वस्तु का उत्पादन किया जाएगा, कितना किया जाएगा एवं उत्पादन के साधनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाएगा, इन बातों का निर्णय लिया जाता है।

समाजवादी देशों में श्रमिक अनुशासन पर बहुत बल दिया जाता है, अतः राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य श्रमिक अनुशासन को बनाए रखना भी है।

(4) सांस्कृतिक तथा सामाजिक कार्य—मार्क्सवादी सिद्धान्त अधिक से अधिक उत्पादन पर बल देता है जिसके लिए विज्ञान तथा तकनीकी उन्नति आवश्यक है। यह कार्य भी राज्य द्वारा किया जाता है ताकि कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र का अधिक से अधिक विकास हो सके।

साम्यवादी देशों में राज्य को कुछ ऐसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य भी करने पड़ते हैं, जिनसे साम्यवाद के अन्तिम उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके। केवल पूंजीवाद अर्थ-व्यवस्था को नष्ट कर देने से ही समाजवादी समाज की स्थापना नहीं

हो जाती, इसके लिए लोगों की मानसिक दशा को बदलना आवश्यक होता है, इसके लिए एक ओर तो लोगों की सोच से पूंजीवादी मूल्यों को समाप्त किया जाना और दूसरी ओर लोगों को समाजवादी संस्कृति ग्रहण करवाना आवश्यक होता है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को तो शस्त्र-क्रान्ति द्वारा समाप्त किया जा सकता है परन्तु ऐसे क्रान्ति द्वारा लोगों की मानसिक स्थिति को नहीं बदला जा सकता। इस कार्य के लिए समाजवादी राज्य को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है और निम्न कार्यों की ओर उसे विशेष ध्यान देना पड़ता है—

1. सामाजिक समानता की स्थापना करना।
2. पूंजीवादी शिक्षा प्रणाली के स्थान पर नई शिक्षा प्रणाली लागू करना।
3. जन-सम्पर्क के साधनों पर नियन्त्रण रखना और उन्हीं विचारों का प्रचार करना जो साम्यवाद की नीति से मेल खाते हों।
4. समाजवादी संस्कृति तथा नैतिकता की स्थापना।

(5) जन-कल्याणकारी कार्य—समाजवादी देशों में राज्य, को जन-कल्याण के लिए भी अनेक कार्य करने होते हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना। बेरोजगारी, बीमारी तथा दुर्घटना आदि की स्थिति में उन्हें न केवल आर्थिक सहायता देना बल्कि उनके इलाज का भी प्रबन्ध करना।
2. बेरोजगारी को दूर करने के लिए प्रयास करना व सभी को काम दिलाना तथा उन्हें काम के अनुसार वेतन भी दिलाना।
3. स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार देना।
4. मजदूरों के लिये न्यूनतम वेतन तथा काम करने के अधिक से अधिक घण्टे निश्चित करना।

(6) राज्य के पतन के लिए अवस्थाएं विकसित करना—समाजवादी राज्य का मुख्य कर्तव्य ऐसी अवस्थाएं विकसित करना है, जिनके फलस्वरूप राज्य का धीरे-धीरे पतन हो जाए। माक्सवादी सिद्धान्त का उद्देश्य श्रेणी विहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है। इस उद्देश्य के लिए श्रमिकों के अधिनायकतन्त्र या समाजवादी राज्य को नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। नकारात्मक पक्ष में राज्य को पूंजीवादी प्रणाली के शेष अंशों के अतिरिक्त पूंजीवादी संस्कृति मानसिकता को पूर्ण रूप में नष्ट करना होगा। सकारात्मक पक्ष से समाजवादी राज्य को जहां उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का समाजीकरण करना होगा, वहां प्रत्येक क्षेत्र में समाजवादी सांस्कृतिक समाजवादी नैतिकता और समाजवादी

अनुशासन को विकसित करने के लिए विशेष प्रयत्न करने होंगे। जब पूंजीवादी प्रणाली, पूंजीवादी संस्कृति मानसिकता का नाश हो जाएगा और जब समाजवादी प्रणाली और समाजवादी संस्कृति इनका स्थान ले लेगी तो प्राकृतिक रूप में ही राज्य के पतन की अवस्था अस्तित्व में आ जाएगी। राज्य के पतन के लिए ऐसी अवस्था विकसित करना, श्रमिकों का अधिनायकतन्त्र या समाजवादी का राज्य महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की भूमिका साम्यवादी चूंकि साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध करते हैं, इसलिए वे विश्व के अन्य भागों में चल रहे समाजवादी आन्दोलनों तथा स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन करना अपना कर्तव्य समझते हैं इसके अतिरिक्त समाजवादी राज्य का उद्देश्य अन्य समाजवादी राज्यों के साथ सह अस्तित्व के सिद्धान्त का अनुसरण करना भी है।

निष्कर्ष

राज्य के कार्यों सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त में कई त्रुटियाँ हैं—

1. मार्क्सवादियों का यह कहना ठीक नहीं है कि राज्य केवल पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के लिये ही कार्य करता है। आधुनिक राज्य एक कल्याणकारी राज्य है जो श्रमिकों तथा अन्य पिछड़े वर्गों की भलाई के लिये अनेक कार्य करता है, और सामाजिक कल्याण का एक साधन बन चुका है।
2. मार्क्सवादियों के इस विचार की भी आलोचना की जाती है, कि राज्य समाज के पूंजीपतियों व श्रमिकों के बीच एकता में बाधा उत्पन्न करता है। वर्तमान राज्य समाज की विभिन्न श्रेणियों में एकता और समन्वय स्थापित करने में एक उपयोगी साधन सिद्ध हुआ है।
3. मार्क्सवादी सिद्धान्त द्वारा समाज को ही आर्थिक श्रेणियों पूंजीपति तथा श्रमिक में बांटा गया है, जो ठीक नहीं है। आज के युग में किसी भी पूंजीवादी समाज को दो कठोर श्रेणियों में विभाजित करना असम्भव है। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक समाज में जहां उच्च श्रेणी तथा निम्न श्रेणी है वहां एक अन्य महत्त्वपूर्ण श्रेणी भी है, जिसे मध्यम श्रेणी कहा जाता है।
4. साम्यवादियों की राज्य के लुप्त होने की धारणा भी गलत सिद्ध हुई है। साम्यवाद राज्यों के वर्तमान रूप को देखने से यह लगता है कि वहां पर राज्य के लुप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है, व्यवहार में वहां पर राज्य और अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बनता जा रहा है। व्यक्ति की गतिविधियों पर राज्य का नियन्त्रण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि साम्यवादी सिद्धान्त के परिणामस्वरूप ही साम्यवादी राष्ट्रों ने आर्थिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की। इस सिद्धान्त के कारण ही पूंजीवादी राज्यों में भी कल्याणकारी राज्य बन गए हैं। इन राज्यों में यदि श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार हुआ है और यदि वहां पर भी श्रमिकों को आर्थिक प्रणाली में भागीदार बनाया गया है तो इसका श्रेय मार्क्सवादी सिद्धान्त को जाता है।

कार्ल मार्क्स एक क्रान्तिकारी विचारक था जो राजनैतिक व्यवस्था में क्रान्ति परिवर्तन करने के पक्ष में था। वह क्रान्ति का बल पूर्वक साधनों द्वारा विद्यमान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को समाप्त करने के रूप में परिभाषित करता है। वह क्रान्ति के लिये बल-प्रयोग को आवश्यक मानता है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों को उखाड़ फेंकने के लिये यह अति आवश्यक है। क्रान्ति में बल-प्रयोग तथा हिंसा सदैव शामिल होता है। मार्क्स के अनुसार क्रान्ति सदैव श्रमिक अर्थात् शोषित वर्ग द्वारा की जाती है। यह प्रायः सामाजिक व आर्थिक कारणों से होती है जो बाद में राजनैतिक रूप धारण कर लेती है। वह क्रान्ति समाज के रहने वाले दो वर्गों अमीर और गरीब के मध्य चल रहे वर्ग-संघर्ष के कारण होती है। अतः मार्क्स वर्ग संघर्ष को ही क्रान्ति का आधार मानता है।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

चूंकि मार्क्स का क्रान्ति का सिद्धान्त उसके वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए उसके क्रान्ति के सिद्धान्त को ठीक प्रकार से समझने के लिए उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को समझना अति आवश्यक है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसके ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त का ही एक उप-सिद्धान्त है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य साधन मानता है और उसके अनुसार आदिकाल से लेकर आज तक विश्व समाज में जितने भी परिवर्तन हुए हैं उन्हें उसी का प्रतिफल सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स तथा एंजिल्स की संयुक्त रचना साम्यवादी घोषणा पत्र में कहा गया है कि अब तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स के अनुसार इतिहास के विभिन्न युगों में सदैव दो परम्परा विरोधी आर्थिक वर्ग मौजूद रहे हैं, इनमें से एक वर्ग सत्ता प्राप्त वर्ग है और दूसरा वर्ग आर्थिक सत्ता में अपना श्रम बेच कर गुजारा करने वाला वर्ग है। मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक युग में इन दो एक-दूसरे विरोधी वर्गों का अस्तित्व रहा है, इस तथ्य को दर्शाते हुए साम्यवादी

घोषणा पत्र में कहा गया है कि स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दाल, कुलीन तथा सामान्यजन भू-स्वामी तथा भू-दास श्रेणीपति तथा हस्तकार, संक्षेप में उत्पीड़क तथा उत्पीड़ित सदा एक-दूसरे के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करते रहे हैं और कभी छिपे और कभी खुले तौर पर अनवरत संघर्ष चलाते रहे हैं। इन संघर्ष की परिणति हर बार या तो समाज के क्रान्तिकारी पुनः निर्माण में हुई या संघर्ष करने वाले वर्ग के सर्वनाश में।

शोषितों, ये दोनों वर्ग निरन्तर संघर्ष करते रहे जिसके परिणामस्वरूप नये समाजों का निर्माण होता रहा।

मार्क्स के मस्तिष्क में वर्ग-संघर्ष की धारणा का बीज इंग्लैण्ड की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था ने बोया।

कोल ने लिखा है कि मार्क्स की वर्ग-संघर्ष की धारणा तत्कालीन इंग्लैण्ड की परिस्थितियों पर आधारित है। उस समय इंग्लैण्ड में उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो रही थी। पूंजीपति वर्ग दिन-प्रतिदिन धनी होता जा रहा था तथा श्रमिक वर्ग की गरीबी में लगातार वृद्धि हो रही थी। श्रमिक वर्ग अपनी दशा को सुधारने के लिये अनेक संघर्षों का निर्माण कर रहा था। मार्क्स ने पूंजीपतियों के अत्याचार तथा श्रमिक वर्ग के कष्टों को देखकर एक कल्पना के आधार पर वर्ग-संघर्ष की धारणा बनाई और कल्पना के आधार पर पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त तथा समाजवाद के उदय का स्वप्न देखा।

पूंजीपति वर्ग का उत्पादन के समस्त साधनों पर एकाधिकार रहता है एवं दूसरा वर्ग उससे वंचित रहता है अर्थात् उसके हाथ में सिर्फ मजदूरी करना होता है। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है। यदि उद्योगपतियों या जमींदारों को श्रमिक काम करने के लिए न मिलें तो न तो उत्पादन हो सकता है और न ही कारखानों में माल बनाया जा सकता है। दूसरी ओर यदि श्रमिकों को खेतों अथवा कारखानों में मजदूरी या काम नहीं मिलता तो जीवित नहीं रह सकेंगे। इस प्रकार दोनों वर्गों को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है। परन्तु ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, जिस कारण से दोनों में संघर्ष स्वाभाविक है। उत्पादक वर्ग श्रमिक को कम से कम वेतन देकर अधिक से अधिक काम लेना चाहता है, जबकि मजदूर अधिक से अधिक मजदूरी चाहता है। इसके लिए दोनों में संघर्ष होता है। वर्तमान पूंजीवादी युग में भी इन दोनों वर्गों के बीच संघर्ष चल रहा है। परन्तु इस संघर्ष में श्रमिकों की स्थिति कमजोर है क्योंकि श्रम नाशवान होता है और श्रमिक उसे बेचने के लिए अधिक समय तक इंतजार नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा स्वयं को तथा अपने बच्चों को भूखा मारना। अतः श्रमिक को पूंजीपति के

सामने मजबूर होकर कम वेतन पर ही काम करने के लिए तैयार होना पड़ता है। पूंजीपति श्रमिकों का मनमाने ढंग से शोषण करते हैं और स्वयं विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। पूंजीपति समाज की आर्थिक स्थिति पर नियन्त्रण करने के साथ-साथ सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर भी नियन्त्रण कर लेते हैं और उनका प्रयोग अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए करते हैं। श्रमिकों में चेतना आने पर वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचार तथा शोषण का विरोध करते हैं। इसके लिए वह क्रान्ति करते हैं जिसके परिणामस्वरूप पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण रूप से नाश होता है और साम्यवाद की स्थापना होती है।

माक्स का कहना है कि पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के इस संघर्ष में अन्तिम विजय श्रमिकों की होनी निश्चित है, क्योंकि स्वयं पूंजीवाद में उसके विनाश के बीज मौजूद हैं। पूंजीपति अपने अधिकतम लाभ के लिए संख्या कम होती जाती हैं क्योंकि छोटे पूंजीपति बड़े पूंजीपतियों का मुकाबला न कर सकने के कारण पूंजीपति न रहकर श्रमिकों की संख्या में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता है, वैसे-वैसे पूंजी कम से कम व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती चली जाती है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती चली जाती है और वह अपनी मुसीबतों के लिए पूंजीपतियों को जिम्मेवार समझने लगते हैं।

पूंजीवाद किस प्रकार विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है इसको स्पष्ट करते हुए कोकर ने लिखा है कि इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करती है। उनको एक-दूसरे के निकट लाकर ठोस समूहों में संगठित कर देती है, उन्हें जागरूक बनाती है। विश्वव्यापी पैमाने पर अन्तर्विचार और पारस्परिक सहयोग के साधनों को प्रदान करती है, श्रमिकों की क्रय-शक्ति को घटाती है और उनके शोषण को बढ़ाकर उन्हें व्यवस्थित संघर्ष के लिए पूंजीवादी निरन्तर अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और लाभों पर आधारित व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सदा ऐसी परिस्थितियों को जन्म देते रहते हैं जो श्रमिक वर्ग के स्वाभाविक प्रयत्नों को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था की तैयारी में प्रोत्साहन देती है और इन प्रयत्नों को दृढ़तर बनाती है।

सर्वहारा वर्ग तानाशाही मार्क्सवादी सिद्धान्त पूंजीवाद व्यवस्था को समाप्त करने के लिये समाजवादी क्रान्ति का समर्थन करता है। मार्क्सवादियों का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था अपनी कब्र स्वयं खोदने वाली संस्था है मजदूरों की आर्थिक स्थिति जब बहुत बिगड़ने लगती है और उनमें चेतना का विकास होता है, तो सर्वहारा वर्ग क्रान्ति करके राज्य शक्ति पर नियन्त्रण कर लेता है। सभी सम्पत्ति कारखाने, भूमि

आदि पर सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना के बाद मजदूरों को उनके श्रम के अनुसार वेतन मिलने लगेगा। वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी, जिसमें शोषण अन्याय और अत्याचार का नाश हो जाएगा। अतः शक्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था में बदलने के लिए समाजवादी क्रान्ति को सर्वोत्तम तथा अकेला सूक्ष्म साधन मानता है तथा इसका समर्थन करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की स्थापना राज्यविहीन व वर्ग-विहीन समाज के साथ क्रान्ति समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि यह चालू रहती है। वह क्रान्ति को केवल एक ही राज्य तक सीमित नहीं रखता, बल्कि सभी राज्यों में समाजवादी क्रान्ति लाने का समर्थन करता है। इसलिए कार्ल मार्क्स ने यह नारा दिया था, विश्व के मजदूरों इकट्ठे हो जाओ, खोने के लिये तुम्हारी जंजीरों के अतिरिक्त तुम्हारे पास कुछ नहीं है।

यह दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की प्राप्ति के लिये समाजवादी क्रान्ति के निर्यात का पक्षधर है। एक राज्य की समाजवादी क्रान्ति दूसरे राज्य की क्रान्ति के निर्यात के लिए लगातार संलग्न रहेगी।

उपरोक्त चर्चा से निम्नलिखित बातें सामने आती हैं—

1. यह वर्ग-संघर्ष का फल है। समाज सदा दो वर्गों-अमीर तथा गरीबों में विभाजित रहता है।
2. क्रान्ति एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
3. समाजवादी क्रान्ति का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयवादी है।
4. वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप पूंजीपति वर्ग समाप्त करके सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना होगी।
5. राज्य-विहीन व वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी।

मार्क्सवाद की देन

मार्क्सवाद के सम्बन्ध में एक-दूसरे विरोधी विचार व्यक्त किये जा रहे हैं, लेकिन इससे मार्क्सवाद की महानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में ऐसा कोई विचारक नहीं हुआ, जिसके विचारों ने मानव जाति के इतने बड़े भाग को प्रभावित और अनुप्राणित किया हो और उनमें सामाजिक जीवन में इतने गहरे, दूरगामी और आमूल परिवर्तन कर दिये हों, जितने कि मार्क्स और एंजिल्स के विचारों ने किये हैं। मार्क्सवादी दर्शन

ने समस्त विश्व के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया है और आज माक्स का नाम विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय है। माक्सवाद राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में अपनी कई विशिष्ट देन के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय है। माक्सवाद राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में अपनी कई विशिष्ट योगदान के कारण चिरस्मरणीय है। उसकी प्रमुख देन निम्नलिखित है—

1. सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में समाजवाद की एक अन्य देन इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अपूर्ण मानते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि समस्त सामाजिक जीवन और संस्थाओं ने आर्थिक तत्व के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए सत्य की खोज की है। वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा विद्यमान आर्थिक व्यवस्था की अन्तर्निर्भरता के प्रतिपादन ने माक्सवाद को आज के युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दर्शन बना दिया है।
2. माक्सवाद वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित प्रथम समाजवाद है। माक्स प्रथम समाजवादी नहीं था और माक्स के पूर्व भी रॉबर्ट ओवन एफ. डी. मॉरिस चार्ल्स किंगले डॉ. हाल, प्रूथो तथा सेन्ट साइमन आदि समाजवादी विचारक हुए हैं, किन्तु इन लेखकों द्वारा प्रतिपादित समाजवाद को वैधानिक और व्यावहारिक रूप प्रदान करने का श्रेय माक्स को ही प्राप्त है। इस सम्बन्ध में लुईस बाशमैन ने ठीक ही लिखा है कि माक्स ने समाजवाद को एक षड्यन्त्र के रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा। समाजवाद ने उससे एक दर्शन और दिशा प्राप्त की।
3. इन सबके अतिरिक्त माक्सवाद की यदि कोई सबसे बड़ी देन है तो वह है श्रमिक वर्ग में वर्गीय चेतना और एकता को जन्म देना, उनकी स्थिति में सुधार करना, पूंजीपतियों के सम्मुख उनकी स्थिति को सबलता प्रदान करना और उन्हें पूंजीवाद के अन्तिम संघर्ष के लिए तैयार करना। पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद का आगमन अवश्यम्भावी है। विश्व के मजदूरों एक हो जाओ तुम्हारे पास खोने के लिए जंजीरें हैं और विजय करने के लिए समस्त विश्व पड़ा है—कार्ल माक्स का यह कथन पूर्णरूपेण सत्य नहीं है और इसकी व्यापक आलोचना भी की गयी है। लेकिन यह वास्तविकता है कि कार्ल माक्स के इन नारों ने श्रमिक वर्ग में चेतना पैदा करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। यही वजह है कि माक्सवाद समाजशास्त्र का एक व्यावहारिक दर्शन है। यह बात माक्स की इस घोषणा से भी स्पष्ट है कि अब तक दार्शनिक ने विश्व की व्याख्या का सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं किया वरन् उसने प्रथम

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का निर्माण कर श्रमिक वर्ग को संगठित भी किया। मार्क्स तथा उसकी विचारधारा का महत्त्व इस बात में है कि वह पूर्णतया शोषित वर्ग के कल्याण हेतु समर्पित है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए केर्यू हण्ट ने कहा है कि ईसाई धर्म के अभ्युदय के पश्चात् मार्क्सवाद सबसे महान् आन्दोलन था।

4. जीवन के विविध क्षेत्रों और आर्थिक क्रियाकलापों पर उसके असर का जैसा सूक्ष्म अध्ययन कार्ल मार्क्स ने किया है वैसा किसी अन्य ने वर्तमान काल में नहीं किया। मार्क्स पहला विचारक था जिसने व्यापक चक्र अति-उत्पादन और बेरोजगारी के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया। उसने ही यह अनुभव किया कि राष्ट्र की खुशहाली का एकमात्र साधन व्यापार नहीं है और यन्त्रीकरण के परिणाम स्वरूप अनेक दोष उत्पन्न होंगे। उसने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि उद्योगों के यन्त्रीकरण का प्रभाव राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग में वर्गीय चेतना का तीव्रता के साथ विकास होगा।

5. इसके अलावा यद्यपि हम साम्यवाद की आवश्यकताओं को स्वीकार नहीं करते और यह मानते हैं कि पूंजीवाद का अन्त साम्राज्यवाद से नितान्त भिन्न सामाजिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है, लेकिन यह मानना होगा कि पूंजीवाद में महत्त्वपूर्ण विकासों को पहले से देख लेने में मार्क्स ने उस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है जिसका उसके समकालीन विचारकों में अभाव ही दीखता है। मार्क्स ने बिल्कुल सही रूप में इस बात का प्रतिपादन किया कि पूंजीवाद का परिणाम उत्पादन में वृद्धि होगा, किन्तु पूंजीवाद अपने विद्यमान स्वरूप में अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। 19वीं सदी का अबाधित पूंजीवाद अब भूत की वस्तु बन गया है, और 20वीं सदी का पूंजीवाद उससे बहुत अधिक भिन्न है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्सवाद आज के युग का सर्वाधिक लोकप्रिय दर्शन है। ब्रिटेन के चोटी के राजनीतिक दार्शनिक जॉर्ज कैटलिन ने भी यह मत व्यक्त किया है कि पाश्चात्य जगत साम्यवादी देशों के मुकाबले में जहाँ तक विचारधाराओं के संघर्ष का सम्बन्ध है हार रहा है।

मार्क्सवाद का विशेष गुण यह है कि यह सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है और इसने सर्वसाधारण जनता की दशा सुधारने के अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। पोपर जैसे मार्क्सवाद के कटु आलोचक भी स्वीकार करते हैं कि कथनी के स्थान पर करनी पर बल देने वाली विचारधारा होने के कारण मार्क्सवाद निश्चय ही हमारे समय की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुधारवादी विचारधारा है।

23

व्लादिमीर लेनिन

व्लादिमीर इलिच लेनिन (1870-1924) रूस में बोल्शेविक क्रांति का नेता एवं रूस में साम्यवादी शासन का संस्थापक था।

जीवनी

व्लादिमीर इलिच लेनिन का जन्म उलियानुवस्क (रूस) नामक नगर में हुआ था। उसका वास्तविक नाम यूलियानॉव था। उसका पिता विद्यालयों का निरीक्षक था जिसका झुकाव लोकतंत्रात्मक विचारों की ओर था। उसकी माता, जो एक चिकित्सक की पुत्री थी, सुशिक्षित महिला थी। सन् 1886 में पिता की मृत्यु हो जाने पर कई पुत्र पुत्रियों वाले बड़े परिवार का सारा बोझ लेनिन की माता पर पड़ा। ये भाई बहन प्रारंभ से ही क्रांतिवाद के अनुयायी बनते गए। बड़े भाई अलेग्जांदर को जार की हत्या का षडयंत्र रचने में शरीक होने के आरोप में फाँसी दे दी गई।

उच्च योग्यता के साथ स्नातक बनने पर लेनिन ने 1887 में कज़ान विश्वविद्यालय के विधि विभाग में प्रवेश किया किंतु शीघ्र ही विद्यार्थियों के क्रांतिकारी प्रदर्शन में हिस्सा लेने के कारण विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। सन् 1889 में वह समारा चला गया जहाँ उसने स्थानीय मार्क्सवादियों की एक मंडली का संगठन किया। 1891 में सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से विधि परीक्षा में उपाधि प्राप्त कर लेनिन ने समारा में ही वकालत करना आरंभ कर दिया। 1893 में उसने सेंट पीटर्सबर्ग को अपना निवास स्थान बनाया। शीघ्र ही वह वहाँ के मार्क्सवादियों का

बहुमान्य नेता बन गया। यहीं सुश्री क्रुप्सकाया से, जो श्रमिकों में क्रांति का प्रचार करने में संलग्न थी, उसका परिचय हुआ। इसके बाद लेनिन की क्रांतिकारी संघर्ष में जीवन पर्यंत उसका घनिष्ठ सहयोग प्राप्त होता रहा।

सन् 1895 में लेनिन बंदीगृह में डाल दिया गया और 1897 में तीन वर्ष के लिए पूर्वी साइबेरिया के एक स्थान को निर्वासित कर दिया गया। कुछ समय बाद क्रुप्सकाया को भी निर्वासित होकर वहाँ जाना पड़ा और अब लेनिन से उसका विवाह हो गया। निर्वासन में रहते समय लेनिन ने तीस पुस्तकें लिखीं, जिनमें से एक थी 'रूस में पूँजीवाद का विकास'। इसमें मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर रूस की आर्थिक उन्नति के विश्लेषण का प्रयत्न किया गया। यहीं उसने अपने मन में रूस के निर्धन श्रमिकों या सर्वहारा वर्ग का एक दल स्थापित करने की योजना बनाई।

सन् 1900 में निर्वासन से वापस आने पर एक समाचारपत्र स्थापित करने के उद्देश्य से उसने कई नगरों की यात्रा की। ग्रीष्म ऋतु में वह रूस के बाहर चला गया और वहीं से उसने इस्क्रा (चिनगारी) नामक समाचारपत्र का संपादन आरंभ किया। इसमें उसके साथ 'श्रमिकों की मुक्ति' के लिए प्रयत्न करनेवाले वे रूसी मार्क्सवादी भी थे जिन्हें जारशाही के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर देश के बाहर रहना पड़ रहा था। 1902 में उसने 'हमें क्या करना है' शीर्षक पुस्तक तैयार की जिसमें इस बात पर जोर दिया कि क्रांति का नेतृत्व ऐसे अनुशासित दल के हाथ में होना चाहिए जिसका मुख्य कामकाज ही क्रांति के लिए उद्योग करना है। सन् 1903 में रूसी श्रमिकों के समाजवादी लोकतंत्र दल का दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमें लेनिन तथा उसके समर्थकों को अवसरवादी तत्वों से कड़ा लोहा लेना पड़ा। अंत में क्रांतिकारी योजना के प्रस्ताव बहुमत से मंजूर हो गया और रूसी समाजवादी लोकतंत्र दल दो शाखाओं में विभक्त हो गया - क्रांति का वास्तविक समर्थक बोल्शेविक समूह और अवसरवादी मेन्शेविक का गिरोह।

सन् 1905-07 में उसने रूस की प्रथम क्रांति के समय जनसाधारण को उभाड़ने और लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में बोल्शेविकों के कार्य का निदेशन किया। अवसर मिलते ही नवंबर, 1905 में वह रूस लौट आया। सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कराने तथा केंद्रीय समिति की गतिविधि का संचालन करने में उसने पूरी शक्ति से हाथ बँटाया और कारखानों तथा मिलों में काम करनेवाले श्रमिकों की सभाओं में अनेक बार भाषण किया।

प्रथम रूसी क्रांति के विफल हो जाने पर लेनिन को फिर देश से बाहर चले

जाना पड़ा। जनवरी, 1912 में सर्व रूसी दल का सम्मेलन प्राग में हुआ। लेनिन के निदेश से सम्मेलन ने क्रांतिकारी समाजवादी लोकतंत्र दल से मेनशेविकों को निकाल बाहर किया। इसके बाद लेनिन के क्रैको नामक स्थान में रहकर दल के पत्र 'प्रावदा' का संचालन करने, उसके लिए लेख लिखने और चौथे राज्य ड्यूमा के बोल्शेविक दल का निदेशन करने में अपने आपको लगाया।

सन् 1913-14 में लेनिन ने दो पुस्तकें लिखीं—'राष्ट्रीयता के प्रश्न पर समीक्षात्मक विचार' तथा (राष्ट्रों का) 'आत्मनिर्णय करने का अधिकार।' पहली में उसने बर्जुआ लोगों के राष्ट्रवाद की तीव्र आलोचना की और श्रमिकों की अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धांतों का समर्थन किया। दूसरी में उसने यह माँग की कि अपने भविष्य का निर्णय करने का राष्ट्रों का अधिकार मान लिया जाए। उसने इस बात पर बल दिया कि गुलामी से छुटकारा पाने का प्रयत्न करनेवाले देशों की सहायता की जाए।

प्रथम महासमर के दौरान लेनिन के नेतृत्व में रूसी साम्यवादियों ने सर्वहारा वर्ग की अंतर्राष्ट्रीयता का, साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध का, झंडा ऊपर उठाया। युद्धकाल में उसने मार्क्सवाद की दार्शनिक विचारधारा को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने अपनी पुस्तक साम्राज्यवाद (1916) में साम्राज्यवाद का विश्लेषण करते हुए बतलाया कि यह पूँजीवाद के विकास की चरम और आखिरी मंजिल है। उसने उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला जो साम्राज्यवाद के विनाश को अनिवार्य बना देती हैं। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद के आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की गति सब देशों में एक सी नहीं होती। इसी आधार पर उसने यह निष्पत्ति निकाली कि शुरू शुरू में समाजवाद की विजय पृथक् रूप से केवल दो तीन, या मात्र एक ही, पूँजीवादी देश में संभव है। इसका प्रतिपादन उसने अपनी दो पुस्तकों में किया—'दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ यूरोप स्लोगन' (1915) तथा 'दि वार प्रोग्राम ऑफ दि पोलिटिकल रिवाल्यूशन' (1916)।

महासमर के समय लेनिन ने स्विटजरलैंड में अपना निवास बनाया। कठिनाइयों के बावजूद अपने दल के लोगों का संघटन और एकसूत्रीकरण जारी रखा, रूस में स्थित दल की संस्थाओं से पुनः संपर्क स्थापित कर लिया तथा और भी अधिक उत्साह एवं साहस के साथ उनके कार्य का निदेशन किया। फरवरी-मार्च, 1917 में रूस में क्रांति का आरंभ होने पर वह रूस लौट आया। उसने क्रांति की व्यापक तैयारियों का संचालन किया और श्रमिकों तथा सैनिकों की बहुसंख्यक सभाओं में भाषण कर उनकी राजनीतिक चेतना बढ़ाने और संतुष्ट करने का प्रयत्न किया।

जुलाई, 1917 में क्रांतिविरोधियों के हाथ में सत्ता चली जाने पर बोल्शेविक दल

ने अपने नेता के अज्ञातवास की व्यवस्था की। इसी समय उसने दि स्टेट ऐंड रिवाल्यूशन (राज तथा क्रांति) नामक पुस्तक लिखी और गुप्त रूप से दल के संघटन और क्रांति की तैयारियों के निदेशन का कार्य जारी रखा। अक्टूबर में विरोधियों की कामचलाऊ सरकार का तख्ता उलट दिया गया और 7 नवंबर, 1917 को लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत सरकार की स्थापना कर दी गई। प्रारंभ से ही सोवियत शासन ने शांतिस्थापना पर बल देना शुरू किया। जर्मनी के साथ उसने संधि कर लिया और जमींदारों से भूमि छीनकर सारी भूसंपत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित कर दिया गया, व्यवसायों तथा कारखानों पर श्रमिकों का नियंत्रण हो गया और बैंकों तथा परिवहन साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। श्रमिकों तथा किसानों को पूँजीपतियों और जमींदारों से छुटकारा मिला और समस्त देश के निवासियों में पूर्ण समता स्थापित कर दी गई। नवस्थापित सोवियत प्रजातंत्र की रक्षा के लिए लाल सेना का निर्माण किया गया। लेनिन ने अब मजदूरों और किसानों के संसार के इस प्रथम राज्य के निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया। उसने 'दि इमीडिएट टास्क्स ऑफ दि सोवियत गवर्नमेंट' तथा 'दि प्रोले टेरियन रिवाल्यूशन ऐंड दि रेनीगेड कौत्स्की' नामक पुस्तकें लिखीं (1918)। लेनिन ने बतलाया कि मजदूरों का अधिनायकतंत्र वास्तव में अधिकांश जनता के लिए सच्चा लोकतंत्र है। उसका मुख्य काम दबाव या जोर जबरदस्ती नहीं वरन् संघटनात्मक तथा शिक्षण संबंधी कार्य है।

बाहरी देशों के सैनिक हस्तक्षेपों तथा गृहकलह के तीन वर्षों 1928-30 में लेनिन ने विदेशी आक्रमणकारियों तथा प्रतिक्रांतिकारियों से दृढ़तापूर्वक लोहा लेने के लिए सोवियत जनता का मार्ग दर्शन किया। इस व्यापक अशांति और गृहयुद्ध के समय भी लेनिन ने युद्ध काल से हुई देश की बर्बादी को दूर कर स्थिति सुधारने, विद्युतीकरण का विकास करने, परिवहन के साधनों के विस्तार और छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर सहयोग समितियों के आधार पर बड़े फार्म स्थापित करने की योजनाएँ आरंभ कर दीं। उसने शासनिक यंत्र का आकार घटाने, उसमें सुधार करने तथा खर्च में कमी करने पर बल दिया। उसने शिक्षित और मनीषी वर्ग से किसानों, मजदूरों के साथ सहयोग करते हुए नए समाज के निर्माणकार्य में सक्रिय भाग लेने का आग्रह लिया।

जहाँ तक सोवियत शासन की विदेश नीति का प्रश्न है, लेनिन के अविकल रूप से शांति बनाए रखने का निरंतर प्रयत्न किया। उसने कहा कि 'हमारी समस्त नीति और प्रचार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि चाहे कुछ भी हो जाए, हमारे देशवासियों को युद्ध की आग में न झोंका जाए। लड़ाई का खात्मा कर देने की ओर

ही हमें अग्रसर होना चाहिए।' उसने साम्यवाद के शत्रुओं से देश का बचाव करने के लिए प्रतिरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर बल दिया और सोवियत नागरिकों से आग्रह किया कि वे वास्तविक लोकतंत्र तथा समाजवाद के स्थापनार्थ विश्व के अन्य सभी देशों में रहनेवाले श्रमिकों के साथ अंतर्राष्ट्रीय बंधुत्व की भावना बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान दें।

लेनिन का क्रान्ति का सिद्धान्त

लेनिन ने एक चतुर शिष्य की भांति न केवल अपने गुरु मार्क्स का अनुकरण किया, बल्कि क्रान्ति के सिद्धान्त में उसने कुछ अपने तत्व भी जोड़े। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'दी स्टेट एण्ड दी रेवोल्यूशन' में क्रान्ति के बारे में विस्तार से विवेचन किया है। मार्क्स ने क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण कारण वर्ग-संघर्ष माना है क्योंकि यह वर्ग चेतना को जन्म देता है। वर्ग चेतना श्रमिकों में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न कर देती है कि वे वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा उखाड़ कर फेंक देते हैं। लेनिन ने इस विषय में कहा कि विश्व इस बात का गवाह है कि मजदूरों में केवल इतनी चेतना स्वयं उत्पन्न हो जाती है कि वे अपनी संस्थाएं और संगठन बना लें और सरकार तथा पूंजीपतियों से अपने लाभ के लिए कुछ सुविधाएं छीन लें या कानून पास करवा लें, परन्तु उन्हें समाजवादी क्रान्ति लाने के लिए बाहर से, अर्थात् किसी दल की सहायता लेनी पड़ेगी। समाजवादी क्रान्ति की सम्भावना को नहीं मानता। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग के पास शक्ति के संघर्ष में दल के अलावा कोई चारा नहीं है। सर्वहारा वर्ग को उनकी अत्यन्त गरीबी के दल ही उभारकर एक विचारधारा में बांध सकता है।

साम्यवादी विचारधारा के जनक कार्ल मार्क्स किसानों को पिछड़ा हुआ समझते थे। मार्क्स ने मजदूरों को ही क्रान्ति का पुरोधा समझा था। इसके विपरीत सोवियत रूस के निर्माता लेनिन का मत था कि मजदूर वर्ग को समाज में क्रान्ति लाने हेतु एक सहायक को ढूंढना होगा। यह सहायक कृषक है। वह किसानों की सहायता लेने के पक्ष में था। अतः साम्यवादी दल ही तालमेल बैठा कर क्रान्ति सम्भव बना देगा।

क्रान्ति के समय और स्थान को लेकर लेनिन व मार्क्स में मतभेद था। मार्क्स का विचार था कि जहां पूंजीवाद का विकास हो चुका है, वहां क्रान्ति पहले होगी और पिछड़े हुए देशों में बाद में होगी।

लेनिन प्रारम्भ में मार्क्स के इस विचार से सहमत था, लेकिन बाद में उसके

विचार बदल गए। उसके अनुसार किसी भी देश में पूंजीवाद के पूर्ण विकास की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है और यह क्रान्ति किसी भी पिछड़े देश में हो सकती है। लेनिन के क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वर्ग चेतना युक्त नेतृत्व वाले दल होते हैं, जिनमें सर्वहारा के अग्रिम दस्ते के रूप में कार्य करने की क्षमता हो। इसी अग्रिम दस्ते द्वारा क्रान्ति की जाती है इन्हें क्रान्ति के लिए प्रशिक्षण देना पड़ेगा अतः लेनिन संख्या की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व देता है अर्थात् क्रान्ति के लिए क्रान्तिकारी व पेशेवर लोगों का एक दल के रूप में संगठित होना अनिवार्य है।

1. क्रान्ति के लिए पेशेवर क्रान्तिकारियों की आवश्यकता होती है।
2. क्रान्ति के कुछ नियम हैं।
3. क्रान्ति का आधार व्यापक हो, जिसमें श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों से सम्बन्धित लोग भी हों।
4. क्रान्ति में किसानों को भी साथ लिया जा सकता है।
5. क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक संगठित दल की आवश्यकता होती है।

लेनिन का मार्क्सवाद को अनुदान

मार्क्सवाद के प्रति लेनिन के अनुदान का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है—

(1) **लेनिन का दल सम्बन्धी सिद्धान्त** & मार्क्स को अपने समय की विचारधारा के अनुसार व्यक्ति की स्वयं के सम्बन्ध में सोचने की क्षमता में विश्वास था और इसीलिए उसका विचार था कि आर्थिक अस्तित्व के लिए होने वाले दिन-प्रतिदिन के संघर्ष की प्रक्रिया में श्रमिक वर्ग स्वयं ही वर्गीय चेतना के आधार पर क्रान्ति की दिशा में प्रवृत्त हो जायेगा। लेनिन के अनुसार मजदूर स्वतः समाजवादी नहीं हो जाते। उनमें क्रान्तिकारी चेतना स्वतः ही नहीं आ जाती, वरन् इस प्रकार की चेतना को जन्म देने के लिए बाहरी शक्ति की आवश्यकता होती है। लेनिन का मत था कि एक शक्तिशाली और स्फूर्ति दायक दल के बिना क्रान्ति लाना सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में क्रान्तिकारी समाजवादी चेतना प्रज्वलित करने तथा उन्हें क्रान्ति की ओर ले जाने के लिए बौद्धिक नेताओं का एक दल होना चाहिए। इस प्रकार के राजनीतिक दल की स्थापना कर यदि उनमें समाजवादी विचार और आदर्श नहीं फैलाये जायेंगे, तो इस बात का डर है कि वे

क्रान्ति विरोधी अवसरवादी नेताओं तथा दलों के चंगुल में फंस जायेंगे। लेनिन ने एक स्थल पर लिखा है।

हमने कहा था कि मजदूर लोग अब तक इस योग्य नहीं हैं कि उनमें समाजवादी चेतना उत्पन्न हो सके। उनके अन्दर यह चेतना केवल बाहर से लायी जा सकती है। सभी देशों के इतिहास उत्पन्न हो सके। उनके अन्दर यह चेतना केवल बाहर से लायी जा सकती है। समस्त देशों के इतिहास का बारीकी से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि श्रमिक वर्ग केवल अपने अथक प्रयत्नों से श्रमिक वर्ग में श्रमिक चेतना या जागृति ही ला सकता है, जिसे समाजवादी धारा देने हेतु संगठित बौद्धिक दल की नितान्त आवश्यकता है।

लेनिन इस संगठित दल को सर्वहारा क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है, क्योंकि समाजवादी विचारों का प्रचार और समाजवादी क्रान्ति इस दल द्वारा ही सम्भव है। दल के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है कि साम्यवादी दल मजदूर वर्ग का ही एक भाग है। उसका सर्वाधिक प्रगतिशील, उसका सर्वाधिक वर्ग जागरूक और सर्वाधिक क्रान्तिकारी भाग साम्यवादी दल का निर्माण उत्तम, अत्यधिक बलिदानी और दूरदर्शी मजदूरों के द्वारा किया जायेगा।

साम्यवादी दल राजनीतिक संगठन का आधार है, जिसकी सहायता से श्रमिकों का अपेक्षाकृत प्रगतिशील अंश समस्त सर्वहारा वर्ग और अर्थ-सर्वहारा वर्ग को सही निर्देशन देता है। इक्न्सटीन ने लिखा है कि लेनिन का दल सम्बन्धी सिद्धान्त मार्क्सवादी विचारधारा को उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है।

(2) सर्वहारा क्रान्ति का नवीन सिद्धान्त & सर्वहारा की क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्सवाद के तीन मुख्य सिद्धान्त थे

1. क्रान्ति सबसे पहले उन देशों में होगी, जहां पूंजीवादी अपने चरम विकास को प्राप्त कर चुका हो अर्थात् जहां औद्योगिक विकास का कार्य पूरा हो चुका है।
2. क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जबकि वह एक साथ अथवा कम से कम अधिकांश पूंजीवादी देशों में हो।
3. जो देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उनमें पहले पूंजीवादी क्रान्ति होगी और पूंजीवादी का चरम विकास हो जाने पर ही साम्यवादी क्रान्ति होगी। 1997 में रूस में जो क्रान्ति हुई उसमें इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं हुई थी। यही कारण था कि पश्चिमी यूरोप के अनेक मार्क्सवादी नेताओं ने इसकी आलोचना करते हुए इसे मार्क्स के सिद्धान्तों के विरुद्ध बतलाया। इसके विपरीत, लेनिन ने सोवियत क्रान्ति को मार्क्स के सिद्धान्तों की विजय बताया।

लेनिन ने इस बात का प्रतिपादन किया कि आज सारे संसार की एक अर्थव्यवस्था हो गयी है, इसीलिए जब हम क्रान्ति के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमारे द्वारा उस विशेष देश की आर्थिक स्थिति को नहीं, वरन् विश्व के सब अथवा अधिकांश देशों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। अब सर्वहारा की क्रान्ति किसी एक देश के आन्तरिक विकास का परिणाम नहीं, वरन् सम्पूर्ण साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्विरोधों का परिणाम होता है। इस परिस्थितिवश साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की शृंखला जहां सर्वाधिक कमजोर होती है, उसे वहीं पर खंडित किया जा सकता है। 1917 में अन्य देशों की तुलना में सोवियत रूस की स्थिति कमजोर थी, अतः वहां पर क्रान्ति सम्भव हो सकी। लेनिन की धारणा के अनुसार भविष्य में भी क्रान्ति अन्य विकसित देशों की तुलना में भारत, चीन, आदि देशों में पहले हो सकती है। इसी प्रकार लेनिन ने इस बात को भी स्वीकार नहीं किया कि पूंजीवादी क्रान्ति के लम्बे समय के बाद ही साम्यवादी क्रान्ति हो सकती है। उसने इस बात का भी प्रतिपादन किया कि सामान्यतया क्रान्ति राष्ट्रव्यापी संकट के बिना असम्भव होती है।

क्रान्ति के सम्बन्ध में लेनिन ने मार्क्स के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की अवहेलना की। मार्क्स केवल श्रमिकों को ही क्रान्तिकारी वर्ग मानता था लेनिन ने अपने देश की सर्वहारा क्रान्ति में कृषकों से भी महत्त्वपूर्ण रूप से सहायता ली। इस प्रकार लेनिन ने मार्क्स के सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त को सोवियत क्रान्ति की परिस्थितियों के अनुसार नवीन रूप प्रदान किया।

(3) साम्यवादी दल के अधिनायकत्व का विचार—मार्क्स के द्वारा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की जिस धारणा का प्रतिपादन किया गया था। लेनिन के द्वारा उसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए उसे नवीन रूप प्रदान कर दिया गया। क्रान्ति के बाद मार्क्स मजदूर वर्ग की अधिनायकता की जो बात करता है, वह अधिनायकता किसी एक विशेष राजनीतिक दल की नहीं, वरन् समस्त श्रमिक वर्ग की है। अधिनायकता किसी एक विशेष राजनीतिक दल की नहीं वरन् समस्त श्रमिक वर्ग की है। यद्यपि मार्क्स के द्वारा अधिनायकता शब्द का प्रयोग किया गया है, लेकिन उसकी विवेचना से स्पष्ट है कि वह उसे लोकतन्त्रात्मक रूप प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में साम्यवादी वर्ग को शासक वर्ग बनाना तथा लोकतन्त्र स्थापित करना होगा। लेकिन मानता है कि श्रमिक वर्ग के द्वारा अपने ही नेतृत्व में न तो क्रान्ति की जा सकती है और न क्रान्ति के बाद शासन पर नियन्त्रण रखने तथा उसे ठीक दिशा में संचालित करने का कार्य किया जा सकता है। यह कार्य तो उन

थोड़े से बुद्धिमान साम्यवादी दल के नेताओं के द्वारा ही किया जा सकता है, जो श्रमिक संगठनों के संचालक होंगे और उनके द्वारा यह कार्य अधिनायकता स्थापित करके ही किया जा सकता है। इस प्रकार लेनिन ने कार्ल मार्क्स के सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद को साम्यवादी दल के अधिनायकवाद के रूप में परिणित कर दिया है। इसी कारण ट्राट्स्की ने लेनिन के पार्टी सम्बन्धी विचार की आलोचना करते हुए कहा था कि इसके द्वारा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के स्थान पर सर्वहारा वर्ग पर अधिनायकता स्थापित की गयी थी।

(4) पूंजीवादी व साम्यवादी राज्यों के सह-अस्तित्व की असम्भावना & मार्क्स ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि पूंजीवाद के अन्त और वर्गहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य के अस्तित्व का अन्त हो जायेगा। लेनिन ने राज्य के विलीनीकरण से सम्बन्धित इस विचारधारा में एक संशोधन किया। लेनिन ने कहा कि विश्व के अन्य पूंजीवादी देशों के अस्तित्व से साम्यवाद के अस्तित्व को खतरा है। अतः साम्यवादी व्यवस्था में राज्य का विलीनीकरण होने के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण विश्व में पूंजीवाद का अन्त होकर साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जाये। स्वयं लेनिन के शब्दों में साम्यवादी राज्यों के साथ-साथ सोवियत गणतन्त्र का अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहे, इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनमें से एक को अन्त में विजयी होना है और इससे पूर्व कि वह अन्त आये, सोवियत गणतन्त्र और मध्यम वर्ग द्वारा शासित राज्यों में भयंकर संघर्षों की शृंखला अवश्यम्भावी है। मार्क्स के दर्शन में साम्यवादी तथा पूंजीवादी राज्यों के सह-अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही गयी है, लेकिन लेनिन इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच युद्ध की अवश्य भावना का विचार व्यक्त करता है। लेनिन ने अपने इस प्रकार के विचार के आधार पर एक प्रकार से यह स्पष्ट कर दिया कि राज्य के विलीनीकरण की बात व्यावहारिक रूप प्राप्त कर सकेगी, इसमें सन्देह है।

(5) लेनिन का साम्राज्यवाद सम्बन्धी सिद्धान्त & लेनिन के पूर्व मार्क्सवाद के आलोचकों, विशेषतया वर्नस्टाइन ने यह प्रतिपादित किया था कि पूंजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स द्वारा की गयी अधिकांश भविष्यवाणियां भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई हैं। यूरोप के पूंजीवादी देशों में मजदूर वर्ग की स्थिति खराब होने के स्थान पर सुधरी है और वर्ग संघर्ष की भावना भी उग्र नहीं हुई है। इन आलोचनाओं से मार्क्सवाद की रक्षा के लिए लेनिन ने 1916 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था लिखी।

लेनिन ने अपनी इस पुस्तक में मार्क्सवाद पर किये गये आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा है कि ब्रिटेन और फ्रांस, आदि पूंजीवादी देशों में मजदूरों की स्थिति इसलिए खराब नहीं हो रही है कि इन देशों के साम्राज्यों ने इन देशों के मजदूरों को निर्धन और बुरी अवस्था में होने से बचाया हुआ है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश द्वारा ब्रिटिश मजदूरों का नहीं वरन् भारतीय मजदूरों का शोषण किया जा रहा है। ब्रिटेन का सर्वहारा वर्ग ब्रिटिश मजदूर नहीं, वरन् भारतीय मजदूर और किसान है। लेनिन के अनुसार मार्क्स के सिद्धान्त सत्य है, केवल साम्राज्यवाद की एक विशेष स्थिति जिसके सम्बन्ध में मार्क्स के द्वारा नहीं सोचा गया था के कारण उनका रूप परिवर्तित हो गया है।

(6) पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन पश्चिमी जगत के साम्यवादी राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ और विचारक स्वतंत्रता, समानता और राष्ट्रीयता की बात करते थे, लेकिन विश्व बंधुत्व की बात भूल जाते थे। पश्चिमी विचारक सिर्फ यूरोपीय नागरिकों के हितों की बात करते थे। कार्ल मार्क्स भी इसका अपवाद नहीं था। एशिया तथा अफ्रीका की उत्पीड़ित जातियों के सम्बन्ध में उनका कहना था कि उनका कल्याण साम्राज्यवादी शासन के अधीन रहने में ही है। मार्क्स का विचार था कि साम्यवाद की स्थापना पूंजीवाद के चरम विकास के बाद ही हो सकती है, इसलिए उसके द्वारा भी साम्राज्यवाद का विरोध नहीं किया गया।

लेनिन ने इस प्रकार के विचारों का खण्डन किया और कहा कि एशिया तथा अफ्रीका की उत्पीड़ित जातियों को भी आत्मनिर्णय और स्वतन्त्रता का पूर्ण अधिकार है। उसने बताया कि उपनिवेशों की उत्पीड़ित जातियों का स्वतन्त्रता आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का ही एक अंग है और इन उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करना यूरोप के समाजवादियों का पवित्र कर्तव्य है। यूरोप में श्रमिकों तथा उपनिवेशों की शोषित जनता के हित समान हैं, अतः उन दोनों को मिलकर साम्राज्य के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। लेनिन स्वैच्छिक आधार पर विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग के पक्ष में था और उसका कथन था कि सभी राष्ट्रों के स्वतन्त्र होने पर ही इस प्रकार के सहयोग व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना सम्भव हो सकती है।

लेनिन ने साम्राज्य विषयक सिद्धान्त को विश्लेषित करते हुए कहा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अंतिम चरण या चरमोत्कर्ष है एवं साम्राज्यवाद की परिणति युद्ध में होती है।

लेनिन पुराने साम्राज्यवाद को वंशगत मानता है और आधुनिक साम्राज्यवाद को आर्थिक लेनिन मार्क्स के इस विचार से पूर्णतया सहमत है कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ पूंजी का अधिक से अधिक केन्द्रीकरण होने लगता है। बड़े पूंजीपति बड़ी मछलियों के समान छोटे पूंजीपतियों को निगल जाते हैं। व्यापारिक केन्द्र पर जो अधिक पूंजी वाला व्यक्ति होता है, वह प्रथम तो आर्थिक प्रतियोगिता में दुर्बल पूंजीपतियों का अन्त कर देता है। व्यापारिक केन्द्र पर जो अधिक पूंजी वाला व्यक्ति होता है, वह प्रथम तो आर्थिक प्रतियोगिता में दुर्बल पूंजीपतियों का अन्त कर देता है, फिर वह उन वस्तुओं के उत्पादन के सम्बन्ध में एकाधिकार प्राप्त कर लेता है और जनता से मनमाना मूल्य वसूल करने लगता है, अविकसित देशों में यह बात विशेष रूप से देखी जा सकती है और यही पूंजीवाद की एकाधिकारी स्थिति कहलाती है।

अविकसित राज्यों तथा उपनिवेशों में पूंजी लगाने वाले व्यक्ति सस्ते से सस्ते मूल्य पर कच्चा माल खरीदना चाहते हैं और इस उद्देश्य से संघ अथवा कार्टेल भी बना लेते हैं। अविकसित क्षेत्र में अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए ये उद्योगपति अपना एक प्रभाव क्षेत्र भी स्थापित कर लेते हैं। मुनरो नीति तथा डालर साम्राज्यवाद इसके उदाहरण हैं। उद्योगपतियों का व्यापारिक केन्द्रों पर यही पूर्ण अधिकार कालान्तर में साम्राज्यवाद में परिणित हो जाता है। इसी आधार पर लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अन्तिम चरण कहा है। स्वयं लेनिन के ही शब्दों में साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की यह अवस्था है जिसमें एकाधिकार और वित्तीय पूंजी सर्वोपरि प्रभाव प्राप्त कर लेते हैं। पूंजी का निर्यात एक बड़ा महत्त्व प्राप्त कर लेता है और अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट संसार का विभाजन प्रारम्भ कर देता है।

लेनिन का यह भी विचार है कि साम्राज्यवाद की परिणित युद्ध में होती है। उसके अनुसार दूसरे देशों में अपनी पूंजी लगी हुई होने के कारण पूंजीपति देशों में साम्राज्य स्थापित करने और उपनिवेश पाने के लिए प्रबल होड़ शुरू हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबन्दियां होने लगती हैं, विभिन्न शक्तियां अपने माल के लिए मण्डियां सुरक्षित रखने तथा इसके लिए विभिन्न प्रदेश पाने के लिए युद्ध प्रारम्भ कर देती हैं।

लेनिन एक महान व्यक्ति था और उसका इतिहास में महत्त्व क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के केवल प्रतिपादन की अपेक्षा उन्हें व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में है। सेबाइन के अनुसार लेनिन का मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की दृढ़तम एवं कट्टर स्वीकृति होने के साथ-साथ परिस्थितियों के अनुसार इन सिद्धान्तों की स्वतन्त्रतम बदली हुई व्याख्या है।

स्टालिन 1879-1953

1924 में लेनिन के निधन के पश्चात् लेनिन के दो प्रमुख अनुयायियों स्टालिन और ट्राट्स्की में सत्ता प्राप्ति हेतु संघर्ष हुआ। स्टालिन तथा ट्राट्स्की का संघर्ष व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों ही था। अन्तिम रूप में यह सत्ता का संघर्ष था इस संघर्ष में स्टालिन ने ट्राट्स्की को पराजित कर रूस की शासन सत्ता पर एकछत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया। लेनिन के समान ही स्टालिन ने भी साम्यवादी विचारधारा में अनेक परिवर्तन किये, जिनमें अग्रलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण है—

(1) आय की असमानता को स्वीकार करना साम्यवाद का एक प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विषमता को दूर करके समाज में समानता लाना था। मार्क्स ने इस पर बहुत बल दिया था। किन्तु स्टालिन ने मार्क्स के इस मौलिक सिद्धान्त पर बल देते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होने का अर्थ आय या वेतन की असमानता का पूर्ण अन्त हो जाना नहीं है। सबको समान वेतन से नहीं, वरन् सबको उचित वेतन व निवास की सुविधा से है। स्वयं स्टालिन के शब्दों में ऐसे समाजवाद से मार्क्सवाद पूर्णतया अपरिचित है, जिसमें प्रत्येक को समान वेतन मिले, समान मात्र में रोटी मिले और एक ही अन्य वस्तुएँ भी समान मात्रा में ही मिले।

यद्यपि आय की असमानता को स्वीकार करने के कारण स्टालिन के इस विचार को साम्यवाद विरोधी माना जाता है, किन्तु स्टालिन की स्वीकारोक्ति से साम्यवाद का रूप व्यावहारिक अवश्य ही हो जाता है।

(2) दलीय अधिनायकत्व के स्थान पर व्यक्तिगत अधिनायकत्व की स्थापना सत्ता प्राप्ति के संघर्ष में स्टालिन ने 1925 में ट्राट्स्की को, 1927 में जिनेवीव और कामिनेव को और फिर 1930 में रिबोब तथा तामशकी को पदच्युत कर दिया। इस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वियों का सफाया कर स्टालिन ने लेनिन द्वारा प्रतिपादित दलीय अधिनायकत्व के स्थान पर व्यक्तिगत अधिनायकत्व की स्थापना की। स्टालिन के इस व्यक्तिगत अधिनायकत्व के स्थान पर व्यक्तिगत जनता द्वारा स्टालिन की अपार स्तुति की गयी और उसे देवता का स्तर प्रदान कर दिया गया।

स्टालिन के समय में केन्द्रीकरण के सिद्धान्त को अत्यधिक सीमा तक ग्रहण किया गया। उसके काल में साधारणतया दल के भीतर भी विरोध या आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं था। निम्न स्तर के दलीय कर्मचारियों का एकमात्र कर्तव्य दलीय नेतृत्व की आज्ञा के अनुसार कार्य करना था। लेखक फेनसोड के शब्दों में,

निम्न स्तर के लोगों के एकमात्र कर्तव्य, आज्ञापालन और नेताओं का एकमात्र उत्तरदायित्व आदेश देना था। सर्वोच्च नेता स्टालिन को ईश्वर की भांति कभी गलती न करने वाला समझा गया था दल का राजनीतिक एकाधिकार कठोर अधिनायक की व्यक्तिगत सर्वोच्चता में परिणित कर दिया गया था।

(3) राज्य के विलीनीकरण के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण स्टालिन ने मार्क्सवाद लेनिनवाद में एक और महत्त्वपूर्ण संशोधन किया। मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन का विचार था कि साम्यवाद की स्थापना हो जाने पर राज्य स्वतः विलुप्त हो जायेगा। अतः स्टालिन के समय में ही साम्यवादी यह दावा करने लगे कि यहां पर वर्गों का उन्मूलन हो गया है और साम्यवाद की स्थापना हो गयी है। ऐसी स्थिति में स्टालिन से प्रश्न किया गया कि राज्य विलुप्त क्यों नहीं हो रहा है? स्टालिन ने उत्तर दिया कि हमारे द्वारा मार्क्स के सिद्धान्तों को वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए समझना होगा और वर्तमान समय में स्थिति यह है कि सोवियत रूस चारों ओर पूंजीवादी राष्ट्रों से घिरा हुआ है तथा इनसे इस समाजवादी देश को बड़े खतरे हैं। ऐसी स्थिति में हमें न केवल राज्य की, वरन् अत्यन्त शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता है। रूस में पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने पर भी यदि विश्व के अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्तियां नहीं होती है और साम्यवादी देश अपने प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया रखने वाले देशों से घिरा रहता है, तो साम्यवाद की अवस्था में भी राज्य कायम रहेगा। इस प्रकार स्टालिन के अनुसार राज्य का विलुप्त होना न केवल उस क्षेत्र की आन्तरिक स्थिति वरन् अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निर्भर करता है, और विश्व के सभी राज्यों द्वारा समाजवाद को अपना लिए जाने पर ही राज्य के विलुप्त होने की आशा की जा सकती है।

(4) एक देश में साम्यवाद से सिद्धान्त का प्रतिपादन स्टालिन साम्यवादी होने के साथ-साथ दृढ़ राष्ट्रवादी था और मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद को उसकी एक बहुत बड़ी देन एक देश में समाजवाद का सिद्धान्त है। स्टालिन का विचार था कि अन्य देशों में साम्यवाद के प्रसार का प्रयत्न करने के पूर्व सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था को दृढ़ किया जाना चाहिए और यदि ऐसा किया जा सके तो अन्य देश भी उससे प्रेरित होकर साम्यवाद को अपना लेंगे। स्टालिन का स्पष्ट मत था कि पूरी दुनिया में एक साथ कभी भी साम्यवादी क्रान्ति घटित नहीं हो सकती, क्योंकि व्यावहारिक रूप से ऐसा संभव ही नहीं है। साथ ही, सोवियत संघ में साम्यवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने हेतु आर्थिक स्थिति में सुधार लाना अति आवश्यक है।

स्टालिन का उपयुक्त विचार यही स्पष्ट करता है कि स्टालिन ट्राट्स्की आदि

अपने समय के अन्य साम्यवादियों की तुलना में अधिक यथार्थवादी था और उसने स्थिति को समझकर ही एक देश में साम्यवाद का मार्ग अपनाया। वस्तुतः स्टालिन ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को कभी भी नहीं छोड़ा। इस सम्बन्ध में उसने नवीन चालों को अपनाया तथा वह उनमें सदैव परिवर्तन करता रहा। उदाहरण के लिए 1928 में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के छोटे विश्व सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें उल्लेख था कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थापना विश्वव्यापी साम्यवादी की स्थापना करना है। ...जिसके अन्तर्गत समस्त मनुष्य जाति को सोवियत समाजवादी गणतन्त्रों के विश्व संघ में शामिल करना है, चूंकि रूस सर्वहारा तानाशाही और समाजवादी निर्माण का देश है इसलिए यह स्वाभाविक रूप से विश्व आन्दोलन का आधार या केन्द्र है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब परिस्थितियों स्टालिन और सोवियत रूस के अनुकूल हो गयीं, तब उसने प्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद के प्रसार का कार्य किया।

एक अधिनायक के रूप में स्टालिन के रक्तपातपूर्ण व्यवहार की चाहे कैसी ही आलोचना क्यों न की जाये, व्यावहारिक दृष्टि से स्टालिन समाजवाद के संस्थापकों में एक प्रधान स्थान रखता है। उसने विश्व के प्रथम साम्यवादी देश को सुदृढ़ और औद्योगिक तथा सैनिक दृष्टि से प्रबल शक्तिशाली बनाया।

खुश्चेव

5 मार्च, 1953 को स्टालिन की मृत्यु होने पर यद्यपि मालेन्कोव सोवियत रूस का प्रधानमंत्री बना, तथापि साम्यवादी दल का महामंत्री होने के कारण खुश्चेव ही इस समय रूस का वास्तविक भाग्य विधाता था। कुछ समय तक मालेन्कोव और बुल्गानिन के प्रधानमंत्री बने रहने के बाद खुश्चेव स्वयं ही प्रधानमंत्री बना और 15 अक्टूबर 1964 तक इस पद पर बना रहा। अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने के बाद खुश्चेव के द्वारा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन किये गये—

(1) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन—लेनिन के द्वारा अपनी विचारधारा के प्रतिपादन में पूंजीवादी व साम्यवादी व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच युद्ध की आवश्यक भावना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था, लेकिन खुश्चेव ने पूंजीवादी और साम्यवादी व्यवस्था वाले देशों के बीच शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की आवश्यकता और आशा का प्रतिपादन किया। खुश्चेव का विश्वास था कि साम्यवादी देश और पूंजीवादी देश दोनों साथ-साथ रह सकते हैं और यद्यपि अच्छे गुणों के कारण अन्त में साम्यवादी सिद्धान्तों व एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था

की जीत होगी, तथापि उसके लिए लड़ाई की कोई आवश्यकता नहीं है। खुश्चेव ने विश्व शान्ति सह अस्तित्व और निशस्त्रीकरण में अपना विश्वास प्रकट किया। स्वयं खुश्चेव के शब्दों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त अधिकाधिक मान्य हो रहा है और यह नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता भी नहीं है। हमारे सम्मुख केवल दो ही रास्ते हैं—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व या इतिहास का सबसे अधिक संहारकारी युद्ध।

(2) स्टालिनीकरण या सामूहिक नेतृत्व की धारणा का प्रतिपादन सोवियत रूस का नेतृत्व ग्रहण कर लेने के बाद खुश्चेव ने स्टालिन के वैयक्तिक अधिनायकत्व और व्यक्ति पूजा के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की। स्टालिन की आलोचना का कार्य खुश्चेव ने रूस के साम्यवादी दल के 20वें सम्मेलन में, फरवरी 1956 में एक गुप्त भाषण देकर किया, जो गुप्त न रह सका। खुश्चेव ने अपने भाषण में कहा कि मार्क्सवाद सदैव ही व्यक्ति पूजा का विरोधी रहा है, किन्तु स्टालिन ने अपने को देवता बनाने का प्रयत्न करके इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया। यह बड़ा अशिष्ट एवं उद्धत स्वभाव का व्यक्ति था जिसने लेनिन और उसकी पत्नी के साथ भी बुरा बर्ताव किया था। इसका प्रमाण देने के लिए उसने अब तक अप्रकाशित लेनिन की वसीयत को भी प्रकाशित कर दिया उसने स्टालिन की निर्दयता, निष्ठुरता, निरंकुशता, क्रूर दमन और कठोर अत्याचारों पर विस्तृत प्रकाश डाला।

स्टालिन की युद्ध विषयक नीति और दूसरी गलतियों पर रोशनी डालते हुए खुश्चेव ने भाषण के अन्त में व्यक्ति-पूजा के स्थान पर साम्यवादी दल के सामूहिक नेतृत्व का सिद्धान्त अपनाने पर बल दिया। यद्यपि व्यवहार में यह सिद्धान्त किस सीमा तक प्रयोग में लाया गया, यह एक विवाद का ही प्रश्न है।

कोसीगिन तथा ब्रेजनेव

15 अक्टूबर, 1964 को सोवियत रूस की सर्वोच्च सोवियत प्रेसीडियम के एक आदेश द्वारा खुश्चेव को प्रधानमंत्री पद से मुक्त कर दिया गया और उसके स्थान पर अलेक्सी कोसीगिन को नया प्रधानमंत्री तथा बाद में ब्रेजनेव को साम्यवादी दल का महामंत्री नियुक्त किया गया। लेकिन शासन सत्ता में किये गये इस परिवर्तन से सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था या वैदेशिक नीति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।

1 अक्टूबर, 1949 को चीन में साम्यवादी क्रान्ति सम्पन्न हुई। चीन की

इस साम्यवादी क्रान्ति और उसके बाद उसे शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए यदि किसी एक व्यक्ति को श्रेय दिया जा सकता है, तो वह माओत्से तुंग की है। किसान, योद्धा, कवि, चिन्तक और दार्शनिक माओ 40 वर्ष तक चीनी साम्यवादी दल के सर्वेसर्वा और 28 वर्ष तक चीन के सर्वोपरि नेता रहे और उनके द्वारा साम्यवाद के व्याख्याकार के रूप में भी विशेष ख्याति प्राप्त की गयी। माओ के साम्यवादी विचार उसकी दो कृतियों में मिलते हैं। साम्यवादी विचारधारा को माओ की महत्त्वपूर्ण देन निम्न है—

(1) श्रमिक विद्रोह के स्थान पर कृषक विद्रोह और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के स्थान पर जन साम्यवाद की धारणा—माक्स, लेनिन, आदि व्यक्तियों की साम्यवादी व्यवस्था श्रमिक वर्ग पर आधारित है, किन्तु माओ के नेतृत्व में चीन में जो साम्यवादी क्रान्ति हुई, उसमें श्रमिकों की तुलना में कृषकों के द्वारा अधिक प्रमुख भूमिका निभायी गयी और आज चीन के जन साम्यवाद में साम्यवादी पार्टी मास्को और पारम्परिक मार्क्सवाद के प्रति अन्धे भक्तिभाव के कारण मजदूर क्रान्ति के सपने देख रही है। माओ का निष्कर्ष था कि चीन में शक्ति का स्रोत और केन्द्र किसान है। चीन में क्रान्ति कैप्टन या शंघाई जैसे बड़े-बड़े शहरों में से नहीं, माओ की जन्मभूमि शाओ शान जैसे छोटे-छोटे गांवों से उभरेगी। आगे की घटनाओं ने सिद्ध किया कि माओ का विचार ठीक था। इस प्रकार चीन की साम्यवादी क्रान्ति को एक श्रमिक विद्रोह के स्थान पर कृषक विद्रोह कहा जा सकता है।

माओ के द्वारा इससे भी आगे बढ़कर 'जन साम्यवाद' की धारणा का प्रतिपादन किया गया। चीन में मध्यम वर्ग के लोगों और दूसरे देशभक्त वर्गों को भी साम्यवादी दल में शामिल होने दिया गया। माओ का साम्यवाद परम्परागत साम्यवाद से कितना भिन्न है, इसके प्रमाण में कहा जा सकता है कि सोवियत संविधान में तो सोवियत रूस को श्रमिकों तथा कृषकों का राज्य कहा गया है। लेकिन जनता के लोकतन्त्रीय अधिनायकतन्त्र नामक अपने लेख में माओत्से तुंग लिखते हैं कि चीन का नवीन लोकतन्त्र चार वर्गों श्रमिक, कृषक लघु बुर्जुआ तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ का सम्मिलित संगठन होगा। लघु बुर्जुआ तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ को साम्यवादी दर्शन में यह स्थान माओत्से तुंग के द्वारा ही प्रदान किया गया। इस प्रकार सर्वहारा वर्ग की प्रभुता के पुराने विचार को वर्गों के सहयोग की दिशा में संशोधित कर दिया गया और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के स्थान पर जन साम्यवाद की धारणा का प्रतिपादन किया गया।

(2) साम्यवाद और राष्ट्रवाद का मेल और साम्यवाद पर राष्ट्रवाद की प्रमुखता—माक्सवादी विचारधारा में राष्ट्रवाद को अस्वीकार किया गया है और कार्ल मार्क्स का विचार है कि मजदूरों का कोई देश नहीं होता किन्तु माओ यदि एक ओर साम्यवादी है तो दूसरी ओर उग्र राष्ट्रवादी भी और अनेक स्थानों पर उसके दर्शन तथा व्यवहार से उसके द्वारा साम्यवाद पर राष्ट्रवाद की प्रमुखता प्रदान की गयी है। चीन में किसानों और खेतिहरों को संगठित करने के लिए माओ को उनकी राष्ट्रवादी भावनाओं को उकसाना पड़ा। उनके मन में माक्सवाद और राष्ट्रवाद एक-दूसरे से गडुमडु हो चले थे इस बात को स्वयं माओ ने 1936 में अमरीकी पत्रकार एडगर स्नो के साथ बातचीत करते हुए स्वीकार किया था।

चीन की साम्यवादी क्रान्ति के विषय में एक प्रमुख तथ्य यह है कि माओत्से तुंग द्वारा शुरू की गयी चीनी क्रान्ति बिना किसी सक्रिय सोवियत सहायता के ही सफलीभूत हुई सोवियत रूस से सहायता प्राप्त होने की बात तो दूर रही, सोवियत रूस द्वारा संचालित कामिण्टर्न के द्वारा तो माओ की निन्दा में प्रस्ताव पारित पर कहा गया था कि माओ तात्स्कीवादी है। क्रान्ति के बाद भी माओ ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी एकता के नाम पर चीन के राष्ट्रीय हितों को समर्पित नहीं किया। माओ अन्त तक चीनी रहा अपनी भूमि, अपनी संस्कृति और अपनी परम्परा से सम्बद्ध। रूस-चीन के बीच चले सैद्धान्तिक शब्द युद्ध में माओ पर माक्सवाद के चीनीकरण के आरोप लगाये गये और ये आरोप पूर्णतया निराधार नहीं थे।

माओ की राष्ट्रवादिता का प्रमाण यह है कि माओवादी चीन ने परावलम्बन सोवियत रूस पर निर्भरता और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके नेतृत्व को स्वीकार करना की कीमत चुकाकर खुशहाली प्राप्त करने की कोशिश कभी भी नहीं की। उसने तीसरी दुनिया के विकासशील देशों के सामने एक नया विकल्प रखा, विदेशी सहायता को अस्वीकार कर, निचले दर्जे की कम जटिल टेक्नॉलोजी को अपनाकर न सही खुशहाली, गरीबी का समान वितरण कर लिए उसके द्वारा अपने ही मित्र देशों के साथ सीमा विवाद और पड़ोसी राज्यों के मामले में हस्तक्षेप का मार्ग अपनाया गया। चीन के ये कार्य माओ की उग्र राष्ट्रवादिता के प्रतीक ही रहे हैं, जिन्हें उचित नहीं कहा जा सकता।

सन् 1971 में अमरीका द्वारा चीन को मान्यता प्रदान करने के साथ ही चीन और अमरीका के सम्बन्धों में जो सुधार हुआ वह भी इस बात का प्रमाण है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन की विचारधारा राष्ट्रीय स्वार्थों से ही चालित होती है।

चीन का नेतृत्व करते हुए माओ के द्वारा सेना और नौकरशाही पर दल का प्रभुत्व और बल की प्रमुखता स्थापित की गयी। माओ के नेतृत्व करते हुए माओ के द्वारा सेना और नौकरशाही पर दल का प्रभुत्व और बल की प्रमुखता स्थापित की गयी। माओ के नेतृत्व में चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति इस दिशा में ही एक प्रयास था।

(3) युद्ध की अवश्यम्भावना का सिद्धान्त इसके अतिरिक्त माओ लेनिन के पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच युद्ध की अवश्यम्भावना के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है और सोवियत साम्यवाद की तरह सह-अस्तित्व की धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। जिस प्रकार कार्ल मार्क्स एक राज्य के अन्तर्गत पूंजीपति और सर्वहारावर्ग के संघर्ष में पूंजीवाद के अवश्यम्भावी पतन और साम्यवाद के आगमन की धारणा व्यक्त करता है, उसी प्रकार माओ का विचार है कि पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यों में युद्ध अवश्यम्भावी है और इस युद्ध में साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों की विजय पूर्ण निश्चित है। सर्वहारा वर्ग की माओत्सेतुंग एक ढपोरशंखी साम्यवादी था। दुहाई देने वाले माओ ने सर्वप्रथम तिब्बत आक्रमण कर उस पर कब्जा जमाया। साम्यवाद की युद्ध प्रियता का दूसरा परिचय 1962 में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने की घटना से प्राप्त किया जा सकता है।

हुआ कुओ फेंग और तेंग सियाओ पेंग

माओ की मृत्यु के बाद चीन में साम्यवादी दल के कट्टर पंथी और नरम या मध्यम मार्गी पक्ष के बीच सत्ता के लिए संघर्ष हुआ तथा इस सत्ता संघर्ष में हुआ कुओ फेंग के नेतृत्व में नरम या मध्यम मार्गी पक्ष की विजय हुई। 1985 के लगभग चीन की साम्यवादी व्यवस्था में सर्वोच्च शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में तेंग सियाओ पेंग का उदय हुआ। तेंग चीन के साम्यवादी दल या शासन में औपचारिक रूप में किसी पद पर आसीन नहीं थे, किन्तु चीन के सर्वशक्तिशाली व्यक्तित्व की स्थिति उन्हें ही प्राप्त थी। तेंग के नेतृत्व में चीन बाजार अर्थव्यवस्था तथा कुछ सीमा तक आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में उदारवाद की दिशा में आगे बढ़ रहा था लेकिन चीन में सत्ता पर साम्यवादी दल का एकाधिकार बना हुआ था तथा नेतृत्व आगे भी इस स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में था।

गोर्बाचोव और सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन
: खुले समाज और प्रतियोगी राजनीति की दिशा में बढ़ते कदम & लेनिन, स्टालिन, खुश्चेव और माओ आदि ने कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में कुछ

परिवर्तन किये, लेकिन इस व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन लाने का कार्य 1986-90 के काल में गोर्बाचोव और उनके उदारवादी नेतृत्व द्वारा ही किया गया। मिखाइल गोर्बाचोव ने पेरेस्ट्रेइका (पुनर्संरचना) और ग्लासनास्ट (खुलापन) का नया नारा सोवियत संघ को दिया। बहुलवाद के आधार पर साम्यवादी शासन पद्धति में आधारभूत बदलाव के प्रयास किए।

गोर्बाचोव के नेतृत्व में सोवियत रूस में पहले तो 1989 में संसदीय चुनावों में एक दल, लेकिन एक स्थान के लिए एक से अधिक प्रत्याशी की स्थिति को अपनाया गया तथा इसके बाद 13 मार्च, 1990 को एक प्रस्ताव द्वारा सत्ता पर साम्यवादी दल के एकाधिकार को समाप्त कर प्रतियोगी दलीय व्यवस्था को अपनाने की घोषणा की गई। इसके साथ ही साम्यवादी दल की कार्यप्रणाली में लोकतान्त्रिक तौर तरीकों को अपनाया गया तथा इसके बाद 13 मार्च, 1990 को एक प्रस्ताव द्वारा सत्ता पर साम्यवादी दल के एकाधिकार को समाप्त कर प्रतियोगी दलीय व्यवस्था को अपनाने की घोषणा की गई। इसके साथ ही साम्यवादी दल की कार्यप्रणाली में लोकतान्त्रिक तौर तरीकों को अपनाया गया और आर्थिक क्षेत्र में निजीकरण तथा आंशिक रूप से प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की दिशा में कदम बढ़ाये गये।

सोवियत संघ में लम्बे समय(70) तक साम्यवादी शासन रहने के कारण अक्षमता और भ्रष्ट शासन तंत्र का बोलबाला हो गया था। बदलते समय के साथ एकाधिकारवादी शासन तंत्र की खामियां उजागर होने लगी थीं। पुनःसंरचना तथा खुलेपन ने सोवियत संघ की जनता को भारी चेतना से भर दिया तथा उसमें अपनी व्यवस्था के प्रति असंतोष का भाव अधिक उग्र हो गया। इस घटनाचक्र ने एक साथ दो स्थितियों को जन्म दिया। प्रथम, एक ही सोवियत संघ के स्थान पर 15 स्वतन्त्र गणराज्यों और पूर्वी यूरोप के राज्यों में साम्यवाद का अन्त हो गया। इस प्रकार साम्यवाद के साथ खुले समाज और प्रतियोगी राजनीति को अपनाने के इस प्रयोग में सफलता नहीं मिली। लेकिन गोर्बाचोव ने साम्यवाद और उदारवाद के बीच समन्वय का जो संदेश दिया था, वह भविष्य के लिए एक लक्ष्य और एक दिशा अवश्य ही हो सकती है।

साम्यवाद की आलोचना

साम्यवाद का मूल स्रोत मार्क्सवाद ही है, इसलिए मार्क्सवाद के जो प्रमुख सिद्धान्त हैं, वे ही साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त हैं और मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा जाता है, वह साम्यवाद पर भी लागू होता है। लेकिन बदलती हुई

परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढालने की प्रक्रिया में साम्यवाद कुछ और भी बदल गया है। साम्यवाद की आलोचना करते हुए कुछ अतिरिक्त बातें भी कही जा सकती हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. मार्क्स की विचारधारा के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स को विचार-स्वातन्त्र्य से बड़ा प्रेम था। उसके द्वारा विचार-स्वातन्त्र्य के लिए ही तो इतने कष्ट सहन किये गये थे, लेकिन वर्तमान समय का साम्यवादी राज्य पूर्ण सर्वाधिकारवादी राज्य है। साम्यवादी राष्ट्रों में सरकार सम्पूर्ण जीवन को अपने ढंग से नियंत्रित और संचालित करती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी लोकतांत्रिक देशों की भाँति साम्यवादी सरकार द्वारा नहीं दिया जाता है। चीन में स्वतंत्रता की मांग करने वाले हजारों छात्रों को 1989 में गोलियों से भून दिया गया था। धार्मिक सम्प्रदाय फालून गोंग को भी नृशंसतापूर्ण तरीके से अपने धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करने से रोका गया। साम्यवादी राष्ट्रों में कला, विज्ञान और साहित्य को भी नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के राज्य आर्थिक समृद्धि प्रदान कर सकते हैं और व्यवहार में कुछ सीमा तक ऐसा हुआ भी है, किन्तु ये राज्य और इनकी सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएँ मानवीय जीवन के सम्पूर्ण विकास में सहायक नहीं हो सकती। रसल का कहना है कि फासीवाद के अतिरिक्त और कोई व्यवस्था मूल स्वतन्त्रता को इतना नहीं कुचलती जितना कि साम्यवाद।
2. यद्यपि मार्क्स के द्वारा सशस्त्र क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का समर्थन किया गया था, किन्तु रचनाओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्तरिम काल की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण लोकतान्त्रिक था। उसका विश्वास था कि क्रान्ति के बाद बहुसंख्यक मजदूर वर्ग का शासन होगा, किन्तु लेनिन के द्वारा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के स्थान पर साम्यवादी दल का अधिनायकवाद स्थापित किया गया। साम्यवादी देशों में स्थापित इस अधिनायकवाद में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति साम्यवादी दल के नेताओं के हाथ में है और वे सर्वहारा वर्ग के नाम पर निरंकुश ढंग से शासन चलाते हैं। इस प्रकार मार्क्स के सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के स्थान पर सर्वहारा वर्ग पर साम्यवादी दल का अधिनायकवाद स्थापित हो गया है। सामान्यतः साम्यवादी दल का यह अधिनायकवाद व्यक्तिगत अधिनायकवाद में परिणित हो जाता है और इतिहास में वर्णित निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं तथा इसमें कोई अन्तर नहीं रहता। साम्यवाद की

एक यह ऐसी दोषपूर्ण व्यवस्था है, जिसके सम्बन्ध में मार्क्स के द्वारा सम्भवतः सोचा ही नहीं गया था।

यूगोस्लाविया के विद्रोही साम्यवादी नेता एवं विचारक मिलोवन जिलास ने साम्यवादी राज्य को दलीय राज्य की संज्ञा दी है। उनके शब्दों में, साम्यवादी शक्ति मन्त्र बिल्कुल साधारण है जो शूद्र निरंकुशता तथा अत्यन्त क्रूर शोषण की ओर अग्रसर करता है। इस शक्ति मन्त्र का अभ्युदय इस तथ्य से होता है कि सिर्फ एक ही दल, साम्यवादी दल, समस्त राजनीतिक आर्थिक और सैद्धान्तिक गतिविधियों का मूल आधार है। समस्त सार्वजनिक जीवन का एक स्थान पर बना रहना आगे बढ़ना पीछे जाना या मुड़ना यह सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि दल में क्या हो रहा है।

साम्यवादी दल के सदस्यों का महत्त्व एवं शक्तियों की व्याख्या करते हुए मिलोवन ठीक ही कहते हैं कि इससे एक नवीन वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है। इसे ही मुनरो ने राज्य का कुलीन वर्ग कहा है।

3. साम्यवादी विचारधारा और व्यवस्था सामान्यतया शुद्ध-प्रिय भी रही है। सिद्धान्त में साम्यवादी जगत के नेता कभी युद्ध की सम्भावना और कभी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करते हैं, किन्तु जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, अपने स्वार्थों और साम्यवाद के प्रसार के लिए जब कभी अवसर मिले, वे युद्ध का उपाय अपनाने से नहीं चूकते। यद्यपि तथाकथित पूंजीवादी लोकतन्त्रीय राज्यों को भी शान्तिप्रियता का प्रमाण-पत्र नहीं दिया जा सकता, लेकिन साम्यवादी व्यवस्था अधिनायकवादी होने के कारण स्वभाव से ही कुछ अधिक युद्धप्रिय है। चीनी साम्यवाद में तो यह बात विशेष तौर पर देखी जा सकती है। साम्यवाद की यह युद्धप्रियता मानव जाति के लिए अत्यधिक भयावह है। प्रो. कैर्यू हण्ट तो साम्यवाद को विश्व की सबसे बड़ी विध्वंसक शक्ति कहते हैं।

साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप से दोषपूर्ण है और उसके स्थान पर विकासवादी या प्रजातान्त्रिक साम्यवाद का मार्ग ही उपयुक्त है।

4. लेनिन, स्टालिन खुश्चेव और माओ सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे जो भी कहते थे, ऐसा देखा गया कि वे सामाजिक परिवर्तनों के लिए हिंसात्मक क्रान्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व देते थे, लेकिन हिंसा के मार्ग को अपनाने में भयंकर खतरे हैं। साम्यवाद द्वारा अपनायी गयी हिंसा और बल-प्रयोग की पद्धति को उचित नहीं कहा जा सकता।

समाजवाद तथा साम्यवाद

समाजवाद तथा साम्यवाद ये दोनों ही विचारधाराएं मानव मात्र की समानता विशेषता, आर्थिक समानता के विचार पर आधारित है और इसलिए प्रायः अनेक व्यक्तियों द्वारा इन्हें समान समझने की भूल की जाती है। यथार्थ में, ये दोनों विचारधाराएं एक-दूसरे से भिन्न हैं और उनके उद्देश्य कार्यक्षेत्र तथा पद्धति में बहुत अधिक अन्तर है। मार्क्स का मत था कि समाजवाद साम्यवाद की प्रथम सीढ़ी है। यह उसकी मंजिल के आये रास्ते पर है तथा साम्यवाद अपने उद्देश्यों में समाजवाद से कहीं अधिक उग्र तथा आगे है। वास्तविक स्थिति यह है कि समाजवाद के विभिन्न रूप हैं और इसीलिए यद्यपि सभी साम्यवादी समाजवादी हैं, किन्तु प्रत्येक समाजवादी अनिवार्यतः साम्यवादी नहीं होता भारत के द्वारा समाजवाद के मार्ग को अपनाया गया है, जो साम्यवाद के मार्ग से नितान्त भिन्न है।

इन दोनों विचारधाराओं में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर देखे जा सकते हैं—

(1) साम्यवाद उत्पादन वितरण तथा उपभोग तीनों पर सार्वजनिक स्वामित्व साम्यवाद उत्पादन, वितरण तथा उपभोग इन तीनों ही साधनों पर समान सार्वजनिक स्वामित्व की मांग करता है। साम्यवाद चाहता है कि लोग मिल-जुलकर सरकारी ढंग से उत्पादन करें सामूहिक रूप से ही इसका उपभोग किया जाये। समाजवाद उत्पादन तथा वितरण के सम्बन्ध में तो समान स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, किन्तु साम्यवाद की तरह समान उपभोग नहीं चाहता।

(2) साम्यवाद एक क्रान्तिकारी किन्तु समाजवाद विकासवादी विचारधारा साम्यवाद तथा समाजवाद में सबसे अधिक प्रमुख भेद व्यवस्था में परिवर्तन करने के साधनों से सम्बन्धित है। साम्यवाद एक क्रान्तिकारी विचारधारा है, जिसका उद्देश्य हिंसात्मक साधनों के आधार पर तत्काल ही पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर देना है, किन्तु समाजवाद अपने मूल रूप में एक विकासवादी विचारधारा है, जो विकासवादी, प्रजातान्त्रिक और वैधानिक उपायों द्वारा धीरे-धीरे पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का उद्देश्य लेकर चलती है। इबन्सटीन की यह पंक्ति समाजवाद और साम्यवाद का अन्तर सुन्दर शब्दों में स्पष्ट करती है कि समाजवादी सत्ता गोलियों के स्थान पर मतपत्रों द्वारा करने के इच्छुक हैं।

(3) साम्यवाद वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है, समाजवाद वर्ग सहयोग में साम्यवाद वर्ग संघर्ष की धारणा में विश्वास करता है, और उसका विचार है कि वर्ग संघर्ष को अधिकाधिक तीव्र करके ही पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त किया जा सकता है, किन्तु समाजवाद वर्ग संघर्ष नहीं वरन् वर्गीय सहयोग की धारणा में विश्वास करता है और उसका विचार है कि पूंजी और श्रम उत्पादन व्यवस्था रूपी रथ के दो पहिये हैं, जिनमें पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही उत्पादन का कार्य भली-भांति सम्भव है।

(4) साम्यवाद एक वर्गीय विचारधारा, समाजवाद वर्गीय विचारधारा नहीं साम्यवाद का विचार है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में दो नितान्त विरोधी वर्ग होते हैं बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग। साम्यवाद के अन्तर्गत केवल सर्वहारा वर्ग मजदूर और कृषक वर्ग को ही अपील कर तथा उसे संगठित कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु समाजवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल मजदूरों से ही अपील नहीं करता वरन् उसके द्वारा समाज के अन्य वर्गों जैसे, माध्यम वर्ग, वेतन प्राप्तकर्ता लोग तथा अन्य छोटे-छोटे बुर्जुआ आदि से भी अपील की जाती है। साम्यवाद का लक्ष्य केवल सर्वहारा वर्ग का कल्याण करना है जबकि समाजवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण जनता का कल्याण करना है।

(5) साम्यवाद के अनुसार राज्य एक वर्गीय संगठन समाजवादियों के अनुसार एक कल्याणकारी संस्था है इन दोनों विचारधाराओं में राज्य के सम्बन्ध में भी आधारभूत अन्तर है। साम्यवाद राज्य को एक वर्गीय संस्था और शोषण का एक ऐसा यन्त्र मानता है, जिसकी सहायता से पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग का शोषण करता है। लेकिन समाजवादी राज्य को एक वर्गीय संगठन नहीं, वरन् कल्याणकारी संस्था मानते हैं, जिसका उद्देश्य सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। समाजवाद के अनुसार सरकार जनता की दुश्मन नहीं होकर जनता की मित्र है।

(6) साम्यवाद में वेतन आवश्यकतानुकूल समाजवाद में योग्यतानुकूल साम्यवादियों का आदर्श है कि प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य मिले और आवश्यकता के अनुसार वेतन। लेकिन समाजवाद आवश्यकतानुकूल वेतन को एक ऐसा आदर्श मानता है, जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, अतः उसकी धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य मिले और कार्य के अनुसार वेतन प्राप्त हो। इस प्रकार समाजवाद कुछ सीमा तक वेतन की असमानता को स्वीकार करता है, किन्तु साम्यवाद पारिश्रमिक के सम्बन्ध में पूर्ण समानता का प्रतिपादन करता है।

(7) साम्यवाद उत्पादन के समस्त साधनों पर पूर्ण सार्वजनिक स्वामित्व, किन्तु समाजवाद आवश्यकतानुसार सार्वजनिक स्वामित्व का समर्थक साम्यवादी उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्ण सार्वजनिक स्वामित्व के समर्थक हैं। साम्यवादियों का मत है कि पूंजीपतियों द्वारा अर्जित की गयी धन-सम्पत्ति समाज के प्रति उनके द्वारा की गयी चोरी है, जिसे छीनना पूर्णतया न्यायोचित है। अतः उनका कथन है कि पूंजीपतियों से उनकी सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए और इसके बदले में उन्हें कोई मुआवजा नहीं दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत समाजवादियों का विचार है कि उत्पादन के सभी साधनों पर एकदम और पूर्ण सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करने के बजाय इस सम्बन्ध में क्रमिक रूप से और आवश्यकतानुसार कार्य किया जाना चाहिए अर्थात् सामाजिक हित की दृष्टि से उत्पादन के जिन साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करना आवश्यक हो, उन पर ही सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित किया जाना चाहिए। साम्यवाद के लिए राष्ट्रीकरण या उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व अपने आप में एक साध्य है, समाजवाद के अनुसार यह सामाजिक हित के लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। इसके अतिरिक्त समाजवादियों का यह भी विचार है कि पूंजीपतियों, से जो सम्पत्ति ली जाए, साधारणतया उसके बदले में उन्हें मुआवजा दिया जाना चाहिए।

(8) साम्यवाद के अनुसार राज्य एक अस्थायी संस्था, समाजवाद के अनुसार स्थायी साम्यवाद राज्य को एक वर्गीय संस्था मानता है, इसलिए उसका विचार है कि पूर्ण समाजवाद की स्थापना हो जाने, अर्थात् वर्गहीन समाज के लक्ष्य को प्राप्त कर लिए जाने पर राज्य स्वतः विलुप्त हो जायेगा। इस प्रकार वह राज्य को एक अस्थायी संस्था मानता है। किन्तु समाजवाद विचार है कि राज्य संस्था मूल मानवीय प्रकृति के साथ जुड़ी हुई है और भविष्य की प्रत्येक अवस्था में इसका अस्तित्व बना रहेगा।

(9) साम्यवाद प्रजातन्त्र का आलोचक, समाजवाद समर्थक साम्यवाद एक सर्वाधिकारवादी विचारधारा है, जिसके द्वारा प्रजातन्त्र को निकम्मी व्यवस्था कहकर उसकी आलोचना की जाती है और प्रजातन्त्र के स्थान पर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का समर्थन किया जाता है, किन्तु समाजवाद राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र की उपयोगिता स्वीकार करता है और प्रजातन्त्र समाज में वांछित परिवर्तन लाने का प्रभावी साधन मानता है।

(10) साम्यवाद धर्म-विरोधी, समाजवाद नहीं साम्यवाद एक धर्म-विरोधी

विचारधारा है, जो धर्म को प्रगति के मार्ग में बाधक मानती है और धर्म को जनता के लिए अफीम बतलाती है, किन्तु समाजवाद एक धर्म-विरोधी विचारधारा नहीं है। किसी एक विशेष धर्म को स्वीकार न करते हुए भी समाजवाद मानवीय जीवन के लिए धर्म और नैतिकता के महत्त्व को स्वीकार करता है।

(11) साम्यवाद एक निश्चित दर्शन पर आधारित, समाजवाद अपेक्षाकृत अनिश्चित साम्यवाद एक निश्चित विचारधारा पर आधारित है और वह दर्शन है कार्ल मार्क्स तथा लेनिन की विचारधारा तथा स्टालिन खुश्चेव और माओ द्वारा उसमें किये गये संशोधन। समाजवाद एक अपेक्षाकृत अनिश्चित विचारधारा है, जिसके पास मार्क्स जैसा कोई एक सिद्धान्तशास्त्री और साम्यवादी घोषणा-पत्र जैसी कोई एक बाइबिल न होने के कारण विभिन्न देशों ने देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार उसकी अलग-अलग ढंग से व्याख्याएं कर ली गयी है।

इस तरह समाजवाद एवं साम्यवाद दोनों ही आर्थिक समानता की समाज में स्थापना करना चाहते हैं। आर्थिक समानता पर आधारित होने के बावजूद दोनों सर्वथा अलग विचारधाराएं और व्यवस्थाएं हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. इबन्सटीन ने बिलकुल ठीक ही लिखा है कि समाजवाद और साम्यवाद एक ही अवस्था के दो प्रकार नहीं, वरन् विचार और जीवन के दो मूलतः भिन्न मार्ग हैं जो एक-दूसरे से वैसे ही भिन्न और असंगत हैं जैसे उदारवाद और सर्वाधिकारवाद।

(12) साम्यवाद युद्ध के लिए तत्पर, किन्तु समाजवाद एक शान्तिपूर्ण विचारधारा साम्यवाद पूंजीवाद और साम्यवादी व्यवस्थाओं के बीच युद्ध की अवश्यक भावना प्रकट करता है और इसका षड्यन्त्र या क्रान्ति का निर्यात कर सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित कर देना है, किन्तु इसके विपरीत समाजवाद की सारी योजनाएं राष्ट्रीय स्तर पर ही हुआ करती है। समाजवाद एक ऐसी शान्तिपूर्ण और उदारवादी विचारधारा है, जो विरोधी विचारधाराओं और व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व में विश्वास करती है।

24

मैकडुगल

जीवन वृत्त

मैकडुगल जन्म से एक अंग्रेज थे जिन्होंने मनोविज्ञान के बारे में एक क्रमबद्ध विचारधारा विकसित किये। वे 1920 में लंदन छोड़कर अमेरिका चले गए। वे अपना आरंभिक मेडिकल प्रशिक्षण कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय तथा लंदन विश्वविद्यालय में प्राप्त किये। गौटिनजेन विश्वविद्यालय के जी० ई० मूलर से भी उनका सम्पर्क हुआ। 1899 तथा 1900 के बीच वे **कैम्ब्रिज एनथ्रोपोलॉजिकल एक्सपेडिसन** के सदस्य भी रहे। लंदन वापस होने पर उनकी नियुक्ति युनिवर्सिटी कॉलेज लंदन में उप्राचार्य के पद पर हुई जहाँ उन्होंने एक छोटा-सा मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला भी खोला। 1904-20 तक वे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में **'मेन्लट फिलोसॉफी'** में उप्राचार्य हुए। प्रथम विश्व युद्ध में वे ब्रिटिश मेडिकल कोरप्स में भी मनोवैज्ञानिक की हैसियत से कार्य किये। यहाँ वे विभिन्न तरह के मानसिक रोगियों के उपचार में सक्रिय योगदान किये। इन अनुभूतियों को आधार बनाकर 1926 में वे एक पुस्तक जिसका नाम **'आउटलाइन ऑफ एबनॉरमल साइकोलॉजी'** था, प्रकाशित किया। 1920 में वे अमेरिका के हावार्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्राचार्य के पद पर चले गये। इस पद पर एक समय विलियम जेम्स कार्यरत थे। ऐसे भी मैकडुगल के मन में विलियम जेम्स के प्रति काफी आदर एवं सम्मान था। उन्होंने यहीं अपने मन ऊर्जा मनोविज्ञान का क्रमबद्ध विकास किया परन्तु इस तथ्य से भी इनकार नहीं

किया जा सकता है कि अमेरिकन मनोवैज्ञानिकों ने उन्हें कभी भी मन से स्वीकृत नहीं किया। 1927 में वे ड्यूक विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष हुए और वे इसी पद पर मृत्यु तक 1938 तक कार्यरत रहे।

उन्होंने कुछ पुस्तकें भी लिखीं जिनमें प्रमुख हैं—**फिजियोलॉजिकल साइकोलॉज, बॉडी एण्ड माइन्ड, आउटलाइन ऑफ एबनॉरमल साइकोलॉजी, इंट्रोडक्सन टू सोसल साइकोलॉजी, साइकोलॉजी दी स्टडी ऑफ विहेबियर** तथा **आउटलाइन ऑफ साइकोलॉजी**। इन पुस्तकों में समाज मनोविज्ञान तथा असामान्य मनोविज्ञान की पुस्तकें अधिक लोकप्रिय हो पायीं।

मैकडुगल का योगदान

मनोविज्ञान के लिए मैकडुगल का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनके योगदानों को निम्नांकित पाँच भागों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है—

1. मनोविज्ञान की परिभाषा
2. आनुवंशिकता लामार्कियन प्रयोग
3. मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त
4. सामूहिक मस्तिष्क
5. मन-शरीर समस्या

इन सबों का वर्णन निम्नांकित है—

(1) मनोविज्ञान की परिभाषा अपने प्रथम पुस्तक **‘फिजियोलॉजिकल साइकोलॉजी’** जिसका प्रकाश 1905 में हुआ था, मैकडुगल ने ‘मनोविज्ञान को जीवित प्राणियों के व्यवहार का वस्तुपरक विज्ञान’ कहा है। व्यवहार से उनका तात्पर्य जीवित प्राणियों के क्रियाओं से था। इस तरह से हम यह कह सकते हैं कि जे. बी. वाटसन प्रथम ऐसे मनोवैज्ञानिक नहीं थे जिन्होंने मनोविज्ञान को व्यवहार के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया था। इतना ही नहीं, मैकडुगल ने इस बात पर भी बल डालने की कोशिश किया कि मानसिक प्रक्रिया कि मानसिक प्रक्रियाओं से जीवित प्राणियों में विशेष व्यवहार उत्पन्न होता है। इन मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन अन्तर्निरीक्षण विधि से भिन्न कोई विधि से अध्ययन किया जाना चाहिए। इन क्रियाओं से अन्ततोगत्वा प्राणी किसी-न-किसी लक्ष्य पर पहुँच जाने में समर्थ होता है।

(2) आनुवंशिकता : लामार्कियन प्रयोग मैकडुगल ने लामार्क के सिद्धान्त

को स्वीकार किये जिन्होंने यह दिखलाया था कि अर्जित गुणों या विशेषताओं का आनुवंशिक अंतरण होता है। दूसरे शब्दों में, प्राणी के अर्जित गुणों का जीन्स के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अपने आप अंतरण होता है। मैकडुगल को यह बात कतई स्वीकार नहीं था कि प्राणी के व्यवहारों की व्याख्या सीखी गयी अनुभूतियों के रूप में हो सकती है। अपने आनुवंशिक अंतरण के दावे को साबित करने के लिए मैकडुगल ने 1920 में एक विस्तृत प्रयोग किया। इस प्रयोग में वे चूहों के 24 पीढ़ियों को प्रशिक्षित किये और उनके परिणाम की व्याख्या किये। प्रत्येक पीढ़ी के चूहों को एक टैंक में रखकर प्रशिक्षित किया गया। टैंक से बाहर निकलने के दो रास्ते थे—तीव्र रोशनी वाला निकास तथा मन्द रोशनी वाला निकास। तीव्र रोशनी वाला निकास टैंक से बाहर निकालने का गलत निकास था मन्द रोशनी वाला निकास टैंक से बाहर निकालने का सही निकास था। फलस्वरूप, तीव्र रोशनी वाले निकास से बाहर निकलने पर चूहों को हल्का बिजली का आघात मिलता था। प्रत्येक पीढ़ी में कुल चूहों के आधे समूह को ही प्रशिक्षित किया जाता था। पूरा प्रयोग चूहों के 24 पीढ़ियों तक करीब दस साल तक चलता रहा। प्रत्येक पीढ़ी में चूहों द्वारा किये गए त्रुटियों का औसत निकाला गया। मैकडुगल ने अपने परिणाम में पाये कि अप्रशिक्षित समूह के चूहों (नियंत्रित समूह) द्वारा सभी पीढ़ियों में सही निकास से बाहर आने के पहले औसतन 125 त्रुटियाँ की गयी जबकि प्रशिक्षित समूह (प्रयोगात्मक समूह) द्वारा सभी पीढ़ियों में सही निकास से बाहर आने के पहले औसतन मात्र 25 त्रुटियाँ की गयी। इस परिणाम के आधार पर मैकडुगल ने लामार्क के सिद्धान्त को सही ठहराया तथा इसमें अपना विश्वास व्यक्त किया।

मैकडुगल के इस अध्ययन की आलोचना की गयी। आलोचना की मुख्य बिन्दु प्रयोग की विधि तथा **चयनात्मक प्रजनन प्रविधि** से सम्बन्धित थी। इस प्रयोग में प्रशिक्षित समूह के कुछ चूहे मर गये थे और उसके जगह पर समूह में नया चूहा को शामिल कर लिया गया था। जो प्रयोग की विधि के संदर्भ में अनुचित था। इन दोषों के कारण साहायिन ने मैकडुगल के इस प्रयोग को 'निष्फल प्रयास' कहा है। इसके बावजूद मैकडुगल के इस प्रयोगों को अन्य लोगों से समर्थन प्राप्त हुआ। उन्होंने बिल्लियों पर प्रयोग करके यह दिखला दिया है कि प्राणी का व्यवहार आनुवंशिकता से न कि वातावरण से निर्धारित होता है। हाल के वर्षों में भी मैकडुगल के विचारधारा को कुछ अध्ययनों में समर्थन प्राप्त हुआ है।

(3) मूलप्रवृत्ति का सिद्धांत—मैकडुगल का मत था कि प्राणी जब कोई

व्यवहार करता है, तो अन्त में उसे किसी-न-किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इस तरह के व्यवहार को **उद्देश्यपूर्ण व्यवहार** कहा जाता है। उन्होंने यह मत जाहिर किया कि ऐसे व्यवहारों के पीछे कुछ विशेष ऊर्जा होते हैं। उन्होंने इस ऊर्जा को **मूलप्रवृत्तिक ऊर्जा** कहा। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **‘इन्द्रोडक्सन टू साइकोलॉजी’** में वे मूलप्रवृत्ति से तात्पर्य एक ऐसे जन्मजात मनोदैहिक प्रवृत्ति से बतलाया है जो व्यक्ति को उद्दीपनों या वस्तुओं को विशेष ढंग से प्रत्यक्षण करने, उसपर ध्यान देने तथा उनकी माँग के अनुरूप व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। मैकडुगल ने मूलप्रवृत्ति को ऊर्जा का एक **‘मुक्ति प्रक्रम’** कहा है। इस तरह से मूलप्रवृत्ति अन्तःशक्ति ऊर्जा का एक संचयन है जो उत्तेजित होने पर विभिन्न मार्गों से होकर प्रवाहिता होता है।

मैकडुगल के लिए मूलप्रवृत्ति एक ऐसा बल है जो प्राणी को विभिन्न तरह व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। मूलप्रवृत्ति के मुख्य तीन पहलू होते हैं जो निम्नांकित हैं—

(i) संज्ञानात्मक या प्रत्यक्षणात्मक पहलू—इस पहलू या कार्य से तात्पर्य यह होता है कि व्यक्ति में कुछ विशेष तरह के उद्दीपनों को देखने की प्रवृत्ति होती है। जैसे—जब कोई व्यक्ति में कुछ विशेष तरह के उद्दीपनों को देखने की प्रवृत्ति होती है। जैसे—जब कोई व्यक्ति भूखा है, तो विशेष तरह के भोजन की ओर ध्यान देना या उसका प्रत्यक्षण करना संज्ञानात्मक पहलू का उदाहरण है।

(ii) क्रियात्मक या अभिप्रेरणात्मक पहलू—इससे तात्पर्य अन्तिम लक्ष्य की ओर पहुँचने की इच्छा से होता है। जैसे—किसी विशेष तरह के भोजन के पकाये जाने पर मिलने वाले सुगन्ध का प्रत्यक्षण करके भोजन को खाने की इच्छा व्यक्त करना क्रियात्मक या अभिप्रेरणात्मक पहलू का उदाहरण है।

(iii) भावात्मक या संवेगात्मक पहलू—यह मूलप्रवृत्ति का मुख्य पहलू होता है। इससे तात्पर्य मूलप्रवृत्ति में सम्मिलित भाव से होता है। जैसे—भागने के मूलप्रवृत्ति में डर का भाव सम्मिलित होता है।

मूलप्रवृत्ति के इन तीनों पहलू मिलकर एक मानसिक कार्य का निर्माण करते हैं। मैकडुगल का मत है कि मूलप्रवृत्ति का भावात्मक पक्ष जन्मजात होता है। फलस्वरूप सीखने की अनुभूति द्वारा इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। परन्तु मूलप्रवृत्ति के संज्ञानात्मक या प्रत्यक्षणात्मक पहलू में अनुभूति द्वारा परिवर्तन संभव है।

1908 में मैकडुगल ने मूलप्रवृत्ति के 12 मुख्य प्रकार बतलाया। 1932 में वे

इस सूची में संशोधन किये और उसे बढ़ाकर उसकी संख्या 17 कर दी। इस संशोधन में एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे 'मूलप्रवृत्ति' के जगह पर प्रवृत्ति या 'प्रवणता' पद का प्रयोग किये क्योंकि मूलप्रवृत्ति पद के उपयोग ने मनोवैज्ञानिकों के बीच कई वाद-विवाद खड़ा कर दिये थे। मूलप्रवृत्तियों की संख्या उनके अंतिम संशोधन में घटकर सात हो गई जिसे उन्होंने '**प्रधान मूलप्रवृत्ति**' कहा है। उन्होंने प्रत्येक ऐसे मूलप्रवृत्ति में एक विशेष 'संवेग' के होने की बात भी कही। वे सात 'मूलप्रवृत्ति' तथा उनमें सम्मिलित संवेग का वर्णन निम्नांकित है—

मूलप्रवृत्ति	संवेग
अस्वीकृति	विरक्ति
लड़ाई	क्रोध
आत्म-दृढ़कथन	खुशी
	धनात्मक भाव
उत्सुकता	आश्चर्य
मातृत्व-पितृत्व	स्नेही संवेग
आत्म-अपमान	अधीनीकरण
	नकारात्मक आत्म-भाव
पलायन	डर

मैकडुगल ने इन मूलप्रवृत्तियों को काफी महत्वपूर्ण इसलिए माना क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें व्यक्ति के सभी प्रमुख क्रियाओं का एक तरह से प्रेरणा प्रदान करनेवाला बल के रूप में स्वीकार किया गया। मैकडुगल ने इन मूलप्रवृत्तियों में परिमार्जन पर भी बल डाला है। इस तरह के परिमार्जन में एक ही वस्तु के प्रति कई तरह की मूलप्रवृत्तियों में परिमार्जन पर भी बल डाला है। इन तरह के परिमार्जन में एक ही वस्तु के प्रति कई तरह की मूलप्रवृत्तियाँ एक साथ संयोजित हो जाती हैं। इससे उत्पन्न अवस्था को मनोभाव कहा जाता है। जैसे—जब प्यार, आत्म-दृढ़कथन तथा कोमलता तीनों मूलप्रवृत्तियाँ आपस में मिल जाती हैं, तो इससे **सामाजिक मनोभाव** का भाव उत्पन्न होता है। उसी तरह से अपने पति के प्रति पत्नी के प्यार को मनोभाव की उत्पत्ति **यौन मूलप्रवृत्ति** तथा **मातृत्व मूलप्रवृत्ति** के मिलने से संभव है।

(4) **सामूहिक मस्तिष्क**—मैकडुगल द्वारा प्रतिपादित 'मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त' एक लोकप्रिय सिद्धान्त हैं परन्तु इसकी आलोचनाएँ भी काफी की गयी हैं।

व्यवहारवादियों द्वारा की गयी एक प्रमुख आलोचना यह है कि उनका यह सिद्धान्त समूह या भीड़ में लोगों के व्यवहार का अध्ययन करने में असमर्थ रहता है। मैकडुगल ने इस आलोचना का उत्तर देने के लिए एक विशेष संप्रत्यय जिसे 'सामूहिक मस्तिष्क' कहा जाता है, का प्रतिपादन किया। इनकी मशहूर पुस्तक 'दी ग्रुप माइंड' का प्रकाशन भी 1920 में हुआ। मैकडुगल के अनुसार सामूहिक मस्तिष्क वैयक्तिक मस्तिष्क के अन्तःक्रियात्मक भूमिका का परिणाम होता है। मैकडुगल ने समूह या भीड़ में व्यक्ति के होने वाले व्यवहार की व्याख्या इसी सामूहिक मस्तिष्क के रूप में किया है। सामूहिक मस्तिष्क प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग चिन्तन (मिस्तिष्क) से अलग तथा उसके ऊपर होता है। जिन व्यक्तियों द्वारा समूह का निर्माण होता है उनके वैयक्तिक विचार (मस्तिष्क) का आपस में अन्तःक्रिया होती है जिससे एक सामान्य विचार या सामूहिक मस्तिष्क का जन्म होता है। अब प्रश्न यहाँ यह उठता है कि वह कौन-सा कारक है जो वैयक्तिक मस्तिष्क को एक सूत्र में बांधता है जिससे सामूहिक मस्तिष्क की उत्पत्ति होती है। मैकडुगल इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहे हैं कि उस कारक को उत्पन्न संवेग की तीव्रता कहा जा सकता है। जैसे, छात्रों के एक ऐसे उत्तेजित भीड़ को लें जो सरकारी बस को जला रहा है। इस भीड़ में सभी छात्र सामूहिक मस्तिष्क से निर्देशित हो रहे हैं। इस उत्तेजित भीड़ में संवेग की तीव्रता का स्तर उस चोटी पर पहुँच गया है जो किसी वैयक्तिक मस्तिष्क (अर्थात् प्रत्येक छात्र के अलग-अलग मस्तिष्क या विचार) में पाये जाने संवेग के स्तर में नहीं मिल सकता है। भीड़ के सभी छात्र संवेग की तीव्रता के पकड़ में इस तरह आ गये कि उनकी अपनी वैयक्तिकता लगभग समाप्त हो गयी।

यद्यपि मैकडुगल द्वारा प्रतिपादित सामूहिक मन का यह संप्रत्यय उतना लोकप्रिय नहीं हो सका जितना कि 'मूलप्रवृत्ति' का सिद्धान्त हो सका, फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने इसे मैकडुगल का एक महत्वपूर्ण योगदान माना है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मैकडुगल द्वारा प्रतिपादित सामूहिक मन का यह संप्रत्यय मात्र वर्णनात्मक है व्याख्यात्मक नहीं।

(5) मन-शरीर समस्या&मैकडुगल का सम्बन्ध मन-शरीर समस्या से भी था। उनके अनुसार चेतन मानसिक प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु संधि-स्थल होता है। 1911 में उन्होंने आत्मा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आत्मा से उनका तात्पर्य मनोदैहिक अन्तःक्रियाओं को करने के लिए निश्चित क्षमताओं के योग से होता था। बाद में वे जीववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके आत्मा के सिद्धान्त को विस्तारित किये। जीववाद के सिद्धान्त के अनुसार अजैव पदार्थों में थोड़ा बहुत आत्मा मौजूद

होती है। जैव पदार्थों में आत्मा की मात्रा अधिक होती है जो विकास के विभिन्न अवस्थाओं से गुजरने पर मजबूर हो जाती है। बाद में ड्यूक विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जे. बी. राइन के मनोवैज्ञानिक शोधों को अपने कार्य से बड़ा समर्थन प्रदान किया जो मैकडुगल के मृत्यु के बाद भी बहुत सालों तक मनोविज्ञान विभाग के लिए एक उत्कृष्ट चिह्न बना रहा है।

यद्यपि मैकडुगल का योगदान मनोविज्ञान के लिए काफी महत्वपूर्ण था फिर भी इनके योगदानों पर कुछ लोगों ने तीखा प्रहार किया। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा 'मूलप्रवृत्ति' के संप्रत्यय को पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया गया। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि मैकडुगल के सिद्धान्तों का प्रयोगात्मक सत्यापन नहीं किया जा सकता है। आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य की सामाजिक प्रकृति मूलप्रवृत्ति का उत्पाद नहीं होता है बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का उत्पाद होता है। जे. बी. वाटसन ने मैकडुगल के मनोविज्ञान की तीव्र आलोचना की है। उन्होंने मैकडुगल के द्वैतवादी तथा यांत्रिक-विरोधी संप्रत्ययों के विरोध में आवाज उठाया। ऐसा कहा जाता है कि अमेरिका में व्यवहारवाद के प्रभुत्व में आने से मनोविज्ञान पर मैकडुगल की पकड़ धीरे-धीरे समाप्त हो गयी।

मूल्यांकन

मनऊर्जा मनोविज्ञान का प्रतिपादन मैकडुगल द्वारा किया गया। मैकडुगल के योगदानों को पाँच विभिन्न शीर्षकों के तहत बाँट कर अध्ययन किया गया है।

मैकडुगल ने मनोविज्ञान को जीवित प्राणियों के व्यवहार का वस्तुपरक विज्ञान माना है।

मैकडुगल का सबसे महत्वपूर्ण योगदान 'मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त' रहा है। मैकडुगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति से तात्पर्य एक ऐसे जन्मजात मनोदैहिक प्रवृत्ति से होता है जो व्यक्ति को उद्दीपनों या वस्तुओं का विशेष ढंग से प्रत्यक्षण करने, उसपर ध्यान देने तथा उसकी माँग के अनुरूप व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है।

25

ग्राह्म वालास

राजनीतिक विचारकों में ग्राह्म वालास को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इंग्लैण्ड के एक पादरी परिवार में सन् 1858 को जन्मे ग्राह्म वालास बचपन से ही प्रखर बुद्धि के रहे हैं। इन्होंने Sherewbury School और Corpu Christ College, Oxford में शिक्षा प्राप्त की। उसने 'London School of Economics' की स्थापना में इनका सराहनीय योगदान रहा है। आगे चलकर अपना 30 वर्ष का अमूल्य समय इन्होंने इस संस्था को अध्यापक के रूप में दिया। यहाँ इन्होंने कई छात्रों को राजनीतिशास्त्र की शिक्षा दी। उसने लंदन विश्वविद्यालय की सीनेट में, लंदन स्कूल ऑफ बोर्ड में, लंदन काउण्टी कौंसिल में रॉयल कमीशन ऑन सिविल सर्विस में महत्वपूर्ण कार्य किया। वह फेबियन सोसाइटी का सदस्य और इससे प्रकाशित होने वाले निबंधों का लेखक रहा। अपने जीवन में इन्होंने कई उल्लेखनीय कार्य किया। सन् 1932 को वे हमारे बीच से विदा हो गए। विश्व राजनीति में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

पद्धति वालास ने बुद्धि विरोधी पद्धति का प्रतिपादन किया है। राजनीतिक घटना-चक्र की उसने मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। वालास का मानना है कि, “राजनीति में अधिकांश घटनाएं सहज बुद्धि, सुझाव और अनुकरण से अचेतन रूप में की जाने वाली प्रतिक्रियाओं का परिणाम होती हैं।” ऐसे कार्य बहुत ही कम होते हैं जिन्हें चेतन रूप में बुद्धिमत्तापूर्वक किया जाए। उसने विचार एवं इच्छाओं के समन्वय की विवेचना करके राजनीतिक मनोविज्ञान के बौद्धिक तत्व पर बल दिया है। उसने आगमनात्मक शैली का अनुकरण किया है। ‘हालांकि उसके विचारों पर

मनोविज्ञान का प्रभाव है परंतु उसके निष्कर्ष उसके प्रशासक तथा राजनीतिक के रूप में प्राप्त अनुभवों पर आधारित हैं।

ग्राह्य वालास के समक्ष एक विकट समस्या यह थी कि—‘आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा संचित ज्ञान को एक व्यवसायी विद्वान के विचारों की प्रक्रिया के परिमार्जन में किस प्रकार प्रयोग में लाया जाए।’

राजनीति में संख्यात्मक पद्धति अपनाने पर बल इसलिए दिया ताकि दैनिक जीवन की समस्याओं से बचा जा सके। उनका कहना है कि तथ्यों का संकलन करके विश्लेषण करना चाहिए और तदोपरांत निष्कर्ष निकालने चाहिए। वालास सांख्यिकीय पद्धति पर भी बल देता था। उनका मानना था कि राजनीति के विद्यार्थी को एक काल्पनिक व्यक्ति के अध्ययन के स्थान पर ऐसे पूर्ण मनुष्य का अध्ययन करना चाहिए जो भावनाओं, उत्तेजनाओं, अंतः प्रेरणाओं और प्राकृतिक इच्छाओं से पूर्ण हो। वालास इस बात को कहते थे कि लोगों को मानक की बौद्धिकता सीमा से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस संदर्भ में रोक्को ने लिखा है कि, “यदि प्रो. मैकडुगल प्लेटोवादी हैं तो ग्राह्य वालास अरस्तूवादी है। उसका दृष्टिकोण समन्वयात्मक और अनुगमनात्मक दोनों है।”

मानव स्वभाव अपने राजनीतिक विचारों के विकास हेतु मानव स्वभाव जो मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनायी है उसके अंतर्गत वह मानव के विभिन्न कार्य-कलापों के संबंध में उसकी मनोवृत्तियों की विवेचना करता है। वह मानता है कि मानव स्वभाव उसके द्वारा वंश परंपरा से प्राप्त स्वभावों का योग है। ये स्वभाव दो प्रकार के हो सकते हैं—अचेतन प्रवृत्तियां और सचेतन प्रवृत्तियां। यद्यपि दोनों प्रवृत्तियों के बीच कोई स्पष्ट विभाजित रेखा खींचना असंभव है। उत्सुकता, चिन्तन, भाषा, विचारों की अभिव्यक्ति, प्रेम, चिन्ता आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो मनुष्य को उत्तराधिकार में प्राप्त होती हैं। ये मूलतः सचेतन प्रवृत्तियां हैं, परंतु लापरवाही, धोखाधड़ी, लत आदि कुछ ऐसी आदतें हैं जो अवांछनीय होते हुए भी हमारे स्वभाव में आ जाती हैं। ये प्रवृत्तियां मनुष्य उस वातावरण से ग्रहण करता है, जिसमें वह रहता है। उत्तराधिकार से प्राप्त होने वाली प्रवृत्तियां, स्वभावजन्य प्रवृत्तियां कही जाती हैं। अतः मनुष्य को प्रकृति तथा वातावरण में समरूपता स्थापित करना मानव सभ्यता का कार्य है। मानव सभ्यता के लिए मनुष्य में जिन गुणों का महत्त्व अधिक है। उन गुणों के अनुरूप वातावरण बनाकर उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर दिया जाना चाहिए और प्रतिरोध प्रवृत्तियों को उत्पन्न होने से या राह में आने से रोकना चाहिए, उदाहरणार्थ—प्रेम और घृणा दोनों प्रवृत्तियां मनुष्य में पायी जाती हैं। स्वस्थ

समाज के लिए प्रेम का घृणा से अधिक महत्त्व है। अतः सामाजिक वातावरण ऐसा हो जिसमें प्रेम की प्रवृत्ति बढ़े न कि घृणा की प्रवृत्ति।

प्रजातंत्र पर वालास के विचार—ग्राह्य वालास लोकतंत्र के भविष्य पर विचार करते हुए खुद से यह प्रश्न करते हैं कि यदि राजनीति बुद्धि कौशल द्वारा जन समुदायों को प्रभावित करने की कला पर निर्भर करती है तो फिर लोकतंत्र को चलाने का दायित्व ऐसे लोगों पर क्यों न दिया जाए जिनमें बुद्धि को सही ढंग से प्रयोग करने की क्षमता हो? वालास इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तथाकथित बुद्धिमान और विद्वान लोग भी किसी न किसी 'सुझाव' के दास होते हैं और शायद ही कोई व्यक्ति निरपेक्ष बुद्धि का प्रयोग करता है। राजनीतिक और प्रशासक, चाहे वे कितने भी समझदार क्यों न हों अपनी बुद्धि का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकते हैं। उन्हें जनता के सुझावों और समर्थनों के आधार पर चलकर ही लोक कल्याणकारी राज्य का निर्माण करना पड़ता है। अतः लोकतंत्र को सफलतापूर्वक चलाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे प्रतीकों को विकसित किया जाए जिनमें सभी मनुष्यों के कल्याण की भावना निहित हो। यदि प्रतीकों का प्रयोग मतदाताओं को मूर्ख बनाकर किन्हीं राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए करना है तो ऐसा लोकतंत्र हमेशा ही असफल रहेगा। वालास ने आशा प्रकट की है कि एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि जब 'मानवता' के नाम पर दुनिया के सभी लोगों में पवित्र भावुकता और सम्बेदन पैदा होने लगे तभी राजनीतिक और सामाजिक विकास सही दिशा की ओर अग्रसर होंगे।

सरकार, प्रशासन और राज्य

वालास के अनुसार आज सामाजिक जीवन अत्यधिक कठिन होता जा रहा है। जिस प्रकार किसी विशाल प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं इन जटिलताओं को हल करने के लिए स्थापित की गई हैं, वह ऐसा करने में समर्थ नहीं है। सहयोगपूर्ण वाद-विवाद का अवसर न संसद में मिलता है और न स्थानीय निकायों की परिषदों में। बहुधा ऐसे वाद-विवाद या तो मंत्रिमंडलों की बैठकों में होते हैं या दलीय संगठनों की कार्यकारिणी संस्थाओं में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं में वास्तविक चिन्तक को कोई ठोस स्थान प्राप्त नहीं होता। अतः ऐसी विशाल आकार वाली विधायिकाएं लोकतंत्र को सफल कार्यान्वित नहीं करतीं। वालास का सुझाव था कि ब्रिटिश कॉमन सभा का आकार छोटा कर दिया जाए और अधिक से अधिक संस्थान में समितियों को उपयोग में लाया जाए। सम्पूर्ण सदन की समिति पद्धति को समाप्त कर दिया जाए।

वालास का सुझाव है कि लार्ड सभी अधिक से अधिक एक शाही आयोग के रूप में कार्य करने वाली संस्था रहे, न कि विधायिका के अंग के रूप में। म्युनिसिपल कमेटियों के सदस्यों की संख्या कम करने और उनमें समिति प्रथा अपनाने का भी सुझाव वालास ने दिया था।

वालास प्रशासन के अधिकारियों के आलोचना करते हुए कहते हैं कि वे स्वार्थी और दलगत हितों के प्रति संकीर्ण होते जा रहे हैं और मौलिक चिंतन का अभाव हो गया है। वे रूढ़िवादी हो गये हैं और लालफीताशाही की प्रवृत्ति उनमें बढ़ती जा रही है। वालास ने नागरिक प्रशासन में अधिक से अधिक मानवीयकरण पर और नवीन सिद्धांतों की खोज करने पर अधिक जोर दिया था।

राज्य की इच्छा के पुनर्गठन के लिए वालास ने सम्मान देते हुए कहा कि उसमें व्यक्तिवादी, समाजवादी और श्रमसंघवादी विचारधाराओं का सही समन्वय होना चाहिए।

26

हेरोल्ड जोसेफ लॉस्की

हेरोल्ड जोसेफ लॉस्की का नाम पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों में एक है। लॉस्की एक बहुलवादी विचारक थे क्योंकि राज्य-सत्ता के प्रति उनका तीखा विचार काफी समृद्धशाली है फिर भी इनमें विभिन्न गुण व्याप्त थे जिसकी वजह से उन्हें किसी एक श्रेणी में रखा जाना काफी जटिल है। वह व्यक्तिवादी, उदारवादी, समाजवादी, श्रेणी समाजवादी, श्रम संघवादी, फैबियनवादी, मार्क्सवादी और आदर्शवादी सब कुछ रहा है, लेकिन किसी एक विचारधारा में अधिक दिन तक अपने विश्वास को स्थिर न रख सकने के कारण उसे सफल सिद्धांतवादी न कहकर केवल एक विचारक तथा योग्य शिक्षक कह सकते हैं। हर्बर्ट डीन का मानना है कि, “लॉस्की एक विद्वान और राजनीतिक चिंतक था, वह एक राजनीतिज्ञ, लेखक, पत्रकार भी रहा, किंतु सबसे अधिक वह एक शिक्षक और मित्र था। अपने व्यक्तित्व के इन सब पहलुओं को उसने समाज में एक मनीषी के उत्तरदायित्व के विचार से घनिष्ठ रूप से गूँथ दिया था।”

किंगसले मार्टिन ने लिखा है कि, “एक राजनीतिक चिंतक के रूप में ब्लूम ने हेराल्ड की मॉण्टेस्क्यू और बताया कि सत्रहवीं शताब्दी से यूरोप या अमरीका में किसी भी अन्य व्यक्ति को लोकतंत्रात्मक चिंतन व संस्थाओं का इतना गहन मौलिक ज्ञान नहीं था। उन विषयों में जिनमें मुझे कुछ विशिष्टता प्राप्त है—पिछली दो शताब्दियों में फ्रांस का साहित्यिक व राजनीतिक इतिहास— मैंने सदैव उसे ही गुरु पाया है।”

जीवन परिचय—प्रो. लॉस्की का जन्म 30 जून, 1893 को इंग्लैंड के मेन्चेस्टर नामक स्थान पर एक यहूदी परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम नैथन लॉस्की

था जो हंगरी के निवासी थे बाद में यह इंग्लैंड में आकर रहने लगे। लॉस्की का पिता उसे अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार एक आदर्श यहूदी बनाना चाहता था, परंतु विद्रोही प्रकृति वाले लॉस्की को यहूदी कर्मकाण्ड के स्थान पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन में विशेष रुचि थी। लॉस्की ने अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध यहूदी धर्म का उल्लंघन करके अपने से 8 वर्ष बड़ी फ्रिडा केरी नामक लड़की से शादी कर ली। यह लड़की ईसाई धर्म की थी। इस बात से नाराज होकर लॉस्की के पिता उसके पढ़ाई का खर्च देना बन्द कर दिया, परंतु बाद में उसके पिता ने 200 पौण्ड राशि इस शर्त के साथ उसे दी कि वह अपने विवाह का समाचार गुप्त रखेगा और स्कॉटलैण्ड में अपनी स्वतंत्र जीविका कमाने वाली फ्रिडा से अध्ययन की समाप्ति तक नहीं मिलेगा। 1914 में लॉस्की ने इतिहास में स्नातक में प्रथम श्रेणी पास की। इसके बाद उसके पिता ने खर्च देना बंद कर दिया। उसके पिता का कहना था कि फ्रिडा को यहूदी धर्म में दीक्षित होना चाहिए, ऐसा होने पर ही लॉस्की अपने परिवार का सदस्य और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। इस शर्त को दोनों दम्पतियों ने अस्वीकार कर दिया, इसलिए उनको परिवार से अलग होना पड़ा। 1920 में फ्रिडा ने लॉस्की के न चाहते हुए भी यहूदी धर्म को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार पारिवारिक विवाद समाप्त हो गया।

1914 में लॉस्की ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से इतिहास में स्नातक उत्तीर्ण करने के उपरान्त आजीविका कमाने के लिए अपने मित्र जॉज लैन्सबरी के समाचार-पत्र डेली हेरल्ड में आयरलैण्ड आदि की सामयिक समस्याओं पर लेख लिखना शुरू किया। कालान्तर में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर उसने सेना में भर्ती होने के लिए आवेदन दिया लेकिन कमजोर स्वास्थ्य होने के कारण उसमें सफल न रहा उसी दौरान उसे कनाडा के माण्ट्रीयल नगर के मैकगिल विश्वविद्यालय में इतिहास के लेक्चरर का पद मिला, सितम्बर, 1914 में वह माण्ट्रीयल चला गया। एक वर्ष पश्चात् वह संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय हार्वर्ड में अध्यापन कार्य करने लगा। 1920 में वह इंग्लैण्ड वापस लौटा, लंदन स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स में व्याख्याता तथा ग्राह्व वालास के पश्चात् राजनीतिशास्त्र का प्रोफेसर बना। उसने अपनी आयु के 30 वर्ष लंदन विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए व्यतीत किये। 1950 में उसका निधन हो गया। वह अपने शिष्यों और छात्रों से अगाध स्नेह रखता था और उनकी भरपूर सहायता करता था।

लॉस्की का सिर्फ सैद्धान्तिक राजनीति के अध्ययन में ही रुचि नहीं बल्कि उनकी रुचि क्रियात्मक राजनीतिक कार्यों में भी थी। ब्रिटेन के मजदूर दल से उसका

गहरा संबंध था। वह कई वर्षों तक इसकी कार्यकारिणी का सदस्य रहा। 1945 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार बनने पर वह इस दल का सदस्य रहा। 1945 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की सरकार बनने पर वह इस दल का अध्यक्ष था। उस समय अनेक विदेशी भ्रमवश यह समझते रहे कि मजदूर दल का वास्तविक नेता लॉस्की है, क्योंकि वह अपने विशद् और गंभीर ज्ञान एवं बौद्धिक गुणों के कारण मजदूर दल के अलावा एटली, मारसिन और बेविन जैसे प्रधान नेताओं का मार्गदर्शन करता था। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड से बाहर के अन्य देशों के प्रमुख विचारकों, मंत्रियों, नेताओं आदि से लॉस्की का पत्र-व्यवहार चलता रहता था। संयुक्त राज्य अमरीका के न्यायाधीश होम्ज तथा फ्रैंकफर्टर और ब्रिटेन के लॉर्ड हाल्डेन उसके परम मित्र थे। वह रूजवैल्ट, जवाहरलाल नेहरू आदि संसार के बड़े राजनीतिज्ञों को परामर्श दिया करता था। वह राजनीतिक विचारक होने के अलावा अध्यापक, मजदूर दल का पत्रकार, प्रभावशाली सार्वजनिक प्रवक्ता और विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों को विश्वस्त परामर्शदाता भी था। लॉस्की के अनुसार, “न्यायमूर्ति होम्ज, लेन्सबरी, हेनरी, नेविन्सन, जे. एल. हैमॉण्ड, ग्राह्म वालास, वैब्स तथा स्टेफर्ड क्रिप्स जैसे व्यक्तियों से परिचित होना जीवन के मूल स्रोत में अपने हृदय को शीतल करना है। फिलिक्स, फ्रैंकफर्टर से मुझे जो स्नेह प्राप्त हुआ है, वह उस विवेक से भी अधिक है, जो मुझे उनसे मिला है।”

लॉस्की का राजनीतिक चिंतन

लॉस्की के राजनीतिक विचार को निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत स्पष्ट किया गया है—

सम्प्रभुता और बहुलवाद—राजनीतिशास्त्र में सम्प्रभु राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन 16वीं सदी में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक जीन बोदों ने किया। जिसे बाद में हॉब्स, बेंथम, हीगल, ऑस्टिन आदि लेखकों ने सुदृढ़ किया। सम्प्रभुता की इस धारणा ने राज्य के एकत्ववादी प्रभुसत्ता के सिद्धांत का प्रतिपादन करके राज्य की निरंकुश सत्ता का समर्थन किया लॉस्की ने सम्प्रभुता के इस एकत्ववादी प्रभुसत्ता के सिद्धांत का विरोध किया। उसने अपनी पुस्तकों—*Studies in the Problem of Sovereignty*, *Authority in the Modern State*, *Foundation of Society* में इस पर विवेचन किया। सम्प्रभुता के इस परम्परागत सिद्धांत की आलोचना करने में उसके ऊपर बार्कर, कोल और मेटलैण्ड का प्रभाव पड़ा। लॉस्की ने विभिन्न आधारों पर इनकी आलोचना की हैं जो वे आधार निम्नलिखित हैं—

(1) वैधानिक आधार पर—वैधानिक आधार पर राज्य की उत्तम सत्ता का अर्थ यह है कि राज्य में एक निश्चयात्मक मानव संस्था राज्य की सत्ता का अंतिम स्रोत होती है। यह सत्ता असीम और अमर्यादित होती है। यह सत्ता अविभाजित मानी जाती है और इसी का आदेश कानून है जिसका उल्लंघन करना दण्डनीय अपराध माना जाता है।

लॉस्की महोदय का मानना है कि प्रभुसत्ता की यह अवधारणा तथ्यों के खिलाफ है उनका मानना है कि “समाज के वास्तविक शासकों की खोज नहीं की जा सकती, उनका निश्चयात्मक होने की बात कहना तो दूर रहा।” लॉस्की की अवधारणा से आज तक कहीं भी किसी संप्रभु को असीम सत्ता प्राप्त नहीं रही और जहाँ कहीं ऐसे सम्प्रभु रहे हैं तो वहाँ कुछ न कुछ रक्षा कवच बने रहे हैं। लॉस्की टर्की के निरंकुश सुल्तान का उदाहरण देता है कि वह भी परम्पराओं के विरुद्ध कभी आचरण नहीं करता था। इसकी प्रकार इंग्लैण्ड के राजा सहित संसद कानूनी दृष्टि से संप्रभु है और इसकी सत्ता असीम है, परंतु यह भी जनमत और जन-परम्पराओं के विरुद्ध अपनी कानूनी प्रभुसत्ता का प्रयोग नहीं कर सकती। इसकी प्रकार संघात्मक व्यवस्था में भी एक निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ संस्था की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके सन्दर्भ में यह कहा जाए कि वह ऑस्टिन की धारणा की असीम संप्रभु सत्ता धारण करती हो। यदि किसी राज्य में लोक-निर्णय की पद्धति प्रचलित हो और अंतिम सत्ता निर्वाचक मण्डल के हाथों में रहती हो, तो उसे भी ऑस्टिन की धारणा का संप्रभु मानना या कहना उचित नहीं होगा। लॉस्की का मानना है कि, “कोई भी निर्वाचक मण्डल एक ऐसा अनिश्चयात्मक निकाय होता है जो कि कानूनी दृष्टि से अपने अंगों या अभिकरणों के माध्यम से कार्य करता है, जबकि ऑस्टिन की धारणा यह है कि संप्रभुता की विशेषता निश्चयात्मक तथा अमर्यादित होना है।”

(2) नैतिक आधार पर—नैतिक आधार पर भी लॉस्की प्रभुसत्ता की अवधारणा की आलोचना करता है। इसका मानना है कि उसके अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक कर्म अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। प्रभुसत्ता का सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति आँख बंद करके राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन करे, इस प्रकार का आज्ञा पालन व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में बाधक है। यदि व्यक्ति राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन बिना सोचे-समझे करेगा तो वह दास बन जायेगा। इस प्रकार की दासता व्यक्ति की राज्य की सदस्यता का उद्देश्य एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में विकास करना है। इस सन्दर्भ में लॉस्की का यह भी मानना है कि, “मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में उचित है। यदि

राज्य इस सीमा को भंग करता है तो वह अनिवार्य रूप से व्यक्ति के नैतिक विकास को अवरुद्ध करता है और इस तरह उस उद्देश्य के विरुद्ध कार्य करता है जो व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक राज्य के आदेश मानने के लिए प्रेरित करता है।”

(3) अंतर्राष्ट्रीयता के आधार पर—लॉस्की महोदय ने यह दावा किया है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से राज्य की संप्रभुता का सिद्धांत मानवता के हित में नहीं है। लॉस्की के अनुसार, “अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक स्वतंत्र प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की धारणा मानव कल्याण के लिए घातक है, अन्य राज्यों के साथ संबंधों के निमित्त एक राज्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए इसका एकमात्र निर्णायक स्वयं उसी राज्य को होना चाहिए।” इसके आगे उन्होंने यह भी किया है कि अंतर्राष्ट्रीय परम्पराएँ (कानून) राज्य की प्रभुसत्ता को मर्यादित करती हैं, यदि ऐसा न हो तो संप्रभु राज्य मनमाना आचरण करके अंतर्राष्ट्रीय युद्धों को प्रोत्साहित करेंगे, जो मानवता के हित में नहीं है।

लॉस्की उपरोक्त वर्णित विभिन्न तर्कों के आधार पर प्रभुसत्ता की आलोचना करता है और राज्य के आदेशों के पालन की यह कसौटी निश्चित करता है कि इनसे उसके प्रजाजनों का कल्याण होना चाहिए।

बहुलवादी राज्य—लॉस्की एक बहुलवादी विचारक है। उनका मानना है कि ‘समाज का स्वरूप संघात्मक है, इसलिए सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिए।’ लॉस्की ने यह भी लिखा है कि शक्ति के केन्द्रीयकरण को समाप्त करके उसके स्थान पर एक विकेन्द्रित समाज व्यवस्था होनी चाहिए। उसके शब्दों में, “राजनीतिक समाज में शक्ति का बँटवारा इस प्रकार होना चाहिए ताकि उसका केन्द्रीय स्रोत पर संकलन न हो सके। यदि शक्ति किसी एक संस्थान पर केन्द्रित हो जाए तो नागरिकों की स्वतंत्रता नहीं रहती और प्रशासन में शिथिलता एवं अकुशलता उत्पन्न हो जाती है।” अतः प्रशासनिक विकेन्द्रीयकरण बहुलवादी राज्य का एक प्रमुख गुण है। लॉस्की का मानना है कि उसके विकेन्द्रीयकरण के माध्यम से ही प्रशासन को लोकतांत्रिक बनाया जा सकता है और नागरिकों को वैयक्तिक तथा सामुदायिक रूप से उससे सक्रिय रूप से संबंधित किया जा सकता है।

लॉस्की की प्रारंभिक कृतियों में उम्र बहुलवादी अवधारणा का चित्रण मिलता है। उन्होंने प्रभुसत्ता की अत्यधिक आलोचना की है तथा राज्य की सर्वोत्तम सत्ता का खंडन करते हुए वह लिखा है कि, “राजनीतिक शासन के लिए यह एक स्थायी लाभ की चीज हो, यदि सम्प्रभुता का संपूर्ण विचार ही त्याग दिया जाए।” उसने राज्य के मनुष्यों द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक संगठनों की भाँति

माना। परंतु बाद में लॉस्की ने अपनी पुस्तक ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स में प्रारंभिक उग्र बहुलवादी विचारों में संशोधन करते हुए यह स्वीकार किया कि राज्य में अन्य संगठनों की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि इसके पास अपने नियमों का पालन कराने के लिए बाध्यकारी शक्ति है जो अन्य संगठनों के पास नहीं है। इसे यह शक्ति विभिन्न सामाजिक समूहों में समन्वय स्थापित करने, आंतरिक शांति स्थापित करने तथा विदेशी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए दी गई है। कालान्तर में लॉस्की महोदय ने यह भी स्वीकार किया कि राज्य की इच्छा जनकल्याण की दृष्टि से अपने क्षेत्र में सर्वोच्च होनी चाहिए।

लॉस्की के राज्य पर विचार—लॉस्की की अवधारणाओं में धीरे-धीरे बदलाव आता गया। शुरुआती दौर में लॉस्की उग्रबहुलवादी था, इसलिए उसने राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धांत का खण्डन किया और स्वेच्छिक स्वशासित समुदायों से युक्त समाज की स्थापना पर बल दिया। लेकिन धीरे-धीरे राज्य के प्रति उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। उसने अपनी पुस्तक ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स में सम्प्रभुता पर अपने आक्रमण को शिथिल करते हुए राज्य एवं स्वेच्छिक समुदायों में अंतर को स्वीकार किया। उसने दोनों में मुख्य अंतर यह स्वीकार किया कि राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति होती है जो अन्य समुदायों के पास नहीं होती है। इस अंतर के कारण राज्य अन्य समुदायों से श्रेष्ठतर संगठन है। लॉस्की यह स्वीकार करता है कि राज्य के पास बाध्यकारी शक्ति होना चाहिए जिससे वह समुदायों की अवांछित गतिविधियों पर नियंत्रण लगा सके, उनके कार्यों में सामंजस्य कायम कर सके तथा उन्हें कल्याणकारी कार्य करने हेतु प्रोत्साहित कर सके।

लॉस्की ने राज्य की अपेक्षा समुदायों को अधिक महत्त्व दिया है क्योंकि उसकी सदस्यता अनिवार्य होती है। एक नागरिक समुदायों की सदस्यता का त्याग कर सकता है, परंतु राज्य की सदस्यता का त्याग नहीं कर सकता। नागरिक अन्य समुदायों के आदेशों को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं, परंतु राज्य के आदेशों को मानने के लिए बाध्य हैं। यदि नागरिक राज्य के आदेशों की अवहेलना करता है तो उसे दंडित किया जा सकता है, समुदाय ऐसा नहीं कर सकते।

लॉस्की की अवधारणाओं में निम्नलिखित कारणों से बदलाव आया था—

1. 1920 में लॉस्की अमरीका से लौटकर वैब दम्पति के संपर्क में आया, जिसके प्रभाव ने उसे अपने राज्य से जुड़ी अवधारणाओं में बदलाव लाने हेतु प्रोत्साहित किया।

2. दूसरे उससे मजदूर दल की सदस्यता ग्रहण करना था। वह मजदूर दल समाजवादी विचारधारा से प्रभावित था तथा समाजवादी समाज की स्थापना में राज्यशक्ति को अनिवार्य मानता था।
3. 1929 में भीषण आर्थिक संकट और मार्क्सवाद के प्रति लॉस्की का बढ़ता हुआ रुझान था।
इन सभी कारणों से वह राज्य को अन्य समुदायों की तुलना में श्रेष्ठतर समझने लगा।

फिर भी लॉस्की राज्य की बढ़ती शक्ति को हमेशा शंका की दृष्टि से देखता रहा। राज्य कहीं अपनी बढ़ती हुई शक्तियों का दुरुपयोग कर स्वेच्छाचारी न बन जाए, इसलिए वह शासन को निरंतर उत्तरदायी बनाये रखने के लिए लोकतंत्र पद्धति का पक्षधर था। उसकी मान्यता है कि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में राज्य की शक्तियों के दुरुपयोग की संभावना अन्य प्रणालियों की तुलना में कम होती है। इसलिए वह सत्ता केन्द्रों की संख्या में वृद्धि कर स्थानीय व्यावसायिक संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाये जाने का समर्थन करता है। उसका मत है कि सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण किया जाए तथा ऐच्छिक समुदायों और राज्य के शासकों का प्रत्यक्ष संपर्क होना चाहिए जिससे वे नागरिकों की वास्तविक इच्छा से परिचित हो सकें और उन्हें शासन के अन्तर्गत उचित स्थान प्रदान कर सकें।

लॉस्की यह भी स्वीकार करता था कि संपूर्ण सत्ता संघात्मक है। राज्य हमारे जीवन में केवल आंशिक योगदान करता है, अतः उसी अनुपात में हमारे द्वारा राज्य की आज्ञा का पालन किया जाना चाहिए। लॉस्की के अनुसार राज्य मनुष्य से तभी आज्ञा का पालन कराने का अधिकारी है जबकि वह विभिन्न समुदायों के माध्यम से प्रगट होने वाली मनुष्यों की इच्छाओं को अपनी आज्ञाओं में स्थान दे। इसके लिए लॉस्की ने विभिन्न सुझाव दिये जिनमें से कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—

1. राजकीय निर्णय के पहले राज्य समस्त संस्थाओं से परामर्श करे। इन निकायों को प्रस्तावित विधायन की आलोचना करने तथा उनके स्थान पर नये सुझाव देने का अधिकार हो।
2. विभिन्न राजकीय विभागों को सुझाव देने के लिए संसद सदस्यों की समितियाँ बनायी जाएँ जिससे संबंधित मंत्री और संसद सदस्यों में निरंतर संपर्क बना रहे और वे उसके कार्यों का मूल्यांकन करते रहें।

3. विभिन्न ऐच्छिक समुदायों के प्रतिनिधियों की परामर्शदात्री समितियों को, जो विभिन्न हित गुटों का निर्माण करती हैं, संबंधित राजकीय विभागों के साथ सम्बद्ध किया जाए ताकि निर्णय के पूर्व वे अधिकारियों को उचित परामर्श दे सकें।
4. वैयक्तिक उद्योगों के नियंत्रण के लिए औद्योगिक समितियों का गठन किया जाए, जिनमें उद्योग के स्वामी, उपभोक्तागण और राज्य के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। राज्य की स्वीकृति से इन्हें वैयक्तिक उद्योगों के लिए नियम बनाने का अधिकार हो।
5. सार्वजनिक संगठनों व संस्थाओं का उचित प्रशासकीय अधिकार और साधन सम्पन्न बनाया जाए जिससे वे सही अर्थों में स्वशासी हो जायें और बिना राज्य का मुँह ताके वे अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकें।

लॉस्की ने अपनी पुस्तक ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स के दूसरे संस्करण 1938 में जोड़े गए परिचयात्मक अध्ययन में उसने स्पष्ट किया कि उसके प्रथम संस्करण में प्रतिपादित संशोधित बहुलवाद के सिद्धांत को उसने छोड़ दिया है और उसके स्थान पर राज्य के संबंध में मार्क्सवाद दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप दिया। मार्क्स की भांति लॉस्की ने लिखा है कि राज्य को सामाजिक नियंत्रण और सामंजस्य का एक साधन नहीं मानता, जिसकी शक्ति को इसलिए सीमित किये जाने की आवश्यकता है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण न कर सके। बल्कि अब वह राज्य को मार्क्सवादियों के समान उत्पादन के साधनों के स्वामियों के हितों की रक्षा करने वाला और उनकी इच्छाओं को कार्य रूप में परिणित करने वाला एक 'कार्यपालिका यन्त्र' समझता है। किंग्सले गार्टिन महोदय ने लॉस्की के विचारों में आये बदलाव के सन्दर्भ में लिखा है कि, "1925 में फेबियन लॉस्की और 1938 में मार्क्सवादी लॉस्की में मौलिक भेद यह है कि इन दो सनों के मध्य उसने 1929 के महान आर्थिक संकट को, 1931 की राष्ट्रीय सरकार की सांविधानिक विडम्बना को, स्पेन में फासीवाद के उदय को जर्मनी में हिटलर की विजय को देख लिया था। वह विश्वास करने लगा था कि लोकतंत्र जब तक समानता पर आधारित नहीं होगा, एक धोखा है। यह समानता फेबिनयवादी उपायों से प्राप्त नहीं की जा सकती। जिन वैयक्तिक और सामुदायिक स्वतंत्रताओं में 1925 में उसकी इतनी गहरी आस्था थी, वे समाजवादी समाज के अभाव में कोरी कल्पनाएँ थीं।"

लॉस्की ने *Democracy in Crisis* और *Parliamentary Government in England* दोनों पुस्तकों में यह पूर्ण विश्वास के साथ चित्रण किया है कि पूँजीवादी

जनतंत्र के स्थान पर समाजवाद की स्थापना सामान्यतया क्रांति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती तथा पूँजीवादी जनतंत्र अन्ततः अनिवार्य रूप से क्रांति को जन्म देगा। मार्क्सवादियों की भांति लॉस्की ने भी यह विचार प्रकट किया है कि इटैलियन फासीवाद और जर्मन नाजीवाद कोई नवीन व्यवस्थाएँ न होकर पतनोन्मुख पूँजीवाद की ही अंतिम अवस्थाएँ हैं।

इस तरह लॉस्की मार्क्स के विचारों से काफी सहमत था कि समाजवाद की स्थापना शांतिपूर्ण साधनों से संभव नहीं है क्योंकि उसकी मान्यता है कि इतिहास में किसी शासक वर्ग ने कभी स्वेच्छा से अपने विशेषाधिकारों का परित्याग नहीं किया है और न कभी अपनी सत्ता का प्रयोग जनकल्याण के लिए किया है तथा पूँजीवादी राज्य के सत्ताधारी भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। परंतु फिर भी वह मार्क्स के समान सशस्त्र विद्रोह की अनिवार्यता की आलोचना करना है। लॉस्की के अनुसार, 'मार्क्स के विचारों के विरुद्ध वह पहले समाजवाद की स्थापना के लिए सांविधानिक तरीकों का प्रयोग करना चाहेगा और उसकी असफलता सिद्ध होने पर ही हिंसात्मक संघर्ष के बारे में सोचेगा।' इसी प्रकार क्रांति के पश्चात् समाजवाद की स्थापना के लिए वह सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है और न क्रांति के नेतृत्व के लिए एक छोटे से अनुशासित दल को आवश्यक समझता है।

अतः स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि लॉस्की पूँजीवादी समाज और राज्य के विश्लेषण के संबंध में मार्क्स के विचारों से लगभग सहमति था लेकिन जहाँ उसका अंत करके समाजवादी समाज की स्थापना का प्रश्न है वह हिंसक क्रांति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में विश्वास नहीं करता। किंग्सले मार्टिन का मानना है कि, "लॉस्की इस बात को तो मानने के लिए तैयार था कि क्रांतिकारी युग में नागरिक अधिकारों पर कुछ आघात करना आवश्यक हो सकता है किंतु वह मार्क्सवाद से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकता था क्योंकि वह मूलतः व्यक्तियों की स्वतंत्रता में विश्वास करता था।

27

जी. डी. एच. कोल

विभिन्न पाश्चात्य राजनीतिक विचारकों में जी.डी.एच. कोल को प्रमुख स्थान प्राप्त है। 15 सितम्बर सन् 1889 को इंग्लैंड में जन्मे जी.डी.एच. कोल ने सेन्ट पॉल स्कूल में अपनी पढ़ाई पूरी करने के उपरान्त ऑक्सफोर्ड चले गये और 22 वर्ष की उम्र में ही वे मेगडालेन कॉलेज के फैलां निर्वाचित किये गये। उन्होंने 40 वर्ष तक ऑक्सफोर्ड में अपना समय गुजारा और विश्वविद्यालय के सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त का आचार्य पद को संभाले। वे काफी दिनों तक 'Workers Educational Conference' का उपाध्यक्ष भी रहे।

ऑक्सफोर्ड में जब वे एक पूर्व-स्नातक थे तो वे फेबियन सोसाइटी में शामिल हो गये तथा वे फेबियन अनुसंधान विभाग के संगठन में सक्रिय भाग लिए। उन्होंने अनेक पत्रिकाओं का भी प्रकाशन किया परन्तु ये पत्रिकाएं काफी दिनों तक सफल हो सकी। इन कार्यों के कारण कोल विश्वविद्यालय की फेबियन सोसाइटी का प्रमुख नेता बन गया।

फेबियन सोसाइटी का एक सदस्य होने के नाते उसका श्री एवं श्रीमती वैब दम्पति के समष्टिवादी विचारों से संघर्ष हुआ। इससे उसने सोसाइटी की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और एक ऐसे समाजवाद की खोज में लग गया जो कि फेबियन समाजवाद से कहीं अधिक सकारात्मक और अधिक प्रगतिशील हो। वह एक श्रेणी समाजवादी बन गया और वह श्रेणी समाजवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली प्रवक्ता सिद्ध हुआ। एक श्रेणी समाजवादी होने के नाते कोल की इच्छा पूँजीवाद का विनाश

करके एक ऐसी सहकारी समाज की रचना करने की थी जिसमें कि अपने कार्य की स्थितियों को निर्धारित करने का अधिकार स्वयं श्रमिक को मिले।

इंग्लैंड में अनेक कारणों की श्रेणी समाजवादी आन्दोलन का पतन हो गया और 1915 में 'National Guild League' को विघटित कर दिया गया। इस बीच में कोल और वैब दोनों में विवाद भी खत्म हो गया और वे फिर से मित्र हो गए। पुनर्गठित 'फेबियन सोसाइटी' तथा 'New Fabian Research Bureau' में कोल फिर से आ गया और 25 वर्ष से अधिक समय तक वह उसकी सेवा करते रहे। 14 जनवरी सन् 1959 को कोल इन मानवरूपी संसार से बिदा हो गये।

राजनीतिक दृष्टिकोण

कोल के राजनीतिक सम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत स्पष्ट किया गया है—

बहुलवादी दृष्टिकोण—कोल के बहुलवादी दृष्टिकोण का दार्शनिक आधार उसकी पुस्तक *Social Theory* में देखने से मिलता है। जिसका कुछ अंश नीचे के शीर्षकों में स्पष्ट किया गये है उसका अध्ययन निम्न बिंदुओं में किया जा सकता है—

(1) राज्य में सम्प्रभुता निहित नहीं है—कोल ने यह भी माना है कि राज्य के तहत सम्प्रभुता निहित नहीं है तथा वह अन्य समुदायों पर असाधारण अधिकार नहीं रखता है। प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों की इच्छा पर आधारित होता है अतः प्रत्येक समुदाय अपने कार्यक्षेत्र में प्रभुसत्ता-सम्पन्न होता है। इसलिए राज्य को अन्य संगठनों पर प्रभुसत्ता को व्यवहार में लाने का हक देना बिल्कुल गलत है। कोल का मत है कि राज्य न तो आंतरिक रूप से प्रभुसत्ता-सम्पन्न है और न बाह्य रूप से। आंतरिक दृष्टि से राज्य जनमत, नैतिकता आदि से सीमित है और बाह्य दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा अन्य राज्यों के अधिकारों से।

(2) राज्य सर्वोपरि और सर्वोच्च संस्था नहीं—कोल राज्य को समाज में सर्वोपरि और सर्वोच्च संस्था नहीं मानता है बल्कि यह राज्य को विशेष राजनीतिक कार्य एवं प्रयोजन पूर्ण करने वाली संस्था मानता है। इसका अर्थ है कि मनुष्य जैसे अन्य समुदायों और समूहों में अपने सामान्य उद्देश्य पूर्ण करने की दृष्टि से सम्मिलित होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी स्वयं ही अपने राजनीतिक उद्देश्य पूरे करने के लिए संगठित होते हैं। कोल का मत है कि मनुष्य का संबंध न केवल राज्य के साथ है, अपितु उसे उन विविध समुदायों और संवासों के साथ भी अपना संबंध रखना

होता है जो उसकी विभिन्न जरूरतों को पूरा करने में सहयोग देते हैं। इस प्रकार के संवासों में परिवार, पड़ोस, विश्वविद्यालय, चर्च, क्लब आदि सभी शामिल हैं। जब तक व्यक्ति वयस्क होता है, उसके सामाजिक वातावरण की रचना की जटिलता भी स्पष्ट होने लगती है क्योंकि उसमें न केवल व्यक्ति और उनके संवास शामिल होते हैं, अपितु उसकी रचना में परम्पराओं और संस्थाओं, अधिकारों एवं कर्तव्यों, आनन्दों तथा कष्टों, आकांक्षाओं, आशंकाओं एवं आशाओं सभी की भूमिका होती है। संभवतः व्यक्ति के अनुभव में राज्य का प्रवेश सबसे बाद में होता है। प्राचीन राजनीतिक सिद्धांत केवल मनुष्य के राज्य के साथ संबंधों को ही मानता था किन्तु कोल ने अपने सामाजिक सिद्धांत के अन्तर्गत मानव के समस्त सामाजिक ज्ञानों तथा अनुभवों की जटिलता को प्रमुख स्थान दिया है। कोल का दावा है कि सामाजिक सिद्धांत का संबंध मनुष्य के समूचे सामाजिक संबंधों के साथ होना चाहिए। प्रत्येक संवास कुछ ऐसे कार्यों को निष्पादित करता है जो मनुष्य के जीवन को विविधता तथा रोचकता देता है और जिनका संचालन राज्य द्वारा नहीं किया जा सकता है जैसे—जो कार्य ट्रेड यूनियनों अथवा चर्च के द्वारा सम्पन्न होते हैं, उन्हें राज्य नहीं कर सकता। अतः यह स्पष्ट है कि राज्य को व्यक्ति की संपूर्ण निष्ठा पर दावा करने का कोई अधिकार नहीं है।

(3) राज्य के बढ़ते हुए कार्यों को रोककर उन्हें अन्य समुदायों को सौंपना—कोल का मानना है कि विगत 60-70 वर्षों से राज्य के कार्यों में निरंतर वृद्धि हो रही है। आर्थिक क्षेत्र में इसने कल-कारखानों के कानून तथा श्रमिकों के हितों की रक्षा हेतु अनेक कानूनों का भी निर्माण किया है। इसने पारिश्रमिक और कार्य की अवधि तय करने, औद्योगिक झगड़ों को निपटाने और बेरोजगारी से रक्षा करने का प्रयास किया है। इसने स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में वृद्धि की है और अपनी कर नीति द्वारा समाज में आयों के पुनर्वितरण की चेष्टा की है। राज्य का सम्बन्ध विदेश के साथ भी तीव्र गति से बढ़ रहा है। अतः राज्य के कार्यों की वृद्धि को कोल पसन्द नहीं करता। इस सन्दर्भ में उसका मानना है कि एक सर्व समावेशक समुदाय होने के नाते यह केवल ऐसे ही कार्य कर सकता है, जो कि सबको समान रूप से प्रभावित करते हैं। अपने स्वरूप के कारण ही यह ऐसे कार्य करने के योग्य नहीं है जो कि विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डालता है। कोल का मानना है कि, “एक संवास के रूप में राज्य के कार्य-क्षेत्र में मनुष्य की वे समस्त परिस्थितियाँ शामिल हैं जिनका संबंध मोटे तौर से सभी लोगों के साथ है, जहाँ तक उनके बीच पायी जाने वाली समानता का प्रश्न है, उनके बीच पाये जाने वाले अंतरों

से नहीं।” अतः स्पष्ट है कि उत्पादन क्रियायें समाज के विभिन्न सदस्यों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती हैं, अतः राज्य का उन क्रियाओं के साथ कोई संबंध नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि राज्य को इन क्रियाओं के मध्य ताल-मेल स्थापित करने का कार्य भी नहीं करना चाहिए। वास्तव में राज्य को सिर्फ राजनीतिक कार्यों को ही सम्पादन करना चाहिए।

कोल इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि पूरक सामाजिक कार्यों के सम्पन्न करने में एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के बजाय विभिन्न समुदाय एक-दूसरे से टकरा भी सकते हैं। समाज के लिए उपयोगी कार्य करके समाज की सेवा के बजाय वे अपने स्वार्थों की सिद्धि में भी लग सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक कार्यवाही का आर्थिक क्षेत्र विभिन्न वर्गों का युद्ध-स्थल बन सकता है। धार्मिक मतभेद भी समाज में विरोध और विषमता उत्पन्न कर सकते हैं। इन सब तथ्यों पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु एक ऐसी संख्या होनी चाहिए जो कि समाज की एकता की रक्षा कर सके और प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को अपने समुचित क्षेत्र के अंतर्गत रहने के लिए विवश कर सके। राज्य की सम्प्रभुता से इंकार करते हुए भी कोल समाज की एकता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता को स्वीकार करता है। इस उद्देश्य के लिए वह कम्यून प्रणाली का प्रतिपादन करता है। उसका श्रेणी समाज समूहों का एक संघ होगा जिसमें कि कम्यून की सामान्य सत्ता को प्राथमिकता दी जायेगी। कम्यून स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय-समस्त स्तरों पर उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों का पूर्ण रूप से प्रतिनिधि होगा।

(4) राज्य का आधार शक्ति या बल प्रयोग नहीं, अपितु प्रजाजनों की अपनी इच्छा है—इस संदर्भ में कोल का मानना है कि जनता इससे फायदा लेने हेतु सम्मिलित होती है। यह राज्य के संबंध में सामान्यता यह मारे जाने वाले इस सिद्धांत के विरुद्ध है कि राज्य केवल पाशविक बल पर टिका होता है। कोल के अनुसार राज्य का आधार शान्ति और कानून नहीं, बल्कि इच्छा है। कहने का मतलब यह है कि राज्य अथवा किसी भी समुदाय को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य उसे सामान्य हित के लिए आवश्यक समझें और उसके ऊपर सामान्य हित के दृष्टिकोण से विचार करें, अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से नहीं। कहने का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत हितों पर कोई ध्यान देना चाहिए, बल्कि इसका अर्थ तो केवल यह है कि अपने सामूहिक कार्यों में व्यक्तियों में सामान्य हित को प्राप्त करने की भावना होनी चाहिए।

(5) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—अधिकांश राष्ट्रों के अन्तर्गत नवीन लोकतंत्री परोक्ष प्रजातंत्र के रूप में देखने को मिलती है। इसमें क्षेत्रीय आधार पर प्रतिनिधि

चुना जाता है और एक क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का वह प्रतिनिधि नेतृत्व व मार्गदर्शन करता है। कोल ने लोकतंत्र की इस रूपरेखा की निन्दा करते हुए यह लिखा है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः जिन संस्थाओं को हम प्रतिनिधि संस्थाओं के रूप में पहचानते हैं वे वास्तव में प्रतिनिधि संस्थाएँ नहीं हैं क्योंकि उनके द्वारा किसी का प्रतिनिधित्व नहीं होता। परंतु यदि निर्वाचन भौगोलिक निर्वाचन-क्षेत्रों से न होकर व्यावसायिक निर्वाचन क्षेत्रों में से हो तो उस स्थिति में जिन प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना होती तो उन्हें प्रतिनिधित्वपूर्ण स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि तब एक व्यक्ति जिन लोगों का प्रतिनिधित्व करता वह उनके समूचे व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व न होकर उसके किसी एक पहलू का प्रतिनिधित्व होता। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति में उसके व्यक्तित्व से संबंधित कई पक्ष मिलते हैं वह यदि किसी औद्योगिक केन्द्र में श्रमिक है तो दूसरी तरफ वह किसी धर्म-विशेष में आस्था रखने के कारण किसी चर्च के साथ भी संबंधित हो सकता है। कोई भी मनुष्य चाहे वह कितना ही बड़ा लोकप्रिय नेता ही क्यों न हो, किसी दूसरे का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। यह प्रतिनिधित्व केवल आंशिक ही हो सकता है और इसके लिए व्यावसायिक नेतृत्व सबसे अधिक लाभदायक है।

व्यावसायिक नेतृत्व या प्रतिनिधित्व के आधार पर स्थापित संस्थाएँ कैसे कार्य को अन्जाम दें, इस विषय में कोल का मानना है कि सबसे पहले, समाज में कुछ हित ऐसे होते हैं जिनमें उसके सभी सदस्यों की रुचि समान रूप से होती है। ये हित मुख्यतः राजनीतिक हित होते हैं, इनमें राज्य की कर-प्रणाली, प्रतिरेखा, शिक्षा आदि शामिल हैं। इस तथ्य से लोगों को अवगत कराने की जरूरत नहीं है कि ये सभी लाभ या हित राष्ट्रीय महत्त्व के हैं और इसलिए एक राष्ट्रीय निकाय में उनका प्रतिनिधित्व उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार आधुनिक संसदों की रचना के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ हित ऐसे हैं जिनका दायरा बहुत अधिक सीमित है और जिनमें से केवल एक क्षेत्र विशेष के लोगों की रुचि होती है; जैसे—गैस, पानी, कानून को कायम रखने के लिए पुलिस, सफाई आदि। इन हितों से संबद्ध कार्यों का निष्पादन स्थानीय एवं क्षेत्रीय निकायों के द्वारा किया जा सकता है। इन निकायों की रचना भी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होगी। कोल का यह भी विचार था कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही प्रतिनिधित्व की वास्तविक एवं पूर्ण पद्धति है जिसके बिना सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करना सम्भव नहीं है।

कोल के राजनीतिक सम्बन्धी विचारों की आलोचना निम्न प्रकार से की जा सकती है—

1. यदि विभिन्न समुदायों पर से राज्य का नियंत्रण हटाकर उन्हें समान और स्वतंत्र बना दिया जायेगा तो भी समुदाय अपने-अपने उद्देश्यों को पूरा करने में जुट जायेंगे और सार्वजनिक हितों की कोई चिंता नहीं करेगा। इससे समाज में अराजकता और अव्यवस्था का बोलबाला हो जायेगा।
2. राज्य किसी भी तरह से अन्य समुदायों के समान अथवा उनसे समानता रखने वाला संगठन नहीं हो सकता है। अरस्तू का यह कथन सत्य है कि राज्य सर्वोच्च संगठन है, अन्य समुदाय तथा समूह इसके अंदर रहते हुए अपने कार्यों को प्रभावी रूप से सम्पन्न कर सकते हैं।

28

बर्ट्रेण्ड रसेल

महान् मानवतावादी, प्रगतिशील गत्यात्मक विचारक वैज्ञानिक, धुरंधर संवेदनशील गणितज्ञ, प्रबुद्ध क्रांतद्रष्टा, जीवन्त साहित्यकार व समाजशास्त्री बर्ट्रेण्ड रसेल ने आधुनिक शिक्षा-जगत् को अपने नये विचारों एवम् सशक्त मान्यताओं से सबसे अधिक प्रभावित किया है। रसेल ने जीवन और ज्ञान के क्षेत्र को भी छुआ, अपनी मौलिक सूझ-बूझ तथा अप्रतिम प्रतिभा से उसे उद्भासित कर दिया। साहित्य के क्षेत्र में यदि उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ, तो समाज-सेवा व विश्व-शांति की दिशा में कठोर प्रयास के लिए उन्हें 'पियर्स रजत पदक' से भी सम्मानित किया गया। अपने लम्बे जीवन में उन्होंने साहित्य, विज्ञान, राजनीति, दर्शन तथा विश्वमानव-समाज सभी को प्रभावित किया। यहाँ तक कि उन्होंने यौन-सम्बन्धों एवं सामाजिक रचना पर भी अपने क्रांतिकारी विचार व्यक्त किए। सत्य के उद्घाटन के लिए वे हमेशा बेचैन रहते थे। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता व गरिमा के महान् पोषक थे। वैचारिक स्वतंत्रता के तो वे बहुत ही सशक्त पक्षधर थे। अपने अंतिम दिनों में भी विश्वशांति तथा युद्ध विरोधी विचारों एवं आन्दोलनों के लिए जेल जाने से नहीं हिचकते थे। मृत्यु पर्यन्त उनका व्यक्तित्व प्रखर, प्रबुद्ध एवं प्रज्वलित रहा। ऐसे महामानव थे रसेल।

बर्ट्रेण्ड रसेल एक बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। जगत् के उन्नयन हेतु इन्होंने हरसंभव प्रयास किया। इनके शैक्षिक विचार अपने पूर्ववर्ती शिक्षाविदों से पृथक् और मौलिक थे। यथार्थ में रसेल ने शैक्षिक क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन करने का सुझाव दिया। इसलिए शिक्षा जगत् में इनके विचार क्रान्तिकारी माने जाते हैं।

ऐसे महापुरुष एवं श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री का जन्म इंग्लैंड के एक सभ्रांत एवं कुलीन लार्ड परिवार में 18 मई सन् 1872 ई. में हुआ था। लॉर्ड परिवार में जन्म लेने के परिणामस्वरूप इनकी प्रारंभिक शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था घर पर ही हुई। यह शिक्षा परम्परागत धार्मिक वातावरण में हुई। इस शिक्षा में कट्टर ईसाई धर्म की मान्यताओं का प्रवेश था। शुरुआती शिक्षा समाप्त करने के बाद रसेल को सन् 1890 ई. में कैंब्रिज के 'ट्रिनिटी कॉलेज' में प्रवेश कराया गया। वे मेधावी तथा परिश्रमी छात्र थे। इसलिए कुछ ही समय में अपने असाधारण प्रतिभा से महाविद्यालय के प्राध्यापकों को उन्होंने बहुत प्रभावित किया। इनकी मेधा-शक्ति पर सभी मुग्ध थे। सन् 1894 ई. में इन्होंने गणित तथा दर्शन में प्रतिष्ठा के साथ बी. ए. की डिग्री ली। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

इनकी योग्यता व मेधा को देखकर लंदन तथा कैंब्रिज विश्वविद्यालयों ने इन्हें अपने यहाँ व्याख्याता पद पर नियुक्त किया। यह समय सन् 1894 ई. से सन् 1897 ई. तक की है। इसके बाद में तो अनेक विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठित व्याख्याता के रूप में व्याख्यान देते रहे। इस बीच उन्होंने दर्शन व गणित पर विशेष रूप से शोध कार्य किए व विज्ञान की दिशा में नये विचार सामने आए। साहित्य-सृजन का कार्य भी अपनी गति से चल रहा था।

सन् 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ी और उसके दुष्परिणामों को देखकर रसेल का भावुक एवं संवेदनशील हृदय रो पड़ा। मनुष्य की दुर्दशा व समाज की दयनीय दशा पर इन्हें तरस आई। इन्होंने युद्ध के विरुद्ध निडर एवं सशक्त विचार नहीं व्यक्त किए, बल्कि संसार के सभी विचारकों, राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों तथा साहित्यकारों का युद्ध के विरुद्ध आह्वान किया। विश्वशांति व विश्व-बंधुत्व के पक्ष में इनके विचार बड़े प्रशक्त एवं तर्कसंगत हैं। इसके परिणामस्वरूप राजसत्ता का क्रोध का भागीदार भी बनना पड़ा। ये रंग-भेद नीति के सख्त विरोधी थे। आगे चलकर अपने इन क्रांतिकारी विचारों के परिणामस्वरूप इन्हें जेल में भी जाना पड़ा। जो भी हो, रसेल के विचारों का विश्वभर में स्वागत हुआ।

1914-1919 ई. तक चले प्रथम विश्व युद्ध का रसेल ने पुरजोर विरोध करते हुए, अपने विचारों को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। उसके प्रकाशन पर तत्कालीन सरकार बौखला उठी और न्यायालय ने इन्हें 100 पौंड का अर्थदण्ड भी दिया, लेकिन इससे रसेल के अपने विचार में कोई बदलाव नहीं आया और वे मृत्युपर्यन्त युद्ध विरोधी बने रहे। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के समय युद्ध विरोधी लेखन

व विचार के लिए उन्हें कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पद से हाथ धोना पड़ा। इससे बर्ट्रेण्ड रसेल की प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि और भी अधिक हो गई। उन्होंने संसार के राष्ट्रों के सम्बन्धों को मधुर तथा मित्रतापूर्ण बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पक्षपात, शोषण व युद्ध के अंत के लिए प्रयास भरसक किया।

1920-21 ई. में उन्होंने चीन, जापान तथा रूस की यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने अनेक विश्वविद्यालयों में भाषण भी दिए। सन् 1938 ई. से 45 ई. तक वे संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों व सार्वजनिक संस्थाओं में अपने भाषण देते रहे। सन् 1949 ई. उन्हें 'ऑर्डर ऑफ मेरिट' की उपाधि से विभूषित किया गया। अब तक रसेल के मौलिक एवं मूल्यवान साहित्य ने संसार के प्रबुद्ध लोगों के बीच प्रतिष्ठा हासिल कर ली थी। अतः सन् 1950 ई. में उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। इससे इनके जीवन में किसी तरह की शिथिलता न आई और ये विश्वशांति के लिए भरसक संघर्ष करते रहे। सन् 1955 ई. में इन्हें 'पिपर्य रजत पदक' से विभूषित किया।

बर्ट्रेण्ड रसेल मानव की निजी स्वतंत्रता के प्रबल हिमायती थे। इनका यह मत सिर्फ विचारों तक ही सीमित नहीं था। अपितु इन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी इसे लागू किया। अपने पारिवारिक जीवन में भी अपनी पत्नी को जितनी स्वतंत्रता इन्होंने प्रदान की उतनी अन्य किसी ने नहीं। पहली पत्नी ने तलाक मित्रतापूर्ण वातावरण में ली। इससे किसी तरह की कोई भी परेशानी भी नहीं आने पाई। ऐसे महामानव रसेल का देहांत 4 फरवरी सन् 1970 ई. में हो गया।

29

जीन पॉल सार्त्र

परिचय

जीन पॉल सार्त्र आधुनिक काल के महत्त्वपूर्ण विचारक हैं। इन्हें अस्तित्ववादी चिंतक के रूप में देखा जाता है। अस्तित्ववाद का सिद्धांत मनुष्य के अस्तित्व के चिंतन पर आधारित है। डेनमार्क के निवासी किर्कगार्ड को इसका प्रवर्तक माना जाता है। उसके द्वारा इस विचार का उद्भव 1813 में हुआ।

अस्तित्ववाद का संबंध मनुष्य के अस्तित्व के विवेचन से है। इस शब्द से मनुष्य की जीवन परिस्थितियों का बोध होता है। यह अस्तित्व शब्द का स्थिरार्थक बोध है। अस्तित्ववाद इस प्रचलित अर्थ से हटकर अस्तित्व शब्द के मूलार्थ पर ध्यान देता है। इस अर्थ में अस्तित्व का आशय है आविर्भाव या उद्गमन अथवा उभरना, उठ खड़ा होना। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इस शब्द के मूल बोध में ही गत्यात्मकता है, यह बाहर निकलने, उभरने की प्रक्रिया है। अतः जो अस्तित्ववान है, वह अपने में, अपने से उभरता रहता है; सदा आविर्भावित होता रहता है। इस प्रक्रिया में उभरने की उद्गमन की अनुभूति का होना ही अनिवार्य है। अस्तु, अस्तित्व का अर्थ है अस्तित्व की अनुभूति के साथ उभरते रहना, सतत् आविर्भावित होते रहना। स्पष्ट है कि इस अर्थ में कोई वस्तु नहीं, केवल मनुष्य (मानव) अस्तित्ववान हो सकता है, क्योंकि केवल मानव अस्तित्ववान है, अतः अस्तित्ववाद मानव केन्द्रित विचार है।

अस्तित्ववादी विचारक अस्तित्ववान व्यक्ति को ही अपने ध्यान का केन्द्र बनाते ही हैं, उनके विचार एवं विवेचना का केन्द्र आन्तरिकता हो जाता है। अस्तित्ववाद अस्तित्व की प्राथमिकता या सर्वोपरिता की पुष्टि करता है। अस्तित्व का सम्बंध मानव के वास्तविक व्यवहार या अनुभव अर्थात् ठोस परिघटना से है। अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि आदर्शवाद का सम्बंध विचारों या संकल्पनाओं पर अमूर्त स्वरूप के व्यक्ति से है और इस प्रकार यह तत्व या सार का दर्शन बन जाता है। इसके विपरीत, अस्तित्ववाद जैसा कि सार्त्र ने आग्रह किया है, इस उक्ति में निहित है कि “अस्तित्व सार से पहले आता है। अतः अस्तित्ववादी का प्रयोजन अस्तित्व से आरम्भ करना है जिससे वास्तविक वस्तुओं तक सीमित रहा जा सके और उसे मानव के वास्तविक अनुभव से जांचा व पुष्ट किया जा सके।”

सार्त्र के विचार

अस्तित्ववाद मनुष्य का भाग्य या नियति जैसे तत्वों के हाथों में खिलौना बनने से बचाता है और उसके जीवन को एक ऐसे चिंतन के करीब ले जाता है जहाँ अन्ततः स्वतंत्रता की चेतना सर्वोपरि होती है तथा मनुष्य परिस्थितियों के प्रति एक उत्तरदायी प्राणी बनता है।

अस्तित्ववाद के बारे में सार्त्र ने अपने विचारों को अपनी पुस्तक ‘एक्शन’ में प्रतिपादित किया है जो इस प्रकार है—

(1) मानवीय वैयक्तिकता का महत्त्व—अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए स्वयं सार्त्र ने लिखा है, “अस्तित्ववाद से हमारा तात्पर्य एक ऐसे सिद्धांत से है जो मनुष्य के जीवन को सम्भव बनाता है और साथ ही साथ इस बात की भी घोषणा करता है कि प्रत्येक सत्य और प्रत्येक कार्य को मानवीय वातावरण में तथा मानवीय आधार पर समझाया जा सकता है।” व्यक्ति अपने जीवन के मार्ग का स्वयं चयन करता है। सार्त्र ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को इस कारण महत्त्वपूर्ण मानता है कि स्वतंत्रता ही वह वस्तु है जो उसे गौरवशाली बनाती है। यह उसे आत्मसम्मान की भावना से जीने की प्रेरणा देती है, क्योंकि उसके हितों को समाज में सदैव कुचला गया है। स्वतंत्रता का उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य सुखी रहेगा या बनेगा वरन् उसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य में उत्तरदायित्व की चेतना विकसित हो। स्वतंत्रता की इस भावना की वजह से व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कष्ट सहन करता है और वह उसका सम्पूर्ण भार अपने ऊपर लेने के लिए तत्पर रहता है।

(2) मनुष्यत्व में गुणों की अंतर्निहित भावना&सार्त्र का मानना है कि स्वतंत्रता से प्राप्त होने वाली उत्तरदायित्व की वजह से मनुष्य अपने आपको जिन विभिन्न कठिनाइयों में फंसाता रहता है उसका समाधान बाह्य विश्व का परित्याग करने में है। स्वतंत्रता समाज से कुछ पाने की इच्छा नहीं रखती वरन् यह तो मनुष्य की प्रकृति का एक गुण है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व में अंतर्निहित है। सार्त्र के शब्दों में, “स्वतंत्रता मनुष्य के लिए अत्यधिक कष्ट देने वाली वस्तु है, परंतु फिर भी मनुष्य स्वतंत्र रहने का आकांक्षी है। जिस क्षण वह विश्व रंगमंच पर आता है उसी क्षण से वह उन सभी कार्यों के लिए अपने को पूर्णरूप से उत्तरदायी मानता है जो वह करता है।” सार्त्र की यह मान्यता है कि मनुष्य के स्वतंत्र होने तथा उसके स्वतंत्रता के लिए निरंतर संघर्ष करते रहने का तात्पर्य है कि वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष करता रहे। उसकी अपनी स्वतंत्रता तथा अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता में विशेष अंतर नहीं है।

सार्त्र ने अपने अस्तित्ववादी चिंतन की इस धारणा के आधार पर संलग्नता या प्रतिबद्धता के सिद्धांत की संकल्पना भी प्रस्तुत किया। इसके बारे में सार्त्र कहता है, “उस समय की परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं जिनमें दूसरे विश्वयुद्ध की अवधि में फ्रांस गुजर रहा था और वह भयंकर अत्याचार था जो नाजीदल के लोग फ्रांस की जनता पर कर रहे थे।” सार्त्र ने अत्याचार की परिस्थिति से निकलने के लिए संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। उसने अपना साथ देने के लिए फ्रांस की जनता से कहा कि वे संगठित होकर जर्मन आततायियों का सामना करें। स्वतंत्रता तथा संगठन के इन सिद्धांतों की क्रियान्वित हेतु सार्त्र ने समानता के सिद्धांत पर बल दिया। वह कहता है, “मनुष्यों को सभी प्रकार की सुविधाओं का परित्याग करके सर्वहारा की स्थिति अपना लेनी चाहिए।”

(3) हीगल के चिन्तन के विरुद्ध प्रतिक्रिया&इस बारे में सार्त्र का कहना है अस्तित्ववाद का जन्म हीगल के चिन्तन के विरुद्ध किर्कगार्ड की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। हीगल के समक्ष स्वयं को समझ लेने की बड़ी समस्या थी। यह समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब व्यक्ति को समाज के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। व्यक्ति स्वयं ही वास्तविक अभिव्यक्ति उस समय करता है जब समुदाय के साथ वह घुल-मिल जाता है। सार्त्र ने लिख है कि, “व्यैक्तिक जीवन का सम्बंध जीवित रहने से है, बुद्धि से उसे समझा नहीं जा सकता।” सार्त्र इस बात से सहमत है कि, “हीगल के दर्शन के विरुद्ध किर्कगार्ड की प्रतिक्रिया विश्वास के बुद्धिवादी मानवीकरण के विरुद्ध ईसाई रोमान्सवाद की प्रतिक्रिया है।”

इसलिए सार्त्र ने लिखा है, “हीगल और किर्कगार्ड दोनों ही अपने-अपने स्थानों पर ठीक हैं। हीगल इस कारण ठीक है कि उसने किर्कगार्ड के समान खोखली वैयक्तिकता पर बल नहीं दिया बल्कि अपने दर्शन के द्वारा वास्तविकता का प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और किर्कगार्ड इस हेतु ठीक है कि उसने यह बताया कि दुःख, आवश्यकता, वेदना और कष्ट ये सभी वास्तविकताएं हैं। ज्ञान के द्वारा जिनका अतिक्रमण संभव नहीं है, ज्ञान के द्वारा उन स्थितियों में कोई परिवर्तन भी नहीं किया जा सकता है।”

इसलिए सार्त्र ने हीगल तथा किर्कगार्ड इन दोनों की बातों से सहमति जाहिर की। उसने कहा कि हीगल की तुलना में किर्कगार्ड की बात अधिक उपयुक्त थी, क्योंकि उसने चिंतन से वास्तविकता को अधिक महत्त्व दिया है।

(4) मानव चेतना की जाग्रतावस्था&सार्त्र के विचारानुसार, किर्कगार्ड का चिंतन जिस प्रकार हीगल के चिन्तन की प्रतिक्रिया का एक रूप था उसी प्रकार मार्क्स का चिन्तन भी हीगल के चिन्तन की प्रतिक्रिया का द्वितीय रूप था। हीगल ने व्यक्ति के उद्देश्य के साथ अपनी तारतम्यता बढ़ाने पर बल दिया था, परंतु मार्क्स ने अपने को समाज से पृथक् रखने की बात कही थी उसने कहा था, ‘जब उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बंधों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है तो, व्यक्ति की अलगाव की भावना को बल मिलता है।’ सार्त्र ने मार्क्स के इस कथन के विषय में लिखा है, “यदि व्यक्ति अपने विच्छिन्नता की इस भावना से मुक्त करना चाहता है तो उसकी चेतना का जाग्रत हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति कार्य के ठोस माध्यम से ही सम्भव है, परन्तु उसके लिए यह आवश्यक है कि एक क्रांतिकारी परिस्थिति से वह गुजरे।” मार्क्सवाद को कर्म तथा क्रांति से सम्बद्ध करके सार्त्र ने यह बात बताने का प्रयास किया कि किर्कगार्ड तथा हीगल दोनों के सिद्धांत ठीक थे।

(5) औद्योगिक समाज की पृष्ठभूमि का आधार&सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद का उद्भव औद्योगिक समाज की वातावरण में हुआ। लेकिन इसकी खास परिस्थितियों में इसका विकास अवरुद्ध हो गया। सार्त्र ने कहा, “मनुष्य का निर्माण वातावरण तथा स्वतंत्रता के द्वारा होता है, परंतु मनुष्य स्वयं भी अपना निर्माण करता है। अतः व्यक्ति को अस्तित्ववाद के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए। सार्त्र ने मार्क्सवाद का विरोध नहीं किया परंतु वह यह स्वीकार करता है कि मार्क्सवाद अपने आप में एक अधूरा सिद्धांत है और अस्तित्ववाद उसका पूरक है। इस दृष्टि से बर्न्स ने लिखा है, “सार्त्र की मान्यता है कि मार्क्सवाद अपने

आप में एक अधूरा सिद्धांत नहीं है, परंतु विकास की एक स्थिति तक पहुंच कर उसकी गति अवरुद्ध हो गई।”

(6) मार्क्सवाद का कट्टर आलोचक सार्त्र ने मार्क्सवाद की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की आलोचना कट्टरवाद के साथ की है। सार्त्र के शब्दों में, “मार्क्सवाद ने हमें इस प्रकार से अपनी ओर आकर्षित किया जैसे चन्द्रमा लहरों के ज्वार को अपनी ओर खींचता है और हमारे समस्त विचारों में आमूल परिवर्तन कर देने और सभी प्रकार के बुर्जुआ चिन्तन को हमारे अंदर से बिल्कुल निचोड़ देने के बाद उसने हमें अचानक किनारे पर लाकर पटक दिया... उस विशेष परिस्थिति में जिसमें हमें लाकर खड़ा कर दिया गया था, मार्क्सवाद के पास हमें शिक्षा देने के लिए कोई नवीन बात नहीं रह गई थी, क्योंकि उस समय तक उसका विकास सर्वथा रुक गया था।

इसके बारे में आगे सार्त्र ने लिखा है—“परिस्थिति को अधिक गहराई से समझने और उसके परिणामस्वरूप हमें क्या कार्य करना है, उसे जानने के लिए अब मार्क्सवाद का विशेष संदर्भ आवश्यक नहीं रह गया है। मार्क्सवाद की जो अवधारणा आज प्रचलित है उसका आधार भूतकाल के ज्ञान पर है।” इस प्रकार सार्त्र ने अपने दृष्टिकोण से यह सिद्ध किया है कि मार्क्सवाद का सम्बंध इतिहास के विकास क्रम से टूट गया है और उसने अब जड़ सिद्धांत का रूप धारण कर लिया है। सार्त्र ने मार्क्सवादी से असहमति व्यक्त करते हुए इसे जड़, स्थिर तथा विकास शून्य स्वरूप की विचारधारा बताया।

(7) बुद्धिजीवियों की भूमिका का विरोध सार्त्र ने अपने चिंतन में बुद्धिजीवियों की भूमिका को काफी महत्त्व दिया है। बौद्धिक क्रियाकलापों का एक बड़ा उदाहरण वियतनाम युद्ध के समय मिलता है। कुछ बुद्धिजीवियों ने वियतनाम युद्ध के विरुद्ध संस्थाएं बनाईं, नारे लगाये तथा दिखावे किये कि वियतनाम युद्ध किस-किस प्रकार से मानवता का अहित कर रहा है। इसमें डॉक्टर, वैज्ञानिक इतिहासवाद तथा न्यायधीश सभी सम्मिलित थे। सार्त्र इन्हें बुद्धिजीवी के रूप में देखते हैं। इस वर्ग के लोग को प्रत्यक्ष कर्म के पथ पर भी अग्रसर नहीं पाते। बुद्धिजीवियों से सार्त्र सक्रियता की मांग करता है सार्त्र के शब्दों में, “मेमोरेण्डम, हस्ताक्षर करके, जुलूस निकालकर या वियतनामी युद्ध की निंदा करने से क्या होगा? चाहे लाखों लोग इसमें लगे रहें—कहीं कुछ नहीं होगा, किन्तु यदि कुछ चुने गये बौद्धिक गन्दी बस्तियों में जायें, आर्कलैंड पोर्ट में जायें, युद्ध फैक्ट्रियों में जायें तो अंतर अवश्य पड़े। मैं समझता हूँ कि अपने कार्यालय में बैठकर जो बौद्धिक लड़ाई करता है, वह प्रतिक्रांतिकारी है, चाहे वह कुछ भी लिखे। बौद्धिक दायित्व केवल

बौद्धिक देन ही नहीं, वरन् उस सक्रियता में है जहां, वह अपनी सेनाओं को दमितों के लिए समर्पित करता है।”

(8) स्वतंत्रता की अवधारणा मानवीय अस्तित्व के केन्द्र में सार्त्र ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को रखा। सार्त्र के शब्दों में, “यह मानवीय स्वतंत्रता ही है, जो मानव की मानवीयता को सम्भव करती है। अतः हम जिसे स्वतंत्रता कहते हैं, मानवीय आवश्यकताओं से पृथक् नहीं है। यह सत्य नहीं है कि व्यक्ति पहली अवस्थित होता है तथा बाद में क्रमशः स्वतंत्र होता है। व्यक्ति के होने में तथा उसके स्वतंत्र होने में कोई भेद नहीं होता है।” सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता व्यक्ति की सुविधाजनक स्थिति नहीं है। उन्होंने स्वतंत्रता को स्त्री-पुरुष बालक, वृद्ध, बुद्धिमान, सनकी इन सबके अस्तित्व की विशेषता के रूप में देखा।

सार्त्र ने स्वतंत्रता को अपने आप में पूर्ण बताया तथा कहा कि मनुष्य अपना निर्माण खुद करता है। व्यक्ति, पशुओं से इसलिए भिन्न है क्योंकि उसके पास उसकी स्वतंत्रता है जिससे वह अपने मानवीय अस्तित्व की रचना कर सकता है। इस सम्बंध में सार्त्र का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि व्यक्ति का विकास, व्यक्तिगत तथा सामुदायिक रूप से उसके अपने हाथ में है, यह प्रकृति के अन्ध नियमों के अधीन नहीं है। उसके शब्दों में, व्यक्ति पूर्णतया अकेला है तथा पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, अपनी समस्त सम्भावनाओं के साथ वह कोई भी निर्णय ले सकता है तथा प्रत्येक लिए हुए निर्णय के साथ प्रतिबद्धता उसकी अपनी है।”

सार्त्र इस प्रकार की अवधारणा का समर्थन करते हैं कि जिसमें स्वतंत्रता व्यक्ति की जीवन स्थितियों को कभी-कभी समान रूप में यथास्थिति नहीं रहने देती। यह इसे चैन से नहीं बैठने देती है, न ही उसकी कठिनाइयों का सरल निदान खोजने देती है और न ही उसे कभी स्वर्ग मिल सकता है। उसे तो बस निरंतर युद्धरत रहना होगा, संघर्ष करना होगा। इस प्रकार सार्त्र की स्वतंत्रता व्यक्ति को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करती है। उसे बौद्ध या स्टोइक स्वतंत्रता से ग्लानि है क्योंकि उसकी परिणति निवृत्ति अथवा निश्चेष्टा में होती है, स्वतंत्रता विश्व के क्रियाकलापों को अंतर्ग्रस्त करती है तथा सहभाग की मांग करती है।

आलोचना सार्त्र के विचारों की आलोचना इस प्रकार से की जाती है—

1. सार्त्र के विचार बुद्धिवाद के विरोधी हैं। बुद्धिवादियों के योगदान को कम नहीं आंका जाना चाहिए।
2. विज्ञान और धर्म के प्रति अस्तित्ववादियों का अबुद्धिपूर्ण विचार आलोचना का विषय है।

30

हर्बर्ट मारकूजे

संयुक्त राज्य अमेरिका के युवावर्ग पर हर्बर्ट मारकूजे का काफी प्रभाव पड़ा। उसका विचार था कि समग्र के अस्तित्व के लिए व्यक्ति के अस्तित्व को खत्म नहीं किया जाना चाहिए। उसने उत्तर औद्योगिक समाज की व्यवस्था की विवेचना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इस प्रकार के समाज में व्यक्ति छः घंटे कार्य करने के पश्चात् अठारह घंटे स्वतंत्र रहता है, किंतु ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे व्यक्ति एक घंटा कार्य करे और तेईस घंटे स्वतंत्र रहे। मारकूजे कार्य सम्पन्नता की अपेक्षा स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देता है। उसके मतानुसार, अब उत्पादन की तुलना में मानव की स्वतंत्रता महत्त्वपूर्ण हो गई है। हर्बर्ट मारकूजे ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का समर्थन करते हुए यह कहा है कि पूँजीपति श्रमिक को गलत मार्ग की ओर ले जाता है। वह अपने लाभांश की वृद्धि के लिए अधिक उत्पादन कराता है। वह श्रमिकों से अधिकाधिक काम लेने का इच्छुक रहता है। इसके फलस्वरूप किसी भी व्यक्ति को अपने बारे में क्षण भर भी सोचने का अवकाश नहीं मिल रहा है और व्यक्ति का जीवन एक-आयामी बन गया है। मारकूजे सीमित कार्य की व्यवस्था का भी समर्थक था। उसका मत था कि इससे व्यक्ति को अधिक से अधिक अवकाश मिल जाएगा।

जीवन परिचय—हर्बर्ट मारकूजे का जन्म बर्लिन में 1898 में हुआ। उसकी शिक्षा-दीक्षा फ्रीबर्ग विश्व विद्यालय में हुई। बाद में वह रोजा लक्समबर्ग के साथ एक क्रांतिकारी दल का सदस्य हो गया। मैक्स हॉर्की मैन तथा टी. डब्ल्यू एडोनों के

सहयोग से उसने 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र की फ्रेंकफर्ट विचारधारा' की नींव डाली। कुछ समय पश्चात् उसने अमरीका की नागरिकता प्राप्त कर ली और वहाँ ब्रैन्डीज विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक बन गया। 1967 में वह केलिफोर्निया विश्वविद्यालय से जुड़ गया। लेकिन कुछ समय पश्चात् 1968 में उसने पेरिस विश्वविद्यालय की विन्वेन्स स्थित शाखा में प्राध्यापक का कार्य किया। 1979 में मारकूजे की मृत्यु हो गई।

मारकूजे के राजनीतिक विचार

मारकूजे के राजनीतिक विचारों को इन बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है—

आदर्शवादी द्वन्द्ववाद का प्रतिपादन—मारकूजे ने 1968 ई. में पेरिस विश्वविद्यालय की विन्वेन्स-स्थित शाखा में प्राध्यापक का कार्य स्वीकार किया। यहाँ उसने मार्क्स के समान समाज की व्याख्या के लिए हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद के सिद्धांत को स्वीकार किया है, परंतु उसमें और मार्क्स में एक मौलिक अंतर पाया जाता है—मार्क्स भौतिकवादी द्वन्द्ववाद में विश्वास करता है, लेकिन मारकूजे एक ऐसे द्वन्द्ववाद का प्रतिपादन करता है जिसकी परिणति बुद्धिजीवी वर्ग की तानाशाही में होती है। मारकूजे के विचार **एरिक फ्रॉम, डेविड, टीजमैन, हन्ना, आरेन्ट, एरिकसन, सी. राइट मिल्स** और उन सभी लेखकों के विचारों से भिन्न है जिन्होंने वर्तमान समय के औद्योगिक समाज में मानव की स्थिति के संबंध में चिंता व्यक्त की थी, उसके पश्चात् प्रत्यक्ष या परोक्ष औद्योगिक युग की ओर लौटने का सुझाव दिया था। इसके साथ ही मारकूजे का मानना है कि औद्योगिक समाज की दिशा में लौटने से कोई लाभ नहीं है।

साधारण श्रम की महत्ता—मारकूजे की विचारधारा को हीगल तथा मार्क्स की विचारधारा से काफी भिन्न माना जाता है। वह कहता है कि कार्य करने का नियम उस युग के लिए उचित था जब विश्व के औद्योगिक सभ्यता का निर्माण किया गया था और श्रमिक के व्यक्तिगत तथा आर्थिक जीवन को सुधारने की लहर चल रही थी, परंतु आजकल व्यक्ति ने प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया और उत्पादन भी बड़े पैमाने पर होने लगा है। अतः अब व्यक्ति के लिए यह बात उचित नहीं रह गई है कि वह अपना बहुमूल्य समय कार्य करने में व्यतीत कर दे।

मारकूजे का मानना है कि व्यक्ति को साधारण-सा श्रम करना चाहिए। इस दृष्टि से अब अधिक कार्य के विषय में सोचना आवश्यक नहीं रह गया है। अब

तो मानव के समक्ष सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि वह आनन्द व सुख की प्राप्ति करे। निर्धनता को लगभग समाप्त कर दिया गया है और अब समय आ गया है कि अब हम ऐसी सभ्यता का विकास करें जिसमें व्यक्ति सृजनात्मक तथा चिंतनशील विचारों को अभिव्यक्त कर सकें। यदि मनुष्य ऐसा करता है, तो वह प्रकृति के साथ तारतम्य स्थापित करके उच्चकोटि की संस्कृति का निर्माण कर सकता है।

अतिरिक्त दमन का आधार—मारकूजे ने पूँजीपतियों को आदर्श समाज के निर्माण में सबसे बड़ी बाधा के रूप में देखा। उसने पूँजीपतियों को सिर्फ लाभ प्राप्त करने की दिशा में सचेष्ट रहने वाले वर्ग के रूप में देखा। अतः साधारण जनता को पूँजीपतियों के लालच में नहीं आना चाहिए। मारकूजे की मान्यता है कि लालचवश पूँजीपति श्रमिक से अधिक काम लेना चाहता है अतः उसे इस लालच से बचना चाहिए। इसे मारकूजे अतिरिक्त दमन का नाम देता है इसी के साथ-साथ धनी व्यक्ति अधिकांश जनता को वितरण के सीमित साधनों की ओर ले जाते हैं और उनको कष्ट सहने के लिए विवश कर देते हैं। पूँजीपति श्रमिक को निरंतर काम में लगाए रखना चाहता है। अतः आज के समाज में मारकूजे के अनुसार, अतिरिक्त दमन को समाप्त किया जाना चाहिए।

व्यवहार में मार्क्सवाद का विरोध—मारकूजे को व्यवहार में लाये जाने वाले मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी माना जाता है। उसके शब्दों में, “अभाव की स्थिति बनाए रखकर तथा बाह्य खतरों का भय बताकर एक दमनकारी आत्मनिग्रही भौतिकता को लोगों पर बलात् लादा गया है।” वह कहता है कि मार्क्सवाद ने दमन के नवीन साधनों का आविष्कार किया है। इस विचारधारा को तब प्रारंभ किया गया था जब जनता मार्क्सवाद को अच्छा समझती थी, परंतु अब समय में परिवर्तित हो गया है। इस अर्थ में मारकूजे पूँजीवाद का समर्थन करता है। वैसे उसका मत है कि मार्क्सवाद तथा पूँजीवाद दोनों मानव व्यक्तित्व के परम शत्रु हैं। दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति आनन्द की अपनी खोज में पराजय तथा कुण्ठा का अनुभव करता है।

चेतना के विभिन्न स्वरूपों का दोष—मारकूजे के चिंतन की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वह विश्व की संपूर्ण स्थिति के लिए न तो व्यक्तियों को दोषी ठहराता है और न पूँजीवादी या समाजवादी व्यवस्था को। वह कहता है कि संपूर्ण दोष चेतना के उन स्वरूपों का है जिन्होंने आधुनिक मानवों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

मारकूजे का एक-आयामी व्यक्ति—मारकूजे ने इस संदर्भ में एक-आयामी व्यक्ति के सिद्धांत की चर्चा की है। इस सिद्धांत के अनुसार, आज व्यक्ति का

दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। वह लोक-कल्याणकारी राज्य के बारे में साचत हुए, दिन-प्रतिदिन के काम में आने वाली वस्तुओं तथा मजदूर संगठनों के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं देता है। यही कारण है कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत सर्वथा निष्क्रिय हो गया है। वर्तमान समय के औद्योगिक युग का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसने एक ही ढंग से सोचने पर विवश कर दिया है। इसी कारण व्यक्ति की स्थिति आनन्द की नहीं रही है।

परिवर्तन के साधन—मारकूजे ने समाज में बदलाव लाने के लिए क्रान्ति की जरूरत पर बल दिया। क्रान्ति से उसका अभिप्राय है—समाज में आवश्यक रूप से एक ऐसे 'ध्वंसक बहुमत' का निर्माण जो उनके समाज संबंधी विश्लेषण में अन्तर्निहित इस 'यथार्थ सत्य' से परिचित हो।

मारकूजे के अनुसार इसके साधन इस प्रकार हैं—

1. मारकूजे सभी वामपंथी आंदोलनों को अपना खुला समर्थन देता था तथा सभी दक्षिणपंथी आंदोलनों के विरुद्ध हिंसा का समर्थन करता था और उसको प्रोत्साहित करने में विश्वास रखता था।
2. 1960 के दशक में मारकूजे को विद्यार्थियों द्वारा चलाये गए उस आंदोलन का एक प्रमुख नेता माना जाता था, जिसका उद्देश्य न केवल संस्थाओं को बदलना था बल्कि स्वयं मनुष्यों को भी अपने दृष्टिकोणों, भावनाओं, लक्ष्यों तथा मूल्यों सभी को बदलना था। मारकूजे विश्वविद्यालयों में तो हिंसा के विरुद्ध था, परंतु विद्यार्थियों द्वारा विरोध आंदोलनों के संचालन का समर्थक था, क्योंकि वे वर्तमान व्यवस्था की विवेकहीनता का विरोध करते थे। विद्यार्थियों के विद्रोह के समर्थन में उसका तर्क था कि "वही विद्यार्थी जो आज समाज की आलोचना कर रहे हैं, कल उसकी सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों का नेतृत्व करेंगे। तब उनकी आवाज में वजन होगा, उनके हाथों में शक्ति होगी। उपयुक्त अवसर आने पर वे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेंगे।" विद्यार्थियों के आंदोलन का समर्थन मारकूजे ने दो कारणों से किया—
 - (i) वह देश के तरुणों में एक क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का सृजन करना चाहता था।
 - (ii) आने वाली क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में लेने के लिए उन्हें तैयार करना चाहता था।
3. चेतना के वर्तमान स्वरूप से ऊपर उठने तथा एकांगी अथवा 'One dimen-

- sional' चिंतन से मुक्ति पाने की दृष्टि से, मारकूजे ने नकारात्मक चिंतन अथवा 'Negative Thinking' की संकल्पना का विकास किया। उसका विचार था कि जब तक विद्यार्थी उसकी दिशा में सोचना शुरू नहीं करेंगे, तब तक वे आज के मूल्यों के दायरे में ही वस्तुओं को देखने की विविधता में बंधे रहेंगे।
4. यद्यपि समाज में परिवर्तन लाने के लिए मारकूजे ने हिंसा के मार्ग का प्रतिपादन किया, लेकिन उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि हिंसा का संगठन कैसे किया जायेगा और उसकी मंजिलें कौन-सी होंगी।
 5. मारकूजे ने दिसम्बर 1968 के अपने वक्तव्य में इन तीन बातों का उल्लेख किया—
 - (i) वर्तमान स्थिति,
 - (ii) आंदोलन के लक्ष्य तथा
 - (iii) उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधन।

मारकूजे ने इन तत्वों का विस्तार से वर्णन किया है। इस बारे में उसने स्पष्ट किया है कि हमारा मुकाबला “अत्यधिक विकसित पूँजीवाद तथा तकनीकी दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए, एक ऐसे औद्योगिक समाज से है जो बड़े सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित ढंग से काम कर रहा है। इस प्रकार की व्यवस्था का पर्याय समाजवाद ही हो सकता है, लेकिन वह नया समाजवाद न तो स्टालिन के ढंग का होगा और न ही उसके बाद के युग का। वह समाजवाद तो एक बंधनमुक्त समाजवाद होगा।”

मारकूजे ने इस बंधन मुक्त समाजवाद को हासिल करने के लिए इन साधनों का उल्लेख किया है—

1. मारकूजे ने राजनीतिक दलों की स्थापना का विरोध किया। उसकी मान्यता थी कि इन केन्द्रीकृत राजनीतिक दलों के स्थान पर, अलग-अलग शिकायतों की सुनवाई व समाधान के लिए स्थानीय तथा क्षेत्रीय राजनीतिक कार्यवाही की जाए। छुटपुट उपद्रवों, दंगे-फसादों, सीमित विद्रोहों आदि के रूप में जन-आन्दोलन आयोजित किये जाएँ, जिन्हें राजनीतिक निर्देशन के लिए जनता पर तथा नेतृत्व के लिए अधिक उग्रवादी अल्पसंख्यक वर्गों पर निर्भर होना पड़ेगा।
2. वह एक ऐसे गुप्त संगठन बनाये जाने के पक्ष में था जो छोटे-छोटे दलों में बिखरा हो तथा स्थानीय समस्याओं को लेकर समय-समय पर आंदोलन करता रहे यदि यह छोटे-छोटे स्वशासित समूह एक समय पर एक साथ कई केन्द्रों

पर सक्रिय हों और 'छापामार युद्ध' अथवा 'गुरिल्ला वारफेयर' में लग जाँ तो 'बंधनमुक्त समाजवाद' के मूल संगठन का रूप ले सकते हैं।

3. मारकूजे ने इस कार्य के लिए भावी आंदोलनकर्ताओं के राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण पर बल दिया है। उसके मतानुसार यह शिक्षण राजनीतिक भाषा तथा राजनीतिक व्यवस्था की परम्परागत व गुप्त सीमाओं को तोड़ेगा और अपने आपको उस समय के लिए तैयार करेगा जब 'समष्टि पूँजीवाद' अथवा 'एडवांस्ड कैपिटलिज्म' के बढ़ते हुए अन्तर्विरोध उसके दमनपूर्ण संगठन को तोड़ देंगे तथा एक ऐसी संभावना को जन्म देंगे जिसमें 'बंधनमुक्त समाजवाद' की स्थापना का कार्य शुरू किया जा सके लेकिन अपने राजनीतिक उद्देश्यों को अमली जामा पहनाने में मारकूजे सफल नहीं रहा। इसके लिए वह कोई व्यवस्थित दिशा निर्देश भी नहीं दे सका। इसे उसकी सबसे बड़ी कमजोरी माना जाता है।

31

माइकल ऑकशॉट

माइकल ऑकशॉट का जन्म 11 दिसम्बर, 1901 को हुआ। उन्हें आधुनिक परम्परावादी ब्रिटिश विचारक के रूप में देखा जाता है। 1940-45 तक उसने सेना में कार्य किया। माइकेल ऑकशॉट को, जिसने हेरोल्ड लॉस्की की मृत्यु के पश्चात् सन् 1951 ई. में 'लंदन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस' में राजनीति विज्ञान की अध्यक्षता संभाली, एक पक्का रूढ़िवादी राजनीतिक माना गया है। माइकल ऑकशॉट का नाम इंग्लैंड में रूढ़िवादी चिंतन के पुनरुत्थान के साथ मुख्यतः जुड़ा है। ऑकशॉट ने पाश्चात्य सभ्यता के बुद्धिवाद के विरुद्ध आवाज उँची की है तथा इस बात का उपहास किया है कि नियंत्रित बुद्धि द्वारा ही सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संबंधों को समझा जा सकता है। ऑकशॉट की मान्यता है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण ही हमारी अनेक सफलताओं का एक मूल कारण है। ऑकशॉट के अनुसार इतिहास के माध्यम से जाने गए पूर्वाग्रह, परम्परा तथा संगृहीत ज्ञान बुद्धि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि डेविड ईस्टन ने लिखा है, ऑकशॉट का विश्वास है कि राजनीतिक जीवन का ज्ञान कोरी पुस्तकें पढ़कर नहीं किया जा सकता है बल्कि यह राजनीति के कार्यकलापों के माध्यम से प्राप्त होता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों से नहीं बल्कि कार्यों के इतिहास से प्राप्त होता है। ऑकशॉट का विचार विश्लेषण अनुभव पर आधारित है। उसने उन बहु-आयामों के पुनः खोज पर जोर दिया है जिसका निषेध सामान्यतः सभी सिद्धांतवादी तथा स्वीकारवादी लेखकों के द्वारा किया गया है।

माइकल ऑकशॉट के राजनीतिक विचार

माइकल ऑकशॉट को ब्रिटेन में परम्परावादी चिंतन को फिर से शुरू करने का श्रेय प्राप्त है। उसने इस बात से असहमति प्रकट है कि नियंत्रित बुद्धि के द्वारा ही सभी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संबंध समझे जा सकते हैं। वह इस दृष्टिकोण को अनेक असफलताओं का कारण मानता है। उसके अनुसार राजनीतिक दर्शन का कार्य मनुष्य की प्रकृति और सांसारिक नियति का अन्वेषण, समकालीन सभ्यता का आलोचनात्मक विश्लेषण और विवेचना करना आदि है। ऑकशॉट के विचार में राजनीतिक जीवन का ज्ञान मात्र पुस्तकें पढ़ने से संभव नहीं है। राजनीति एक ऐसी गतिविधि है जिसमें समाज की प्रचलित प्रथाओं की निकट जानकारी प्राप्त करके उनका अनुसरण किया जाता है। वह इतिहास के माध्यम से जाने गये पूर्वाग्रहों, परम्पराओं और ज्ञान को बुद्धि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। ऑकशॉट ने अपने अनुभव आधारित विश्लेषण में उन आयामों को फिर से स्थापित करने पर बल दिया है जिन्हें सिद्धांतवादी लेखक प्रायः नजरअंदाज कर देते हैं।

अपनी पुस्तक *Experience and its Modes* ऑकशॉट कहा है कि दर्शन और विज्ञान आधारभूत रूप से ही दो अलग-अलग गतिविधियाँ हैं और इनमें से किसी एक की पद्धतियों को दूसरे में प्रयोग करने की कोई तुक नहीं है, दर्शन वैज्ञानिक चिंतन की पद्धतियों से कुछ नहीं सीख सकता है। व्यवहारवादियों का यह विचार है कि राजनीतिक दर्शन एक प्रगतिशील विज्ञान है। वे मानते हैं कि यह ठोस परिणाम संचित करता है और उनके आधार पर ऐसे परिणामों पर पहुँचता है जो आगामी शोधों का आधार बन सकें। परंतु ऑकशॉट इस मत से सर्वथा असहमति प्रकट करता है। उसके अनुसार राजनीतिक दर्शन इतिहास से निकटता के साथ ही स्वीकृत है। इतिहास से तात्पर्य केवल सिद्धांतों के इतिहास से नहीं है बल्कि दार्शनिकों के द्वारा ढूँढ़ी गयी समस्याओं के इतिहास से तात्पर्य केवल सिद्धांतों के इतिहास से नहीं है बल्कि दार्शनिकों के द्वारा ढूँढ़ी गयी समस्याओं के इतिहास और उनके द्वारा प्रतिपादित समाधान की विधियों के इतिहास से भी है। माइकल ऑकशॉट के राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं—

राजनीति का स्वरूप—ऑकशॉट के विचार में राजनीतिक गतिविधि नागरिक साहचर्य पर आधारित है। राजनीति में समाज की प्रचलित प्रथाओं की निकट जानकारी प्राप्त कर उसका अनुसरण किया जाता है। उनके अनुसार राजनीति में न तो प्रतिदिन क्या करें? कैसे करें? जैसे निर्णय लिये जाते हैं और न ही यह अमूर्त

सिद्धांतों या विचारों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती है। वह राजनीतिक गतिविधि का ध्येय 'राज्य की नाव को गतिमान रखना' मानता है जिसमें धन एवं समृद्धि में वृद्धि सम्मिलित नहीं है।

ऑकशॉट ने अपनी नागरिक साहचर्य की संकल्पना में परम्परा, रीतिरिवाज और इसके पूर्वाग्रहों के प्रति रूढ़िवादी समाज में सम्मान को उदारवादी मूल्यों के साथ देखा है। इसे उसकी पुस्तक Rationalish minpolitics and Other Essays तथा 'On human Conduct' में देखा जा सकता है। उसका मत है कि 'नागरिक साहचर्य' प्रथाओं (practices) से निर्मित होता है। प्रथाएँ नैतिकता और व्यवहार कुशलता से जुड़ी होती हैं। व्यवहार-कुशलता पर आधारित प्रथाएँ जहाँ सामान्य तात्विक उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं, वहीं नैतिक प्रथाएँ किसी अन्य साध्य (end) का साधन (means) नहीं होती हैं। इस प्रकार मानवीय साहचर्य निर्माण के दोनों तरीके एक-दूसरे से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। ऑकशॉट ने समाज में दो प्रकार के साहचर्य का उल्लेख किया है—

(1) **उद्यममूलक साहचर्य**—यह साहचर्य व्यवहार कुशलता पर आधारित हैं। वह व्यक्तियों के किसी ठोस या तात्विक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाये जाते हैं।

(2) **नैतिक साहचर्य**—यह साहचर्य किसी अन्य साध्य का साधन नहीं होते हैं बल्कि यह स्वयं में साध्य होते हैं। नैतिक साहचर्य परस्पर-आश्रित होने के नियमों की सत्ता को मान्यता देते हैं।

राजनीति 'नागरिक साहचर्य' की सत्ता को तो मान्यता देती है परंतु इसमें सर्वगुणसम्पन्न समाज के निर्माण या मानव जाति के उत्थान का लक्ष्य नहीं रखा जाता, क्योंकि यह लक्ष्य उद्यम या व्यवहार कुशलता पर आधारित नहीं है। इसका ध्येय वितरणात्मक न्याय भी नहीं है क्योंकि नागरिक शासक न तो किसी वस्तु के स्वामी होते हैं और न ही कोई वस्तु उनके पास बाँटने के लिए होती है। ऑकशॉट के अनुसार अधिकारों और दायित्वों के औपचारिक वितरण से शक्तियों, अवसरों और सम्पत्ति का तात्विक वितरण संभव नहीं है। ऑकशॉट के विचार में प्रत्येक आधुनिक यूरोपीय राज्य में नैतिक एवं उद्यममूलक दोनों प्रकार के साहचर्य के निर्माण की प्रवृत्तियाँ प्रारंभ से ही पायी जाती हैं। अलग-अलग राज्यों तथा अलग-अलग समय पर किसी प्रकार के साहचर्य की प्रधानता पायी गयी है, यद्यपि दूसरे प्रकार के साहचर्य सर्वथा अनुपस्थित नहीं था।

32

क्लाद् लेवी-स्ट्रॉस

क्लाद् लेवी स्ट्रॉस को फ्रांसीसी संरचनावाद का प्रणेता माना जाता है। वह मानवशास्त्री था। यद्यपि उसने जिस संरचनावाद को विकसित किया है, उसके अनेक प्रकार हैं। परंतु उस पर बहुत अधिक प्रभाव फर्निनेंड डी सोसोरे और रोलेण्ड बार्थूस का था। उसका संरचनावाद भाषाई संरचनावाद से जुड़ा हुआ है। क्लाद् लेवी-स्ट्रॉस ने अपनी संरचना की इस अवधारणा को संचार व्यवस्था पर भी लागू किया है।

क्लाद् लेवी स्ट्रॉस ने अपने अकादमिक जीवन की शुरुआत एक अनुसंधान कर्ता के रूप में किया। 1930 में वह मानवशास्त्र में प्रोफेसर बन गया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान वह अमरीका में रहा और 1950 में वह फिर प्रोफेसर बनकर फ्रांस आ गया। यदि विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाए तो स्ट्रॉस की कृतियों में संरचनावाद की दो धाराएँ दिखाई देती हैं। पहली धारा विश्लेषणात्मक है। इसमें वह सामाजिक संगठन और विचारों के प्रतिमान में जो संरचना है, उसे उघाड़ने का प्रयास करता है। दूसरी धारा क्षेत्रीय कार्य की है। इसमें वह आदिवासी संस्कृति में अपनी भागीदारी करता है और फील्डवर्क में जो कुछ प्राप्त होता है उसके आधार पर संरचनावाद के सिद्धांत को विकसित करता है। इसी फील्डवर्क के ज्ञान के आधार पर वह मानता है कि नातेदारी व्यवस्था में विनिमय की अवधारणा पाई जाती है। क्लाद् की उपलब्धियाँ मूलतः आनुभाविक रही थी जिसकी बुनियाद पर उसका कहना है कि आधुनिक संस्कृति हमारी परम्परागत संस्कृति को ध्वस्त करती है।

संरचनावाद का अर्थ—संरचनावादी सिद्धान्त के उद्गम के मूल में जीन पॉल सार्त्र का अस्तित्ववाद रहा है। सार्त्र का अस्तित्ववादी सिद्धांत व्यक्ति पर केन्द्रित था।

इन विषयों के अध्ययन में संरचना का प्रयोग किया जाता है। उसने कहा कि व्यक्ति जो कुछ करता है, उसका निर्णय वह स्वयं करता है। समाज और सामाजिक संरचना का इसमें कोई हाथ नहीं होता। सार्त्र ने अपनी पुस्तक *Being and Nothingness* में बताया कि यद्यपि मनुष्य अपने आप में स्वतंत्र है फिर भी उस पर दमनकारी संरचना का बहुत बड़ा दबाव पड़ता है। यह दमन उसका अलगाव पैदा कर देता है और उसकी गतिविधियाँ बँधी हुई और सीमित हो जाती हैं।

इन विषयों के अध्ययन में संरचना का प्रयोग किया जाता है—दर्शन शाखा, सामाजिक सिद्धांत, भाषा विज्ञान, साहित्यिक आलोचना, संस्कृति विश्लेषण, मनोविश्लेषण, इतिहास, ज्ञान का दर्शन, मानवशास्त्र इत्यादि। ऐसी अवस्था में संरचना की कोई निर्बाध परिभाषा देना जो सभी विधाओं पर समान रूप से लागू हो जाए, बहुत कठिन है।

एस. एफ. नडेल के अनुसार, “संरचना का तात्पर्य है : भागों का व्यवस्थित रूप में जमा होना। यह संरचना सामान्यतया अपरिवर्तित होती है, जबकि इसके भाग साधारण रूप से परिवर्तनशील होते हैं।”

दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के व्यवहार पर समाज का नियंत्रण होता है, लेकिन समाज बहुत विशाल होता है, इस समाज के विभिन्न नियम-उपनियम संस्था का रूप ले लेते हैं। इस भाँति देखें तो सामाजिक संरचना सामाजिक संबंधों की एक बनावट है और यह बनावट ही व्यक्तियों के व्यवहार को निर्धारित करती है और नडेल इन्हीं को सामाजिक संरचना कहता है।

सी. लेवीस्ट्रॉस के अनुसार मानव प्रकृति

अपनी पुस्तक ‘एलीमेण्टरी स्ट्रक्चर्स ऑफ किनशिप में लेवी स्ट्रॉस ने संरचना के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है इनमें—

प्रथम, संरचना वह है जिसका निर्माण सामाजिक संस्थाओं एवं संगठनों द्वारा होता है। इन संस्थाओं को मानवशास्त्री व समाजशास्त्री वास्तविक मानते हैं।

दूसरी, वह है जिसमें संरचनाओं के मॉडल होते हैं।

तीसरी, वह है जो मनुष्य के मस्तिष्क के द्वारा निर्मित होता है।

स्ट्रॉस का संरचनावाद आदिम समाज व्यवस्था पर पूरी तरह लागू होता है। उसका मत है कि शब्दों के विनिमय की तरह विवाह में जीवनसाथी का विनिमय पाया जाता है।

मानव प्रकृति के नियम

स्ट्रॉस ने मानव प्रकृति के तीन नियमों का उल्लेख किया हैं—

1. सभी संबंधों में व्यक्तियों को कुछ न कुछ लागत देनी पड़ती है लेकिन इस लागत के आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों के अतिरिक्त समाज की भी कुछ लागत होती है। स्ट्रॉस इस लागत को समाज की परम्पराएँ, नियम, उपनियम, व रीति-रिवाज तथा मूल्य कहते हैं। यह सभी सामाजिक लागतें व्यक्ति को अपने व्यवहार द्वारा चुकानी पड़ती हैं। यदि व्यक्ति समाज के मानकों, मूल्यों और परम्पराओं का पालन नहीं करते तो वे समाज का कर्ज नहीं चुकाते हैं अतः ऐसे व्यक्ति को समाज दण्डित करता है तथा उसकी निन्दा की जाती है।
2. व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसके जो भी स्रोत हैं उसके निजी स्रोत नहीं होते बल्कि इन स्रोतों पर समाज का नियंत्रण होता है। जैसे ही समाज में स्रोत कम होने लगते हैं, इन स्रोतों को काम में लेने वाले व्यक्तियों की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।
स्ट्रॉस का मत है कि समाज में जो भी भौतिक एवं अभौतिक स्रोत हैं, सबका स्वामित्व एवं नियंत्रण समाज का होता है। इनका पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है।
3. विनिमय व्यवहार में पारस्परिकता होती है। इस पारस्परिकता को बनाये रखने का श्रेय समाज को होता है।
स्ट्रॉस का मानना था कि इन तीन नियमों का उद्देश्य मूलतः व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करना है।

33

राष्ट्रवाद

श्रमिक संघवाद की उत्पत्ति मार्क्सवाद एवं अराजकतावाद की प्रेरणा से ही संभव हुई है तथापि यह दोनों सर्वथा पृथक् हैं। श्रमिक संघवाद वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के खिलाफ है।

संसार के आधुनिक राज्य राष्ट्रीय राज्य हैं तथा राष्ट्रवाद बीसवीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली विचार कहा जा सकता है। अपने सार्वजनिक कार्य तथा व्यवहार में हम राष्ट्रवाद के भाव से प्रेरित होते हैं और यह भाव आज मनुष्य-मनुष्य के बीच का ही नहीं वरन् राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी नियामक बन गया है। राष्ट्रवाद का यह भाव अपने सात्विक रूप में अन्तर्राष्ट्रवाद का सहयोग है और नागरिकों में देशभक्ति तथा देश-प्रेम की उमंग उत्पन्न करता है, परंतु यही भाव जब उग्र रूप धारण कर लेता है तो इसके परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद और महाविनाशक युद्ध होते हैं? आधुनिक सदी की सबसे अलग महत्त्वपूर्ण समस्या राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद में एकरूपता उत्पन्न करना ही है।

राष्ट्र क्या है?

साधारणतया राज्य तथा राष्ट्र को पर्यायवाची समझ लिया जाता है, एकरूपता के दृष्टिकोण से राज्य और राष्ट्र दो अलग इकाइयां हैं तथा इन दोनों में अन्तर किया जाना चाहिए। राष्ट्र के आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'नेशन' की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है जन्म या जाति। शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर कुछ

लोग राष्ट्र का अर्थ एक निश्चित भौगोलिक सीमा में रहने वाली जाति से लेते हैं, परंतु यह अर्थ अशुद्ध और संकीर्ण है। 'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या व्यापक दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। 'राष्ट्र' शब्द में एक राजनीतिक धारणा छिपी हुई है तथा राष्ट्र केवल उसी जाति अथवा भौगोलिक सीमा में रहने वाले समूह को कहा जा सकता है, जिसको राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त हो। गिलक्राइस्ट का कहना है कि राज्य और कुछ मिलकर राष्ट्र बनता है। राज्य में जब जनता की एकता का भाव होता है तो वह मिलकर राष्ट्र बनता है। परंतु ब्राइस जैसे कुछ लेखकों का कहना है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भी यदि किसी देश की जनता में राजनीतिक प्रभुत्व पर अधिकार करने की भावना हो, तो उसे भी राष्ट्र कहा जा सकता है। उनका कहना है कि राष्ट्र एक ऐसी संस्था है जो राजनीतिक समुदाय के रूप में संगठित और स्वतन्त्र हो या स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती है।

एक राष्ट्र के लिए राजनीतिक प्रभुत्व अथवा सांस्कृतिक व सामाजिक एकता भी बहुत अधिक आवश्यक है। राष्ट्र के सारे सदस्यों में एकता की एक ऐसी भावना होनी चाहिए, जिसके आधार पर वे एक ही सरकार के अधीन रहना चाहें। जॉन स्टुअर्ट मिल ने राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार की है, राष्ट्र मनुष्य जाति का एक ऐसा भाग है जो अन्य लोगों की तुलना में एक-दूसरे के समान सहानुभूति के धागे में जुड़ा है और जिनमें एक ही समान सरकार के अधीन रहने की तीव्र इच्छा हो।

इसी प्रकार रैम्जे म्योर का कहना है कि राष्ट्र व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं, जो कुछ विशेष सम्बन्धों के कारण स्वाभाविक एकता का अनुभव करते हैं। वे सम्बन्ध उनके लिए इतने मजबूत वास्तविक हैं कि इसके आधार पर वे साथ-साथ प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं। यदि उन्हें अलग-अलग कर दिया जाए, तो वे दुःख तथा असन्तोष अनुभव करते हैं और उन मनुष्यों की अधीनता सहन नहीं करते, जो उनके इन सम्बन्धों में भागीदार नहीं।

राष्ट्रीयता

सामान्य तौर पर राष्ट्र और राष्ट्रीयता को भी एक ही समझने की भूल की जाती है, परंतु इनमें आधारभूत अन्तर है। राष्ट्र एक राजनीतिक सोच है, जबकि राष्ट्रीयता अपने मूल रूप में एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक भावना है। राष्ट्रीयता विभिन्नता में एकता का तत्व रूप है। राष्ट्रीयता, भाषा, संस्कृति, धर्म, परम्परागत रीति-रिवाज तथा सामान्य भूमि, आदि के प्रति मानवीय भावनाओं का मिला-जुला रूप है। आधुनिक समय में राष्ट्रीयता का अर्थ हम एक ऐसी आध्यात्मिक भावना से लेते

हैं जो किसी भू-भाग के नागरिकों के जीवन तथा आदर्शों से जुड़ी रहती है तथा सम्पूर्ण समाज का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक कल्याण चाहती है। विद्वान जिमर्न ने राष्ट्रीयता को परिभाषित करते हुए कहा है कि राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं है। आवश्यक रूप से यह एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की भांति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है और विचार करने, जीवित रहने और अनुभव करने का एक तरीका है।

प्रो. जे. एच. ने राष्ट्रीयता की परिभाषा बड़े सरल शब्दों में की है। वे लिखते हैं— कि राष्ट्रीयता हृदयों की वह एकता है जो एक बार बनने के बाद कभी भी नहीं टूटती है।

राष्ट्रीयता से सम्बन्धित इन परिभाषाओं के शब्दों में एक-दूसरे से बहुत अधिक अंतर होते हुए भी इन परिभाषाओं में यह बात सामान्यतः पायी जाती है कि राष्ट्रीयता एक होने की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावना है। डॉ. बेनीप्रसाद का कहना है कि राष्ट्रीयता की निश्चित परिभाषा करना अत्यंत कठिन है, लेकिन यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक क्रम में यह पृथक् अस्तित्व की उस चेतना का प्रतीक है जो सामान्य आदतों, परम्परागत रीति-रिवाजों, स्मृतियों आकांक्षाओं अवर्णनीय सांस्कृतिक सम्प्रदायों तथा हितों पर आधारित है।

राष्ट्रीयता का इतिहास

राष्ट्रीयता की भावना का विकास कब और कैसे हुआ इस बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। सामान्य अनुमान के अनुसार केवल यही कहना संभव हो सकता है कि प्राचीनकाल में राष्ट्रीयता का विकास तब हुआ होगा, जब लोगों ने अपनी मूल सामाजिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप समूहों और कबीलों में रहना आरंभ किया। परंतु यूनान के नगर राज्यों की परम्परा ने राष्ट्रीयता की जगह पर स्थानीयता की प्रवृत्ति को जन्म दिया और रोमवासियों की राष्ट्रीय प्रवृत्ति भी विशाल साम्राज्य की स्थापना के साथ लुप्तप्राय हो गयी। इसी प्रकार मध्ययुग भी पोप और राजाओं के पारस्परिक युद्ध के कारण राष्ट्रीयता के विकास के लिए अशुभ सिद्ध हुआ।

इटालियन विचारक तथा राजनीतिक मैकियावेली (1469-1527) को वर्तमान युग का प्रथम राष्ट्रवादी कहा जा सकता है। उसने इटली की जनता में राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने की दिशा में बहुत कुछ सीमा तक सफलता प्राप्त की। इसी समय ब्रिटेन और फ्रांस के सप्तवर्षीय युद्ध ने इन दोनों में राष्ट्रीयता की भावना का

विकास किया। 18वीं सदी के अन्त में यूरोप के इतिहास में पोलैण्ड के बंटवारे की दर्दनाक घटना घटी। पोलैण्ड के इस अन्यायपूर्ण विभाजन से पोलिश जनता में राष्ट्रीयता की प्रचण्ड भावना का विकास हुआ तथा पोलिश राष्ट्रवाद ने यूरोप के सामने राष्ट्रीयता का एक नया चित्र प्रस्तुत किया।

सन् 1789 की फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। यूरोप की यह लहर अटलाण्टिक महासागर के पार अमरीका तक पहुंची तथा फ्रांस एवं अमरीका की क्रान्तियों की इन लपेटों ने संपूर्ण विश्व में प्रबल राष्ट्रीय भावना जागृत की। नेपोलियन की नीति भी रूस, जर्मनी, इटली तथा स्पेन आदि देशों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई। इसी समय बिस्मार्क ने अपनी लौह तथा रक्त नीति के बल पर जर्मनी का एकीकरण किया। मैजिनी, गेरीबाल्डी और केबूर ने इटली में राष्ट्रीय भावना को जागृत करके उसके एकीकरण को पूरा किया। उन्नीसवीं सदी में तो राष्ट्रीयता राज्यों के संगठन की आधारशिला बन बैठी। धीरे-धीरे यूरोप के सभी राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर एक हुए और उन्होंने नवीन राजनीतिक इकाइयों का रूप प्राप्त किया। 1980 के बाद औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक नये प्रकार के राष्ट्रवाद का जन्म हुआ, जिसे आर्थिक राष्ट्रवाद की संज्ञा दी जा सकती है।

बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की यह भावना एशिया और अफ्रीका में तीव्र गति से बढ़ने लगी और द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तो एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीयता का ज्वार सा आ गया। राष्ट्रीयता की प्रबलता के कारण स्वतन्त्रता संग्राम आरंभ हुए और इसी राष्ट्रीयता की भावना के कारण वर्तमान एशिया तथा अफ्रीका के अधिकतर देश स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं तथा शेष परतन्त्र राज्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। राष्ट्रीयता की यह भावना आधुनिक युग में रंगभेद और आर्थिक शोषण आदि के विरुद्ध भी संघर्ष कर रही है।

राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व

लॉस्की का कहना है कि राष्ट्रीयता के विचार को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि ऐसे कोई निश्चित तत्व नहीं हैं जिनमें इसकी खोज हो सके। राष्ट्रीयता एक भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक विषय है और राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्वों के सम्बन्ध में कोई सर्वव्यापक और सर्वमान्य नियम नहीं है। इससे संबंधित केवल कुछ ऐसे सामान्य तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है जो यद्यपि राष्ट्रीयता के लिए जरूरी नहीं हैं, परंतु जिनमें से कुछ की उपलब्धता के बिना राष्ट्रीयता का

अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। इन तत्वों को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं—

(1) धार्मिक एकता राष्ट्रीयता के विकास में धर्म का एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहूदियों, तुर्कों और अरबों में राष्ट्रीयता का विकास मुख्य रूप से धर्म के कारण ही हुआ और पूर्व के अनेक देशों में तो अब तक भी धर्म को राष्ट्रीयता का एक मुख्य निर्माणक तत्व माना जाता है। परन्तु अब पश्चिमी देशों में धर्म का प्रभाव बहुत कम हो गया है। अमरीका के राष्ट्रीय जीवन में धर्म ने शायद ही कभी प्रवेश किया हो। इस प्रकार धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण में अब पहले की तरह महत्वपूर्ण तत्व नहीं रहा। हेज के अनुसार अधिकांश रूप में वर्तमान राष्ट्रीयता धार्मिक विश्वास अथवा कार्यों की एकरूपता पर बिना जोर दिए ही फल-फूल रही है। राष्ट्रीयता पर धर्म के सम्बन्ध में रैम्जे म्योर का कहना है कि जहां कुछ उदाहरणों में धार्मिक एकता ने राष्ट्रीय एकता को जन्म देने और उसे सबल बनाने में बहुत योगदान दिया है, वहां दूसरे उदाहरणों में धार्मिक विद्वेष ने राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भारी विरोध उत्पन्न किए हैं। सम्पूर्ण स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि धर्म अब राष्ट्रों के निर्माण में प्रथम महत्त्व का तत्व नहीं रह गया है।

(2) सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएं राष्ट्रीयता के विकास में सामान्य संस्कृति और परम्पराओं का भी बहुत अधिक महत्त्व है। सामान्य संस्कृति का अर्थ उन आचार-विचार एवं रीति-रिवाजों से होता है जो एक समूह के मनुष्यों को एक सूत्र में बांधे रहते हैं। सामान्य साहित्य तथा इतिहास भी इसके अन्तर्गत है। सामान्य सांस्कृतिक तथा परम्पराओं के द्वारा मनुष्य में सहयोग तथा एकता की भावनाओं का विकास होता है तथा इस सांस्कृतिक परम्पराओं के द्वारा मनुष्य में सहयोग तथा एकता की भावनाएं विकसित होती हैं तथा इस सांस्कृतिक चेतना के आधार पर ही राजनीतिक चेतना का विकास सम्भव होता है। राष्ट्रीय इतिहास और सामान्य परम्पराएं इनमें एक ऐसे दृष्टिकोण का विकास करती हैं, जिसके द्वारा सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण की उत्पत्ति होती है। जे. एस. मिल का कथन है कि सामान्य सांस्कृतिक परम्पराएं और इतिहास राष्ट्रीयता के एकमात्र आवश्यक और जरूरी तत्व हैं। सामान्य परम्पराओं और एक निश्चित मस्तिष्क तथा चरित्र में प्रदर्शित होने वाली निश्चित संस्कृति के बिना राष्ट्रीयता की भावना का विकास असंभव है।

(3) भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के विकास में भौगोलिक एकता का भी

महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। सर्वप्रथम तो भौगोलिक स्थिति और जलवायु का मनुष्यों के चरित्र और शारीरिक गठन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे मनोवैज्ञानिक कारण उत्पन्न होते हैं जो सामान्य राष्ट्रीयता के भाव को जन्म देते हैं। व्यक्ति अपने समीप के लोगों को जितना समझ सकते हैं और उनके प्रति उसमें जिस प्रकार की सहानुभूति पैदा हो सकती है, वह दूर बसे हुए लोगों के प्रति असंभव है। वस्तुतः देश की प्राकृतिक सीमाएं राष्ट्रीयता के विकास में अधिक बलशाली सिद्ध हुई हैं और हर मनुष्य में अपनी जन्मभूमि के प्रति अगाध प्रेम होता है। भारत या भारतमाता जैसे शब्दों को सुनकर हमारे शरीर में स्फूर्ति और उल्लास का जो संचार होता है, वह इस बात का प्रमाण है। मैजिनी का कहना है कि, हमारी जन्मभूमि ही हमारा घर है—ऐसा घर जो ईश्वर ने दिया है। उनमें एक ऐसे परिवार का स्थान दिया है, जिसका हमारे प्रति तथा हमारा उनके प्रति अगाध प्रेम है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, एक निश्चित भू भाग पर निरन्तर एक साथ रहना राष्ट्र के विकास के लिए परम आवश्यक है।

परंतु इसके कुछ अपवाद भी हैं। 1948 तक यहूदियों के पास अपना कोई देश नहीं था, परंतु फिर भी उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी। इसी प्रकार जर्मनी और फ्रांस के बीच की सीमा प्राकृतिक नहीं है, फिर भी इन राज्यों के निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल रूप में विद्यमान है। लेकिन इन अपवादों के बावजूद सामान्य भौगोलिक एकता को राष्ट्रीयता के निर्माण में एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व मानना ही होगा।

(4) भाषा की एकता भाषा की एकता भी राष्ट्रीयता का एक महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्व है और राष्ट्रीयता के विकास में जातीय एकता की अपेक्षा भाषा की एकता का महत्त्व अधिक है। रैम्जे म्योर का कहना है कि, राष्ट्र के निर्माण में भाषा जाति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। बर्नार्ड जोजफ का कथन है कि भाषा राष्ट्रीयता का सबसे शक्तिशाली तत्व है। फिक्टने ने तो यहां तक कहा है कि राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु है, वह परमात्मा के मन की अभिव्यक्ति है, इस एकता का मुख्य बन्धन भाषा है। भारत में भी प्रबल जनमत के कारण भाषा के आधार पर राज्यों की जो रचना की गयी, उससे राष्ट्रीयता के निर्माण में भाषा का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है। सामान्य भाषा ऐतिहासिक परम्पराओं को जीवित रखने में सहायक होती है और जिससे एक ऐसे राष्ट्रीयता का विकास होता है। परंतु सामान्य भाषा के बिना भी राष्ट्रीयता का विकास हो

सकता है और एक भाषा क्षेत्र भी अलग-अलग राष्ट्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ स्विटजरलैण्ड और भारत में एक से अधिक भाषाएं प्रचलित होने पर भी ये एक राष्ट्र हैं, दूसरी ओर अमरीका और कनाडा में एक ही भाषा बोली जाने पर भी ये अलग-अलग राष्ट्र हैं।

(5) जातीय एकता जातीय एकता भी राष्ट्रीयता के निर्माण में एक जरूरी तत्व है तथा एक लम्बे समय तक इसे राष्ट्रीयता का एक आधार माना जाता रहा है। जिर्मन राष्ट्रीयता के विकास में जातीय एकता के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, राष्ट्रीयता में एक विशेष प्रकार की अत्यधिक चेतना का भाव विद्यमान होता है, जिसमें समान जातीयता का तत्व सबसे अधिक जरूरी है।

परंतु दिन-प्रतिदिन राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्व के रूप में जातीयता का महत्त्व कम होता जा रहा है और प्रो. हेज के शब्दों को देखें तो यह स्पष्ट होता है कि कहीं रक्त की पवित्रता मिल सकती है, तो वह केवल असभ्य जातियों के मध्य में ही सम्भव है। पिल्सबरी और रैम्जे म्योर द्वारा भी इसी प्रकार का विचार स्पष्ट किया गया है। स्विटजरलैण्ड, कनाडा, ब्रिटेन, उनमें राष्ट्रीय एकता के दृढ़ भाव दिखायी देते हैं तथा जातीय एकता का आधार मात्र एक कल्पना ही है। प्रो. जोजफ का कथन है कि राष्ट्रीयता जातीयता को छोड़कर पार निकल जाती है। इस सम्बन्ध में गार्नर का कहना है कि वंश केवल एक भौतिक तत्व है, जबकि राष्ट्रीयता आध्यात्मिकतापूर्ण और एक मिश्रित तत्व है। वंश और राष्ट्र को एक समझना चारित्रिक सद्विवेक को आंगिक जीवन के अधीन बनाना और पशुवृत्ति को उभारना है।

(6) सामान्य आर्थिक हित आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के निर्माण में आर्थिक तत्व को पूर्ण शक्तिशाली माना जाता है और जापानी एवं ऑस्ट्रेलियन राष्ट्रीयता का विकास प्रमुख रूप से सामान्य आर्थिक हितों के आधार पर ही संभव है। सामान्य आर्थिक हित मनुष्यों में अपने हितों के प्रति चेतना उत्पन्न करते और उन्हें एकबद्ध रहने के लिए प्रेरित करते हैं।

राष्ट्रीयता के निर्माण में सामान्य आर्थिक हित का महत्त्व होने पर भी इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि अकेले सामान्य आर्थिक हित राष्ट्रीयता का निर्माण कर सकते हैं। डॉ. आशीर्वादम का कथन है, यदि आर्थिक हित ही राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए पर्याप्त हों तो हमें अनेक ऐसी राष्ट्रीय जातियों की आशा करना चाहिए, जिनका निर्माण या तो केवल श्रमिकों द्वारा या केवल पूंजीपतियों द्वारा संभव है। रेनान ने सत्य ही कहा है कि आर्थिक हितों की एकता एक कस्टम संघ का निर्माण तो कर सकती है परन्तु एक राष्ट्र का नहीं।

(7) राजनीतिक चेतना तथा आकांक्षाएं सामान्य राजनीतिक चेतना और आकांक्षाएं भी राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। राष्ट्रीयता के विकास में यह राजनीतिक तत्व दो प्रकार से कार्य करता है। प्रथम, भूतकालीन राजनीतिक जीवन की समानता के रूप में और द्वितीय भविष्यकालीन राजनीतिक जीवन की आकांक्षाओं, समस्त भारतीयों के समान राजनीतिक जीवन की स्थापना और लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना ने भारतीयों को राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधने का कार्य किया। परंतु राष्ट्रीयता के विकास में अकेला यह तत्व बहुत अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकता।

ऊपर जिन तत्वों की विवेचना की गयी है, ये राष्ट्रीयता के विकास और निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं, परंतु ये सीमा तत्व राष्ट्रीयता के लिए जरूरी नहीं हैं। डूगल महोदय का कहना है कि राष्ट्रीयता की वास्तविक खोज भौगोलिक प्रदेश, वंश, भाषा, इतिहास या आर्थिक समानता आदि में करना अनुचित है। इनमें से प्रत्येक और ये सभी तत्व यद्यपि वास्तविक और महत्वपूर्ण होते हैं और इतिहास के निर्माण एवं राष्ट्रों के अस्तित्व पर इनके द्वारा प्रभाव डाला जाता है, लेकिन राष्ट्रीयता के निर्माण में ये तत्व अप्रत्यक्ष रूप से प्राणियों के भावों, विचारों, विश्वासों और अनुभवों को प्रभावित करते हुए ही भाग लेते हैं।

राष्ट्रीयता के निर्माण में कौन-सा तत्व अधिक सहायक होता है और कौन-सा कम, यह विवाद बिल्कुल आवश्यक है। वास्तव में राष्ट्रीयता के निर्माणकारी तत्वों की उपमा उस ताने-बाने से दी जा सकती है जो अनेक धागों से बुना जाता है और जिसके बुनने की प्रक्रिया इतनी स्पष्ट नहीं होती है कि यह बताना अत्यन्त कठिन होता है कि उस ताने-बाने को कौन से धागे ने दूसरे धागे से अधिक मजबूत बनाया है। वस्तुतः यह लोगों के आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवन का भेद है, जिसे समझना मुश्किल है।

(8) सामान्य आधिपत्य तथा कष्ट राष्ट्रीयता के विकास में सामान्य आधिपत्य और कष्टों का भी कोई महत्व नहीं है। विदेशी शासन के प्रति घृणा के भाव, समान शत्रु तथा आर्थिक अवनति की सामान्य दशा नागरिकों में एकता की भावना उत्पन्न करती है। भारत में राष्ट्रीयता के विकास के जहां अन्य कारण थे, वहां ब्रिटिश शासन का संगठित आतंक तथा प्रशासन में विदेशी भावना भी इसका कारण था। घाना और सोमालिलैण्ड जैसे राष्ट्रों का निर्माण तो इसी भावना के आधार पर हुआ है।

परंतु शासन उत्पीड़न तथा कष्ट सदैव राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में सफल सिद्ध नहीं होते और प्रो. जोजफ के शब्दों में यह स्पष्ट कर सकते हैं कि किसी एक समूह का उत्पीड़न स्वतः ही उसे राष्ट्रीयता में बदल देता है।

क्या भारत एक राष्ट्र है?

अनेक बार विदेशियों और कभी-कभी स्वयं भारतवासियों द्वारा भी यह प्रश्न किया जाता है कि राजनीतिक दृष्टि से एक राष्ट्रीय इकाई होते हुए भी क्या सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक राष्ट्र है? भारत देश के अन्तर्गत जो विभिन्न धर्म जातियां, भाषाएं, पहनावे, रीति-रिवाज और जीवनक्रम है, उनसे उनके सन्देह को बल प्राप्त होता है और वे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि भारत तो एक राष्ट्र न होकर एक उपमहाद्वीप है, जिसमें विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीयताएं निवास करती हैं। भारत के एक राष्ट्र होने में इसी प्रकार का एक सन्देह एक अमेरिकी विद्वान सेलिंग ने स्पष्ट किया है।

वास्तव में इस प्रकार का सन्देह राष्ट्रीयता के विचार तथा भारतीय संस्कृति के सतही अध्ययन पर आधारित है। राष्ट्र या राष्ट्रीयता का मतलब, भाषा, धर्म या जाति की समानता से नहीं, बल्कि देश के नागरिकों के मन और मस्तिष्क में विद्यमान आधारभूत एकता की भावना से होता है। इसके अलावा भाषा, धर्म, जाति और रीति-रिवाजों की विभिन्नता के होते हुए भी हमारे देश में एक आधारभूत एकता मौजूद रही है और वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक एकता के इस भाव को सरल और स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। न केवल भारतीय वरन् गूढ़ दृष्टि के विदेशी विवेचक भी इस आधारभूत एकता को स्वीकार करते हैं। सर हर्बर्ट रिजले का कहना है कि भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक और शारीरिक विभिन्नताओं के होते हुए भी, जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देखने को मिलती है। वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र सामने है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेण्ट स्मिथ ने भी यही विचार स्पष्ट किया है।

विभिन्नता में एकता सदैव से भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है और ब्रिटिश शासनकाल में एक-सी भाषा, एक-सी कठिनाइयों में पलकर हमारी राष्ट्रीयता मजबूत ही हुई है। अभी भी प्रान्तीयता, भाषा और धर्म के झगड़ों से ग्रस्त देश के सामने जब 1962 में चीनी आक्रमण, 1965 में पाक आक्रमण और दिसम्बर 1971

में पुनः पाक से सैनिक संघर्ष की चुनौती आयी तो पूरा देश एक इकाई के रूप में आक्रमण का सामना करने के लिए खड़ा हुआ। मातृभूमि के प्रति अपनापन और एकता का यह प्रमाण है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारत निःसन्देह एक राष्ट्र रहा है और आज भी है।

राष्ट्र आत्मनिर्णय का सिद्धान्त या एक राष्ट्र, एक राज्य सिद्धान्त राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि प्रत्येक राष्ट्रीय जाति की अपनी विशेषताएं होती हैं, उसका अपना एक अलग उद्देश्य और व्यक्तित्व होता है अतः प्रत्येक राष्ट्रीय जाति को स्वयं अपने भाग्य का निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उसे अपना संविधान बनाने और शासन का स्वरूप चुनने का अधिकार होना चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल, मैजिनी, नेपोलियन तृतीय और राष्ट्रपति विल्सन इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक रहे हैं।

मिल ने अपनी पुस्तक प्रतिनिध्यात्मक शासन में इस सिद्धान्त का पूरजोर समर्थन किया है। उनका मानना है कि प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित राज्यों में ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं। अपने विचार के आधार पर उन्होंने कहा है कि स्वतन्त्र संस्थाओं की यह आवश्यक शर्त है कि शासकीय सीमाएं मोटे रूप से राष्ट्रीयता की सीमाओं के जैसा हो। विभिन्न राष्ट्रीय जातियों वाले देश में स्वतन्त्र संस्थाओं का पनपना अत्यंत कठिन है। जहां कहीं थोड़े से भी शक्तिशाली रूप में राष्ट्रीयता का विचार पाया जाए, वहां की उस राष्ट्रीयता के सब सदस्यों को उनकी ही एक सरकार के अन्तर्गत इकट्ठा किया जाना चाहिए। इसका अर्थ केवल यह कहना है कि शासन के प्रश्न का निर्णय शासितों द्वारा संभव है। मिल के समान ही मैजिनी तथा नेपोलियन तृतीय की मांग थी कि राष्ट्रीय तथा राजकीय सीमाएं एक ही होनी चाहिए। समय बीतने के साथ-साथ राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का यह विचार प्रबल होता गया तथा 1919 में वर्साय की सन्धि के समय अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी चौदह सूत्रीय योजना में इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया आदि राज्यों का निर्माण इसी आधार पर किया गया तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इण्डोनेशिया, हिन्दचीन, घाना, कांगो, मिस्र तथा साइप्रस आदि राष्ट्रों को इसी सिद्धान्त के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस सिद्धान्त के पक्ष में मुख्य रूप से निम्न तर्कों का प्रयोग किया जाता है।

(1) प्रतिनिध्यात्मक शासन की सफलता हेतु आवश्यक एक राष्ट्रीय राज्य

का सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक धारणा के अनुसार है। जब एक राष्ट्रीयता को स्वयं अपने भाग्य के निर्णय का अधिकार दिया जाता है तो स्वाभाविक रूप से इसका तात्पर्य जनता के शासन से ही होता है। एक देश के निवासियों में हितों की जितनी अधिक एकता पायी जाती है, प्रतिनिध्यात्मक शासन उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से कार्य कर सकता है तथा हितों की यह एकता एक राष्ट्रीय राज्य में ही सम्भव है। इसके अलावा प्रतिनिध्यात्मक शासन विचारों के आदान-प्रदान पर निर्भर करता है तथा जैसा कि मिल ने कहा है कि एक राष्ट्रीय राज्य में ही विचारों का यह आदान-प्रदान सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकता है न केवल मिल वरन् ब्राइस और मैकाइवर के द्वारा भी उसी प्रकार का विचार स्पष्ट किया गया है। ब्राइस के अनुसार आत्म निर्णय का सिद्धान्त उदारवाद तथा प्रजातन्त्र की प्राप्ति हेतु राष्ट्रीयताओं के संघर्ष का प्रतीक है तथा मैकाइवर के शब्दों में इसने आधुनिक प्रजातन्त्रों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

(2) उन्नति की दृष्टि से उन्नति की दृष्टि से एक राष्ट्रीय राज्य बहुराष्ट्रीय राज्य की अपेक्षा उपयुक्त होता है। एक राष्ट्रीय राज्य के सभी लोगों में सहयोग और सद्भावना होने के कारण इस प्रकार के राज्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से बहुत अधिक अच्छी तरह से उन्नति कर सकते हैं। वहीं दूसरी तरफ बहुराष्ट्रीय राज्यों में पारम्परिक मतभेद, ईर्ष्या, दुर्भावना और खींचातानी होती है, जिसके कारण सामूहिक प्रयत्न संभव नहीं होता है और उन्नति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। लिप्सन का कहना है, मातृभूमि का प्रेम लोगों में अच्छे कार्य करने की प्रेरणा भर देता है। ऐसा ही राष्ट्र राज्य मानवता की सेवा अच्छी प्रकार कर सकता है।

(3) स्वतन्त्रता का परिपत्र आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता का परिपत्र भी कहा जाता है। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त को अपनाने से उन सब राष्ट्रीयताओं की स्वतंत्रता संभव है, जो साम्राज्यवाद की जंजीरों से जकड़ी हुई है और इस प्रकार साम्राज्यवाद का आसानी से अंत हो जाएगा। राष्ट्रपति विल्सन द्वारा आत्मसमर्पण के सिद्धान्त का समर्थन इसी आधार पर किया गया था।

(4) पर्याप्त शक्तिशाली एक राष्ट्रीय राज्य में आन्तरिक मतभेदों का अभाव होने के कारण यह बहुत अच्छे प्रकार से संगठित होता है तथा संगठन में ही शक्ति निहित होने के कारण ऐसा देश बहुत अधिक बलशाली होता है। संकटकालीन परिस्थितियों में ऐसे देश के सभी नागरिक सफलतापूर्वक सक्रिय सेवा में लगाए जा सकते हैं तथा आसानी से इनका संयुक्त मोर्चा निर्मित हो सकता है। बहुराष्ट्रीय

राज्य इस प्रकार से शक्तिशाली नहीं हो सकते तथा एक ही राज्य में अनेक राष्ट्रीयताओं का सह-अस्तित्व हितों के एक-दूसरे विरोध को जन्म देता है।

(5) अल्पसंख्यकों की समस्या नहीं—एक राष्ट्रीय राज्य के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि ऐसे राज्य में अल्पसंख्यकों की कोई समस्या नहीं है। इस प्रकार राज्य अल्पसंख्यकों के व्यवहार से सम्बन्धित विकट समस्या से बच सकता है। इसके अलावा अल्पसंख्यकों के रूप में राज्य के नागरिकों का हित होना है, क्योंकि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को अपने अलग-अलग राज्य मिल जाते हैं तथा वे सफलतापूर्वक अपना विकास कर सकते हैं।

सिद्धान्त की अवहेलना

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त की आलोचना भी उतने ही उग्र रूप में हुई है, जितने शाश्वत रूप से इसका समर्थन किया गया है। इस सिद्धान्त की आलोचना लॉर्ड एक्टन बी. जोसेफ, जिमर्न और ब्लंटशली, इत्यादि द्वारा की गयी है, जिनमें लॉर्ड एक्टन सबसे मुख्य हैं। लॉर्ड एक्टन ने इस सिद्धान्त की कठिन शब्दों में आलोचना करते हुए कहा है, कोई परिवर्तन का सिद्धान्त या कोई सम्भव राजनीतिक कल्पना का रूप इस सिद्धान्त से ज्यादा विध्वंसकारी एवं प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकता है। यह प्रजातन्त्र का खण्डन है, क्योंकि यह सार्वजनिक इच्छा के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाता है। एक राज्य में कई राष्ट्रों का सह-अस्तित्व उसकी स्वतन्त्रता की कसौटी और उसकी सर्वोत्तम सुरक्षा है। यह सभ्यता का मुख्य साधन भी है।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विरोध में प्रमुख रूप से निम्न तर्कों का प्रयोग किया जाता है—

(1) एक राष्ट्रीय राज्य कम प्रगतिशील—यह भी कहा जाता है कि एक राज्य में एक ही राष्ट्रीयता होने पर एक राष्ट्रीय राज्य संकुचित घेरे में कैद रहेंगे और उनके द्वारा किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं की जा सकेगी। इस बात पर अनेक विचारकों ने बल दिया है कि बहुराष्ट्रीय राज्यों में अनेक राष्ट्रों का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक मेल होता है, जिससे एक-दूसरे की कमी पूरी हो जाती है। परंतु एक राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्पर्क न होने के कारण किसी प्रकार की तरक्की नहीं हो पाती। इस सम्बन्ध में लॉर्ड एक्टन ने स्पष्ट किया है कि एक राज्य में विभिन्न राष्ट्रों का योग सभ्य जीवन के लिए उतनी ही जरूरी अवस्था है जितनी कि समाज में मनुष्यों का

योग। जहां राजनीतिक तथा राष्ट्रीय सीमाएं एक हो जाती हैं, समाज की उन्नति अवरूद्ध हो जाती है तथा राष्ट्रों की अवस्था उन लोगों जैसी हो जाती है, जिन्होंने अपने सथियों का समर्थन त्याग दिया हो।

(2) बहुराष्ट्रीय राज्यों में भी उपयुक्त सभी लाभ सम्भव है—इस सिद्धान्त के विपरीत सबसे मुख्य तर्क यह है कि जिन लाभों को प्राप्त करने के लिए एक राष्ट्रीय राज्य के निर्माण का प्रस्ताव किया जाता है वे सभी लाभ बहुराष्ट्रीय राज्यों में भी प्राप्त हो सकते हैं। उदाहरण स्वरूप स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत रूस बहुराष्ट्रीय राज्य होते हुए भी उनमें एक राष्ट्रीय राज्य के ये सभी लाभ मौजूद हैं। गमप्लाविज का कहना है कि इस धारणा में ऐतिहासिक या समाज विज्ञान से संबंधित कोई औचित्य नहीं है, कि राष्ट्रीय राज्य अनेक राष्ट्रीयों द्वारा निर्मित राज्य से अधिक लाभ में रहते हैं।

आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि व्यावहारिक अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि बहुराष्ट्रीय राज्य एक राष्ट्रीय राज्य की अपेक्षा अधिक मजबूत होते हैं, और उनमें स्वतन्त्र संस्थाएँ अधिक अच्छे प्रकार से कार्य कर सकती हैं। ब्लंटशली का कथन है कि एक ही राज्य में अनेक राष्ट्रों का सह-अस्तित्व अन्य व्यक्तियों को सभ्यता के साथ आदान-प्रदान का अवसर देता है और इससे शक्ति एवं उच्च आदर्शों का आधार तैयार होता है।

(3) तानाशाही की स्थापना—ऐसा देखा गया है कि एक राष्ट्रीय राज्य में नस्ल की श्रेष्ठता और राष्ट्रीय अंह का भाव जाग्रत होने से तानाशाही की स्थापना संभव हो सकती है और इस प्रकार स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। जिमर्न का कहना है कि राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त हेनरी अष्टम या लूगर के राष्ट्रीय वर्ग का रूप धारण करेगा। कई राष्ट्रीय राज्यों में इस तरह की आशंका कम हो जाती है, क्योंकि एक राज्य के अन्तर्गत रहने वाले विभिन्न देश अपने सामूहिक व्यक्तित्व के प्रति सजग रहते हैं।

(4) संकुचित राष्ट्रीयता के विकसित होने की आशंका—यदि आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर राज्यों की स्थापना की जाए, तो सम्बन्धित राष्ट्रीयता में अंह और दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा का भाव पैदा हो जाएगा। यह संकुचित राष्ट्रीयता ही साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और विश्वयुद्ध को जन्म देती है। इस तरह की आशंका बहुत कम रहती है कि बहुराष्ट्रीय राज्यों में इस प्रकार की कुप्रवृत्तियाँ उत्पन्न हों। बहुराष्ट्रीय राज्यों में तो उदार अन्तर्राष्ट्रीय विचार और कार्यों को ही बल मिलेगा।

(5) सिद्धान्त का पालन व्यावहारिक और विश्वशान्ति के लिए अहितकर&राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप संसार के सबसे प्राचीन राज्य बिखर जाएंगे तथा छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो जाएगी। जैसा कि गार्नर ने इसका संकेत किया है, इसका अर्थ स्काटलैण्ड तथा वेल्स को ब्रिटेन से अलग करना, बेल्जियम को बैलूम तथा फ्लेमिश दो राज्यों में बांटना तथा स्विट्जरलैण्ड को तीन राज्यों में बांटना होगा।

इसके अलावा राष्ट्रीय मंच के अभिनेताओं में यह वृद्धि पारस्परिक विवादों तथा संघर्षों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि कर देगी। छोटे-छोटे राज्य अनेक राजनीतिक समस्याओं को जन्म देता है और इस प्रकार के राज्यों में एक-दूसरे से संघर्ष के अवसर भी अधिक होते हैं। ये छोटे-छोटे राज्य आर्थिक दृष्टि से भी बहुत कमजोर होंगे और अनेक नई समस्याएं खड़ी कर देंगे।

निष्कर्ष

आत्म-निर्माण सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष के उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को न तो सभी परिस्थितियों में अपनाया जा सकता है और न ही इसे पूर्ण रूप से अस्वीकार किया जा सकता है। यदि एक ओर अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित न होने के कारण बहुराष्ट्रीय राज्य श्रेष्ठ हैं तो दूसरी तरफ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की सम्पत्ति के लिए राष्ट्रीय राज्य का प्रतिपादन किया जाता है। इस सम्बन्ध में गार्नर ने विवेकपूर्ण मध्यम मार्ग ग्रहण करते हुए स्पष्ट किया है, जहां असन्तुष्ट राष्ट्रीय किसी राज्य की जनता का कम से कम एक बड़ा भाग हो, उसे अलग राजनीतिक संगठन का नैतिक अधिकार होना चाहिए। यद्यपि यह अधिकार ऐसा नहीं है जिसे स्वीकारात्मक अन्तर्राष्ट्रीय विधि से मान्यता प्राप्त हो। इसी प्रकार का नजरिया अपनाते हुए लसेन शान्ति सम्मेलन में लॉर्ड कर्जन का कहना था कि आत्म निर्णय का सिद्धान्त एक दुधारी तलवार है उसे कुछ सीमाओं के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है।

इस बारे में प्रो. हकिंग का दृष्टिकोण अधिक सही है। उसके अनुसार निम्न शर्तों को पूरा होने पर एक राष्ट्रीयता को अलग राज्य के निर्माण की संज्ञा दी जा सकती है—

1. उस राष्ट्रीय जाति को राज्य के रूप में संगठित किया जाना चाहिए, जिसके पास प्राकृतिक साधनों की अधिकता हो।

2. उस राष्ट्रीय जाति में अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करने की तथा अच्छे कानून लागू करने की क्षमता होनी चाहिए।
3. इसमें अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरा करने की क्षमता होनी चाहिए।
4. इसमें व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी ऋणों को चुकाने की क्षमता होनी चाहिए।
5. यह राष्ट्रीय जाति इतनी हो कि वह अपने राष्ट्रीय सम्मान को विदेशी आक्रमण में सुरक्षित रख सके।

राष्ट्रवाद&एक वरदान के रूप में

राष्ट्रवाद को यदि शुद्ध तथा सही अर्थों में समझा जाए तथा इसे संयमित रूप में ही अपनाया जाए तो यह निश्चित रूप से एक वरदान है तथा यह विश्व की अनेक समस्याओं के समाधान में बहुत अधिक सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकता है। इन्हीं कारणों से अनेक व्यक्तियों ने राष्ट्रवाद को उपासना की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। राष्ट्रवाद को निम्नलिखित बातों के आधार पर मनुष्य जाति के लिए एक वरदान की संज्ञा दी जाती है—

(1) राष्ट्रवाद एक संयोजक तत्व है&एक देश के अन्तर्गत भाषा, जाति और धर्म के अनेक प्रकार हो सकते हैं, परंतु इन भेदों के होते हुए भी राष्ट्रीयता के भाव के बदलती होने पर धर्म, जाति, भाषा और संस्कृति सम्बन्धी समस्त अंतर स्वतः ही महत्त्वहीन हो जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता विभिन्नताओं में एकता उत्पन्न करने का कार्य करती है। राष्ट्र शब्द एकता का ऐसा प्रतीक है कि उसके नाम पर व्यक्ति अपने दूसरे सभी भेद भूल जाते हैं। भारतीय राष्ट्रीयता ने ही देश में विभिन्नताओं में एकता उत्पन्न करने का कार्य किया है।

(2) राष्ट्रवाद देशभक्ति का प्रेरक है&राष्ट्रवाद का एक बहुत बड़ा गुण व्यक्ति में स्वयं के देश के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है। जब व्यक्ति अपने देश से प्रेम करने लगते हैं, तो वे हर सम्भव तरीके से देश की प्रगति की कोशिश करते हैं। राष्ट्रवाद की भावना से उत्पन्न भ्रातृत्व-भाव के आधार पर व्यक्ति अपने ही देश में रहने वाले व्यक्तियों के हित में कार्य करते हैं। देश के गौरव के लिए प्रत्येक व्यक्ति बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है तथा इस प्रकार राष्ट्रवाद स्वदेश प्रेम को जन्म देता है।

(3) राष्ट्रवाद साहित्य और संस्कृति का विकास करता है&राष्ट्रवाद

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विकास के प्रेरक तत्व के रूप में भी कार्य करता है। यूनान के नगर-राज्यों के साहित्य तथा संस्कृति के विकास में महाकवि होमर की राष्ट्रीय कविताओं ने बहुत ज्यादा योग दिया तथा फ्रांस के राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित होकर दांते तथा वाल्टेयर ने अपनी अमर कृतियों की रचना की। टैनिसन, स्टीफेन, स्पैण्डर, सर वाल्टर रेले, शैल तथा थामस पेस ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य की सेवा की। नये भारत में मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर और श्यामनारायण पाण्डेय आदि कवियों ने राष्ट्रवाद के विचार से प्रेरणा लेकर हिन्दी साहित्य की वृद्धि की है।

(4) राष्ट्रवाद उदारवाद को जन्म देता है—राष्ट्रवाद अपने वास्तविक रूप में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का एक ऐसा प्रकार है जो यह स्वीकार करता है कि एक राष्ट्र की जनता को अपनी राजनीतिक व्यवस्था तथा शासक चुनने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रवाद तानाशाही का अंत कर प्रजातन्त्र की स्थापना तथा मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा का एक प्रयास है। यूरोप के इतिहास का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि जिस राष्ट्र में राष्ट्रीयता की भावना मजबूत हो, वहां की जनता कभी भी विदेशी राज्य, निरंकुश व गैर जिम्मेदार शासन को सहन नहीं कर सकती है। ब्रिटेन अमरीका तथा स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में राष्ट्रवाद के कारण ही प्रजातन्त्र की जड़ें बहुत गहरी जमी हुई हैं।

(5) राष्ट्रवाद विभिन्नताओं की रक्षा करता है—जिस प्रकार एक उपवन का सौन्दर्य उसमें खिलने वाले विभिन्न फूलों से ही होता है, उसी प्रकार मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए एकता के साथ-साथ विभिन्नता की आवश्यकता पड़ती है। सोवियत रूस में छोटी-बड़ी लगभग एक सौ राष्ट्रीय जातियां निवास करती हैं। भारत में भी धर्म और जाति के आधार पर विभिन्न वर्ग हैं और प्रत्येक को अपने साहित्य और संस्कृति के विकास का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार राष्ट्रवाद विभिन्नताओं को नष्ट कर एकता उत्पन्न करने की बजाय विभिन्नताओं में ही एकता उत्पन्न करता है।

(6) राष्ट्रवाद राज्यों को स्थायी बनाता है—इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता ही राज्यों का स्थायी आधार बन सकती है। यूरोप के वाल्कन क्षेत्र में पिछले 200 वर्षों में अनेक बार भौगोलिक सीमा, जाति अथवा भाषा आदि के आधार पर राज्यों का निर्माण किया गया, परंतु ये राज्य स्थायी नहीं रह सके। अन्त में राष्ट्रीयता चेतना के आधार पर किया गया आधुनिक विभाजन ही अधिक स्थायी व

मजबूत दिखायी देता है। बर्गेस के अनुसार, राष्ट्रीयता राज्य, राजसत्ता और स्वाधीनता के सम्बन्ध की समस्या का समाधान उपस्थित करती है। इस कारण यह परम शक्तिशाली राजनीतिक संस्था होने के साथ-साथ सबसे अधिक स्थायी भी है।

(7) राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में सहायक—यद्यपि कुछ लोग राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद को एक-दूसरे के विरोधी रूप में चित्रित करते हैं, परंतु वास्तव में राष्ट्रवाद ही वह सीढ़ी है, जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रवाद के लक्ष्य को पाना संभव है। जिस प्रकार जब तक एक मनुष्य अपने घर वालों से प्रेम नहीं करता तब तक वह अपने पड़ोसियों से प्रेम नहीं कर सकता उसी प्रकार विश्व के सभी राष्ट्रों से प्रेम करने के लिए यह परमावश्यक है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र से प्रेम करना सीखे। राष्ट्रवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत बनाकर वसुधैव कुटुम्बकम् की प्रेरणा करने का कार्य करता है।

इस प्रकार राष्ट्रवाद को अपने विशुद्ध रूप में देश-प्रेम और विश्व-प्रेम का पर्यायवाची कहा जा सकता है।

राष्ट्रवाद&अभिशाप के रूप में

विशुद्ध देश-प्रेम कभी भी बुरा नहीं हो सकता, परन्तु राष्ट्रवाद या देशप्रेम की यह भावना व्यक्ति के भावनात्मक पक्ष से संबंध रखती है और व्यक्ति या अपने देश के प्रति यह प्रेम कभी-कभी इतना उग्र और संकीर्ण हो जाता है कि उसका दूसरे राज्यों के हितों पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में वरदान रूपी राष्ट्रवाद अभिशाप के रूप में बदल जाता है। राष्ट्रवाद के इसी रूप को दृष्टि में रखकर आलोचकों ने इस पर निम्न आरोप लगाये हैं—

(1) राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रतिकूल है:—राष्ट्रवाद के विचार का तार्किक परिणाम एक राष्ट्र एक राज्य सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रवाद के खिलाफ है। राष्ट्रवाद की भावना के कारण राज्यों का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को प्रगति रुक जाती है। राष्ट्रवाद के विचार के कारण ही विश्व सरकार सम्बन्धी कोई भी योजना सफल नहीं हो सकी है। प्रो. जोजफ का कहना है कि राष्ट्रवाद एक भयानक सिद्धान्त है और विश्व के विकास में एक मुख्य रुकावट है।

(2) राष्ट्रवाद शोषण तथा स्वार्थ साधन की ओर ले जाता है—राष्ट्रवाद की भावना प्रायः बहुत शीघ्र ही उग्र हो जाती है और इससे असहिष्णुता और अहंकार

को जन्म मिलता है। व्यक्ति अपने राष्ट्र को ही सब कुछ समझकर अन्य राष्ट्रों के मूल्य पर अपने स्वार्थ सिद्ध करने की कोशिश करने आते हैं। इसीलिए महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रवाद की भर्त्सना करते हुए इसे एक समूची जाति का संगठित स्वार्थ कहा है। उनके अनुसार आत्मपूजा स्वार्थी उद्देश्यों की संगठित शक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। हेज के कथानुसार भी राष्ट्रवाद जाति या राष्ट्र के सम्बन्ध में अभिमान और गर्व भरी एक मानसिक प्रवृत्ति है जिसमें अन्य राष्ट्रों के प्रति तुच्छता और विद्वेष के भाव रहते हैं।

(3) राष्ट्रवाद आत्मनिर्भरता के स्थान परस्पर आत्मनिर्भरता सिखाता है—‘आत्मनिर्भरता’ कुछ विशेष सन्दर्भों में एक अच्छा शब्द प्रतीत हो सकता है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की यह मांग है कि राष्ट्र आत्मनिर्भरता के स्थान पर परम्पर निर्भरता के मार्ग को स्वीकार करें। राष्ट्रवाद अहं और एकाकीपन का विचार उत्पन्न करती है तथा राष्ट्र को यह सिखाती है कि उसे अपने उपयोग की सभी वस्तुएं अपने ही यहां पर उत्पन्न करते हुए विदेशी माल का बहिष्कार करना चाहिए। कभी-कभी आत्मनिर्भरता की यह बात मूर्खता की सीमा तक पहुंच जाती है। विश्व के अनेक ऐसे राष्ट्र हैं, जहां पर्याप्त मात्रा में सभी जीवनोपयोगी वस्तुएं उपलब्ध नहीं होतीं, उन राष्ट्रों के सम्बन्ध में राष्ट्रों की यह मनोवृत्ति निःसन्देह न्यायपूर्ण नहीं है।

(4) राष्ट्रवाद सैन्यवाद और युद्ध को जन्म देता है—देश-प्रेम मूलरूप में कभी बुरा नहीं हो सकता, परन्तु जब यह प्रवृत्ति बहुत अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है तो इससे सैन्यवाद और युद्ध को बल मिलता है। इतिहास गवाह है कि इन्हीं भावनाओं के प्रचलन के कारण फ्रांस और जर्मनी के नागरिक एक-दूसरे को अपना शत्रु समझते रहे और सैकड़ों वर्षों तक इन दोनों के बीच युद्ध होते रहे। संकीर्ण राष्ट्रवाद सैन्यवाद की ओर प्रवृत्त करता है, जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध होता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध का एक प्रमुख कारण राष्ट्रवाद ही था।

(5) राष्ट्रवाद का परिणाम साम्राज्यवाद है—राष्ट्रवाद उग्र रूप ग्रहण कर लेने पर अपने नागरिकों को बहुत स्वार्थी और अन्धा देशभक्त बना देता है। उनमें मिथ्या अहंकार की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे मेरा देश सही हो या गलत मैं सदैव उसके लिए हूं का भाव स्वीकार कर लेते हैं। परिणामस्वरूप ये देश पिछड़े देशों के शोषण की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। सन् 1880 से 1914 तक का यूरोप इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से जागी हुई राष्ट्रीयता की भावना सम्पूर्ण यूरोप में इस तीव्रता के साथ गूंजी कि सभी देश अपने-अपने उपनिवेश स्थापना की

कोशिशों में लग गए।

इस प्रकार राष्ट्रवाद में सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा विनाश दोनों के ही बीज निहित हैं। इस बात से तो कोई भी इंकार नहीं करता कि अपने शुद्ध रूप में राष्ट्रवाद मानव जाति का सबसे बड़ा भिन्न है। परन्तु राष्ट्रवाद की यही भावना जब उग्र रूप ग्रहण कर लेती है, तो इससे विभिन्न राष्ट्र अपने स्वार्थ साधन के लिए शोषण के मार्ग की ओर प्रदत्त हो जाते हैं, जिनका अन्तिम परिणाम सैन्यवाद और युद्ध होता है। ऐसी दशा में आवश्यकता इस बात की है कि लोकप्रिय शिक्षा, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और अन्तर्राष्ट्रीय गमनागमन के द्वारा जातीय असहिष्णुता और राष्ट्रीयता के अहं को नष्ट कर राष्ट्रवाद को विशुद्ध रूप प्रदान किया जाए। ऐसा होने पर ही इस बात की आशा की जा सकती है कि राष्ट्रवाद मानव कल्याण की वृद्धि करेगा। हमारी कोशिश राष्ट्रवाद को विशुद्ध और परिष्कृत रूप प्रदान करना चाहिए, क्योंकि जैसा कि प्रो. हेज का कहना है, जब राष्ट्रवाद पवित्र देशभक्ति का पर्यायवाची बन जाता है उस समय यह संसार तथा मानव जाति के लिए एक असाधारण वरदान सिद्ध हो सकता है।

क्या राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद एक-दूसरे का विरोधी है?

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का पारस्परिक सम्बन्ध वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण समस्या है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो विरोधी धारणाएं प्रचलित हैं। प्रथम, सामान्यतया अधिक प्रचलित धारणा के अन्तर्गत राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद को एक-दूसरे का विरोधी कहा जाता है। इस श्रेणी के विचारकों का कहना है कि राष्ट्रवाद का तात्पर्य व्यक्ति का अपने देश के प्रति अनन्यपूर्ण प्रेम है, जबकि अन्तर्राष्ट्रवाद का मतलब यह है कि व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण मानवीय जगत का एक सदस्य समझकर सम्पूर्ण मानवीय जगत के प्रति आस्था बनाये रखे।

परन्तु उपयुक्त विचारधारा झूठी धारणाओं पर आधारित है। सच्चाई यह है कि राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद एक-दूसरे का विरोधी नहीं है। राष्ट्रवाद का अन्तर्राष्ट्रवाद से विरोध केवल उसी दशा में होता है, जबकि राष्ट्रवाद को बहुत अधिक संकुचित और उग्र रूप में ग्रहण किया जाता है। विशुद्ध या उदार राष्ट्रवाद जो कि राष्ट्रवाद का वास्तविक और उचित रूप है, अपने उपासक को देशभक्ति का संदेश तो देता है, परन्तु यह देशभक्त दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा, द्वेष और बैर की भावना में प्रेरित न होकर जीओ और जीने दो की विचारधारा पर आधारित होता है। शुद्ध राष्ट्रवाद

के इस भाव को व्यक्त करते हुए विलियम लायड गैरीसन कहते हैं, हमारा देश संसार है, हमारे देशवासी सारी मानवता हैं। हम अपने राष्ट्र को वैसे ही प्यार करते हैं जैसे हम अन्य देशों को प्यार करते हैं।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद का आशय यह नहीं है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा न रखे। अन्तर्राष्ट्रवाद राष्ट्रीय राजाओं के विलय या अन्त की मांग नहीं करता वरन् यह तो केवल यह चाहता है कि राष्ट्रीय हितों को मानवता के व्यापक हितों के साथ इस प्रकार से जोड़ा जाए कि सभी राष्ट्र समानता तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर एक शान्तिपूर्ण सुखी और समृद्ध जीवन बिता सकें। हेज का कहना है कि आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व का अर्थ सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले राष्ट्रों के एक विश्व से ही है।

इस प्रकार राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की भूमिका या उसका प्रथम चरण है। जोजफ के शब्दों में यह स्पष्ट कर सकते हैं कि राष्ट्रीयता व्यक्ति को मानवता से मिलाने वाली एक आवश्यक कड़ी है। महात्मा गांधी भी इसी प्रकार विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना सम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रवाद तब सम्भव हो सकता है, जब राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाए।

लेकिन इस बारे में यह स्मरणीय है कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रथम चरण के रूप में उसी समय कार्य कर सकता है जिस समय, राष्ट्रवाद को उग्र और संकुचित रूप में न अपनाकर उदार और विशुद्ध रूप में देशभक्ति और सम्पूर्ण मानवता के हितों के एकाकार के रूप में अपनाया जाए। उग्र राष्ट्रवाद जिसे बीसवीं सदी में हिटलर और मुसोलिनी द्वारा अपनाया गया, युद्ध का कारण और अन्तर्राष्ट्रीयता का नितान्त विरोधी होता है। इसलिए एक पंक्ति में कहा जा सकता है कि उदार या विशुद्ध राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रथम चरण, लेकिन उग्र राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का एकदम विरोधी होता है।

आज जरूरत इस बात की है कि सत्य और न्याय पर आधारित राष्ट्रवाद और देशभक्ति के विशुद्ध भाव को ही ग्रहण किया जाए। बीसवीं सदी के प्रबुद्ध मनीषी लॉस्की का कहना है, यूरोप का मानसिक जीवन सीजर तथा नेपोलियन का नहीं, ईसा का है, प्राचीन सभ्यता पर चंगेजखां और अकबर की अपेक्षा बुद्ध का प्रभाव कहीं अधिक गहरा और व्यापक है। असद् को सद् से अक्षमता का परिणाम भी उसी जैसा होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- डॉ. एस. सी. सिंहल, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- डॉ. एस. सी. सिंहल, पाश्चात् राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
- डॉ. इन्द्रजीत सिंह सेठी-पूजा शर्मा, पश्चिमी राजनैतिक चिन्तन, कल्पना बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स।
- अजय कुमार-इस्लाम अली, भारतीय राजनैतिक चिन्तन, प्रियसन एजुकेशन, दिल्ली।
- जान बाउले - हॉब्स ऐंड हिज क्रिटिक्स-ए स्टडी इन सेवेंटीथ सेंचुरी कांस्टिच्यूशनलिज्म, न्यूयार्क, 1952, ' टामस हॉब्स' मेकेनिकल कंपणन ऑव नेचर, लंदन, 1928,
- स्टुअर्ट एम0 ब्राउन-हॉब्स, द टेलर थीसिस' फिलासोफिकल रिव्यू, खंड 68, 1959,
- जॉन लेर्ड-हॉब्स, लंदन, 1934
- स्टर्लिंग पी. लैप्रेट: हाब्स ऐंड हॉबिज्मय रिचर्ड पीटर्स, हाब्स बाल्टीमोर, 1956,
- एम0 ओकशाट: लेवियाथन (इंट्रोडक्शन) आक्सफोर्डय
- एम ओकशाट: मॉरल लाईफ इन दि राईटिंग ऑव टॉमस हाब्स इन रेशनेलिज्म इन पॉलिटिक्स, लंदन, 1962

- लियोस्ट्रॉस—दि पोलिटिकल फिलासफी ऑव हॉब्स, इट्स वेसिस ऐंड इट्स जेनेसिस, आक्सफोर्ड 1936
- जी. एच. सैबाइरय ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थ्यूरी, तृतीय संस्करण, लंदन, 1963,
- होवर्ड वारंडरय दि पोलिटिकल फिलासफी ऑव हॉब्जय हिज थ्यूरी ऑव ऑब्लिगेशन, आक्सफोर्ड, 1957।
- बख्शी (ओम प्रकाश), अरस्तू का राजनीतिक चिन्तन (1979)
- वर्मा (विश्वनाथ प्रताप), पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास
- वरमानी (आर० सी०) समकालीन राजनीतिक सिद्धांत एवं चिन्तन (2005)
- शर्मा (प्रभुदत्त), पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स)
- शर्मा, भोलानाथ, अरस्तू की राजनीति
- सिंक्लेयर (टी०एन०), यूनानी राजनीतिक विचारधारा
- सेबाइन (जार्ज एच०), राजनीति दर्शन का इतिहास (1982)
- कोकर (एफ०डब्ल्यू), आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
- मिलीबैंड (रैल्फ), मार्क्सवाद और राजनीति (1981)
- वर्मा (विश्वनाथ प्रताप), पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास
- शर्मा (प्रभुदत्त), पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो का मार्क्स)
- सेबाइन (जार्ज एच०), राजनीतिक दर्शन का इतिहास (1982)
- स्तेपानोवा (ई०), कार्ल मार्क्स की जीवनी (1958)
- Augustine, Saint (1974). Vernon Joseph Bourke. ed. The Essential Augustine (2nd ed.). Indianapolis: Hackett.
- Ayres, Lewis (2010). Augustine and the Trinity. Cambridge: Cambridge University Press. ISBN 978-0-521-83886-3.
- Bourke, Vernon Joseph (1945). Augustine's Quest of Wisdom. Milwaukee: Bruce.
- Bourke, Vernon Joseph (1984). Wisdom From St. Augustine. Houston: Center for Thomistic Studies.
- Bruell, C. (1994). "On Plato's Political Philosophy", Review of Politics, 56: 261-82.
- Bruell, C. (1999). On the Socratic Education: An Introduction to the Shorter Platonic Dialogues, Lanham, MD: Rowman and Littlefield.
- Clark, Mary T. (1994). Augustine. Geoffrey Chapman. ISBN 9780225666816.

- Deane, Herbert A. (1963). The Political and Social Ideas of St. Augustine. New York: Columbia University Press.
- Doull, James A. (1979). "Augustinian Trinitarianism and Existential Theology". *Dionysius III*: 111-159.
- Doull, James A. (1988). "What is Augustinian "Sapientia"?". *Dionysius XII*: 61-67.
- Egan, K. The educated mind : how cognitive tools shape our understanding. (1997) University of Chicago Press, Chicago. ISBN 0-226-19036-6p. 137-144
- Ferguson, Everett, Christianity in relation to Jews, Greeks, and Romans, Taylor & Francis (1999), ISBN 0815330693
- Fitzgerald, Allan D., O.S.A., General Editor (1999). Augustine through the Ages: An Encyclopedia. Grand Rapids: William B. Eerdmans Publishing Co.. ISBN 0-8028-3843-X.
- Gilson, Etienne (1960). The Christian Philosophy of St. Augustine. L. E. M. Lynch, trans. New York: Random House.
- Grube, G.M.A.(2002). "Plato, Five Dialogues". Hackett Publishing Company, Inc.
- Guthrie, W.K.C. (1986). A History of Greek Philosophy: Volume 4, Plato: The Man and His Dialogues: Earlier Period. Cambridge University Press. ISBN 0-521-31101-2.
- Hanson, V.D. (2001). "Socrates Dies at Delium, 424 B.C.", What If? 2, Robert Cowley, editor, G.P. Putnam's Sons, NY.
- Kahn, Charles H. (2004). "The Framework". Plato and the socratic dialogue: The Philosophical Use of a Literary Form. Cambridge University Press. ISBN 0-521-64830-0.
- Lawless, George P. (1987). Augustine of Hippo and His Monastic Rule. Oxford: Clarendon Press.
- Levinson, Paul (2007). The Plot to Save Socrates. New York: Tor Books. ISBN 0765311976.
- Lubin, Augustino (1659). *Orbis Augustinianus sive conventuum ordinis eremitarum Sancti Augustini - chorographica et topographica descriptio*. Paris.
- Luce, J.V. (1992). An Introduction to Greek Philosophy, Thames & Hudson, NY.
- Robinson, R (1953). Plato's Earlier Dialectic. Oxford: Clarendon Press.

ISBN 9780198247777. Ch. 2: "Elenchus", Ch. 3: "Elenchus: Direct and Indirect"

- Ruickbie, Leo (2004). *Witchcraft out of the Shadows*. London: Robert Hale. pp. 57-8. ISBN 0709075677.
- Tanquerey, Adolphe (2001). *The Spiritual Life: A Treatise on Ascetical and Mystical Theology*. Rockford, IL: Tan Books & Publishers. pp. 37). ISBN 0895556596.
- Tarán, Leonardo (2001). *Collected Papers 1962-1999*. Brill Academic Publishers. ISBN 9-004-12304-0..
- Taylor, Alfred Edward (2001). *Plato: The Man and his Work*. Courier Dover Publications. ISBN 0-486-41605-4.
- Taylor, C.C.W. (2001). *Socrates: A very short introduction*. Oxford: Oxford University Press.
- Taylor, C.C.W. , Hare, R.M. & Barnes, J. (1998). *Greek Philosophers - Socrates, Plato, and Aristotle*, Oxford University Press, NY.
- Weiskotten, Herbert T. (2008). *The Life of Saint Augustine: A Translation of the Sancti Augustini Vita by Possidius, Bishop of Calama*. Merchantville, NJ: Evolution Publishing. ISBN 1-889-75890-6.
- Wilamowitz-Moellendorff, Ulrich von (2005 (first edition 1917)). *Plato: his Life and Work* (translated in Greek by Xenophon Armyros). Kaktos. ISBN 960-382-664-2.
- Zumkeller O.S.A., Adolar (1986). *Augustine's Ideal of the Religious Life*. New York: Fordham University Press. ISBN 0823211053.
- Zumkeller O.S.A., Adolar (1987). *Augustine's Rule*. Villanova: Augustinian Press. ISBN 0941491064.